प्रकाशकीय

ग्रंथाधिराज श्री समयसार-प्रवचनका द्वितीय भाग पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे बहुत ही हर्ष हो रहा है। यह ग्रन्थाधिराज मोक्षमार्गकी प्रथम सीढ़ी है, इसके द्वारा तत्त्वलाभ करके अनेक भव्यात्मा मोक्षमार्गको प्राप्त कर चुके हैं. और आगामी भी प्राप्त करेंगे। अनेक आत्माओंको मोक्षमार्गमें लगानेके मूल कारणभूत इस ग्रन्थराजकी विस्तृत व्याख्याका प्रकाशन करनेका सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ है यह मेरे बड़े सौभाग्यकी बात है।

इस ग्रन्थराजके विषयमें कुछ भी कहना सूर्यको दीपक दिखानेके समान है। इस समयसारके स्मरण मात्रसे ही मुमुक्षु जीवोंके हृदय-रूपी वीणाके तार आनन्दसे झनझनाने लगते हैं। इसका विस्तृत परिचय प्रस्तावनामें दिया हुआ है, इसलिये यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि द्वादशांगका निचोड़-स्वरूप मोक्षमार्गका प्रयोजनभूत तत्त्व इस समयसारमें कूट-कूटकर भरा गया है, एवं यह ग्रन्थराज भगवानकी साक्षात् दिव्यध्वनिसे सीधा संबन्धित होनेके कारण अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवका हमारे ऊपर महान उपकार है कि जिन्होंने महाविदेह क्षेत्र पधारकर १००८ श्री सीमन्धर भगवानके पादमूलमें आठ दिवस तक रहकर भगवानकी दिव्यध्वनिरूप अमृतका पेट भरकर साक्षात् पान किया; और भरतक्षेत्र पधारकर हम भव्य जीवोंके लिये उस अमृतको श्री समयसार, श्री प्रवचनसार, श्री पञ्चास्ति-काय, श्री नियमसार, श्री अष्टपाहुड़ आदि ग्रन्थोंके रूपसे परोसा, जिसका पान कर अनेक जीव मोक्षमार्गमें लग रहे हैं एवम् भविष्यमें भी लगेंगे।

इसीप्रकार समयसारके अत्यन्त गंभीर एवम् गूढ़ रहस्योंका प्रकाशन करने वाले श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने भी भगवानके गणधर (जो ॐकाररूप ध्वनिको द्वादशांगरूपमें विस्तृत कर देते हैं)के समान इस ग्रन्थके गंभीर रहस्योंको खोलनेका कार्य किया है, इसलिये उनका भी हमारे ऊपर उतना ही महान् उपकार है।

लेकिन आज क्षयोपशम एवम् रुचिकी मंदताके कारण हम लोग उस टीकाको भी यथार्थरूपमें नहीं समझ पाते और अपनी बुद्धि एवम् रुचि अनुसार यद्वातद्वा अर्थ लगाकर तत्त्वकी जगह अतत्त्व प्राप्त करके मिथ्यात्वको और भी दृढ़ करते जाते हैं। ऐसी अवस्था देखकर कितने ही हीन पुरुषार्थी समयसारके अभ्यासका ही निषेध कर बैठते हैं। ऐसे समयमें हमारे सद्भाग्यसे समयसारके मर्मज्ञ एवम् अनुभवी सत्पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामीके सत् समागमका महान लाभ हम मुमुक्षुओंको प्राप्त हुआ। जैसे रुई धुननेवाला धुनिया रुईके बँधे पिंडको धुन-धुनाकर एक-एक तार अलग-अलग करके विस्तृत कर देता है उसीप्रकार आपने भी समयसारके एवम् उसकी टीकाके गंभीरसे गंभीर एवम् गूढ़ रहस्योंको इतनी सरल एवम् सादी भाषामें खोल-खोलकर समझाया है कि साधारण बुद्धिवाला भी, इसको यथार्थ रुचिके साथ ग्रहण कर लेनेसे, अनन्तकालमें नहीं प्राप्त किया ऐसे मोक्षमार्गको सहज ही प्राप्त कर सकता है। इसलिये हम मन्द बुद्धि वाले जीवों पर तो श्री कानजी महाराजका महान् २ उपकार है, क्योंकि यदि आपने इतना सरल करके इस ग्रन्थराजको नहीं समझाया होता तो हमको मोक्षमार्गकी प्राप्ति कैसे होती? इसलिये हमारे पास आपके उपकारका वर्णन करनेके लिये कोई शब्द ही नहीं है। मात्र श्रद्धाके साथ आपको प्रमाण करते हैं।

भगवान महावीर स्वामीके समयमें दिव्यध्वनि द्वारा संक्षेपमें ही मोक्षमार्गका प्रकाशन होता था और उसीसे पात्र जीव अपना कल्याण कर लेते थे। उसके बाद धीरे-धीरे जीवोंकी रुचि, आयु, बल और

क्षयोपशम क्षीण होता गया तो भगवानका निर्वाण होनेके करीब पांच सौ वर्ष बाद ही मोक्षमार्गके मूल प्रयोजनभूत तत्त्वका श्री कुन्दकुन्ददेव द्वारा ग्रन्थरूपमें संकलन हुआ, उसके बाद और भी क्षीणता बढ़ी तो उनके एक हजार वर्ष बाद श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव द्वारा उनकी और भी विस्तृत एवम् सरल व्याख्या होगई और जब अधिक क्षीणता बढ़ी तो उनके एक हजार वर्ष बाद इस पर और भी विस्तृत एवम् सरल व्याख्या श्री कानजीस्वामी द्वारा हो रही है। यह सब इस बातके द्योतक हैं कि यथार्थ जिनेन्द्र भगवानका मार्ग कालके अन्त तक अक्षुण्ण बना ही रहेगा और उसके पालन करने वाले सच्चे धर्मात्मा भी अन्त तक अवश्य ही रहेंगे।

पूज्य कानजीस्वामी द्वारा समयसार पर प्रवचन कब, कहाँ और कैसे हुए तथा उनकी सङ्कलना किसप्रकार किसके द्वारा और क्यों की गई, यह सब प्रस्तावनामें खुलासा किया गया है।

इसके अनुवादक श्रीमान् पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ धन्यवादके पात्र हैं जिन्होंने अति उत्साहसे यह अनुवाद-कार्य किया।

अन्तमें पूज्य उपकारी गुरु श्री कानजीस्वामीको मेरा अत्यन्त भक्तिसे नमस्कार है कि जिनके द्वारा मुझको अनादि संसारको नष्ट कर देने वाले सत्धर्मकी प्राप्ति हुई।

कार्तिक शुक्ला १
वीर नि० सं २४७६

भवदीय—
नेमीचन्द पाटनी, आगरा

इस आवृत्तिका निवेदन

श्री समयसार शास्त्र पर पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी द्वारा दिये गये प्रवचनोंसे अनेक मुमुक्षुओंको इस अध्यात्मशास्त्रका सूक्ष्म रहस्य सरलतापूर्वक समझनेमें तथा आत्मप्रतीति करनेमें बहुत सहायता मिली है। इसकी प्रथमावृत्ति करीब २२ वर्ष पहले श्री पाटनी ग्रन्थमाला, मारोठ (राज०) द्वारा प्रकाशित हुई थी; इस बीच इसकी खूब माँग बनी रही। अब इसकी द्वितीयावृत्ति संशोधन सहित प्रकाशित करते हुए हमें हर्ष होता है।

ब्र. श्री गुलाबचन्दजी, सोनगढने जिनवाणीकी भक्तिवश यह प्रवचन गुजराती भाषामें लिख लिये थे; जो समयसार-प्रवचन भाग-१ और भाग-२ के रूपमें गुजराती भाषामें प्रकाशित हुए और फिर उन्हीं प्रवचनोंका हिन्दी अनुवाद श्री पं. परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थने बड़े ही परिश्रमसे लगनपूर्वक किया जो दो भागोंमें प्रकाशित हुए हैं। उपरोक्त दोनों महानुभावोंके हम अत्यन्त आभारी हैं। अजित मुद्रणालयके संचालक श्री मगनलाल जैनने इस आवृत्तिका मुद्रणकार्य बड़ी सावधानीपूर्वक किया है अतः उनका भी हम आभार मानते हैं।

इसे पढ़कर मुमुक्षुजन सर्वज्ञ वीतराग द्वारा प्ररूपित यथार्थ वस्तु-स्वरूपको समझकर आत्मसाधनामें तत्पर हों—ऐसी भावना है।

वीर नि० संवत् २४९८
मगसिर कृष्णा-१०

—साहित्य प्रकाशन समिति
श्री दि० जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ (सौराष्ट्र)

अनुक्रमणिका

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवकी

—: स्तुति :—

जासके मुखारविन्दतैं प्रकाश भासवृन्द,

स्यादवाद जैन वैन इन्दु कुन्दकुन्दसे ।

तासके अभ्यासतैं विकास भेदज्ञान होत,

मूढ़ सो लखै नहीं कुबुद्धि कुन्दकुन्दसे ॥

देत हैं अशीस सीश नाय इन्दु चन्द जाहि,

मोह-मारखंड मारतंड कुन्दकुन्दसे ।

विशुद्धि-बुद्धि-वृद्धिदा प्रसिद्धि-ऋद्धि-सिद्धिदा,

हुए न हैं न होंहिंगे मुनिंद कुन्दकुन्दसे ॥

ॐ

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत
श्री समयसार शास्त्र पर

परम पूज्य श्री कानजी स्वामीके प्रवचन

गाथा १३ से प्रारम्भ

भूमिका

यथार्थ नवतत्त्वोंके विकल्पसे छूटकर निर्मल एकस्वभावताको शुद्धनयसे जानना सो निश्चयसम्यक्त्व है, यह बात तेरहवीं गाथामें कही जायेगी।

धर्म—आत्माका निर्मल स्वभाव—आत्मामें ही स्वाधीनरूपसे है, वह न तो बाहरसे आता है और न बाहरकी सहायतासे आता है; किसी भी परसे या शुभविकल्पकी सहायतासे आत्माका अविकारी धर्म प्रगट नहीं होता। अज्ञानी जीव पर-संयोगाधीन विकारी अवस्थाका कर्ता होकर अपनेको देहादिक तथा रागादिकरूपसे परकी क्रिया करने वालेके रूपमें मानता है, किन्तु परमार्थसे आत्मा सर्वसे भिन्न है, प्रतिसमय अनादि-अनंत पूर्ण है और स्वतंत्र है।

आत्मामें अनंत गुण भरे हुए हैं, उसकी यथार्थ प्रतीति करके, विकारी भावोंका त्याग करके निर्मल निराकुल ज्ञानानंद स्वभावको प्रगट करनेको कहा है। जो हो सकता है वही कहा जाता है। आत्मा बाहरका कुछ नहीं कर सकता इसलिये वह नहीं कहा गया है। आत्मा अपनेमें ही अनंत पुरुषार्थ कर सकता है, बाह्यमें कुछ नहीं कर सकता।

जो कोई आत्मा अपना भला (कल्याण) करना चाहता है वह यदि स्वाश्रित हो तभी कर सकता है। यदि बाहरसे लेना पड़े तो पराधीन कहलाता है। आत्माका धर्म स्वाधीन अपनेमें ही है।

संयोग है उसमें भी धर्म नहीं है। परन्तु आत्माके लिये आकाशमें भी सहायक नहीं है। आत्माके स्वाधीन गुणोंको कोई ले नहीं गया है इसलिये कोई दे भी नहीं सकता। पुण्य-पापका संयोग और पुण्य-पापके शुभाशुभ विकारी भावोंसे अविकारी आत्मधर्म प्रगट होगा इसप्रकार जो मानता है उसे आत्माके स्वतंत्र गुणकी श्रद्धा नहीं है; वह अपने को परमुखापेक्षी और निरंतर पराधीन मानता है।

आत्मामें शक्तिरूपसे समस्त गुण प्रतिसमय परिपूर्ण हैं, किन्तु मान्यतामें अंतर होजाने से बाह्यदृष्टिके द्वारा दूसरेसे गुण-लाभ मानता है। अन्य पदार्थोंमें अच्छाई-बुराई मानना ही मान्यताका अंतर है। जो यह मानता है कि भीतर गुण विद्यमान नहीं हैं उसका अनंत संसार विद्यमान है, और जो यह मानता है कि अंतरंगमें समस्त गुण विद्यमान हैं उसकी दृष्टि भीतरकी ओर जाती है तब वहाँ एकाग्रता होती है अर्थात् गुणकी अवस्था निर्मल हुआ करती है और अवगुणकी अवस्थाका नाश होता जाता है।

जो पूर्ण निर्मलस्वरूप आत्माकी प्रतीतिके बिना, परसे धर्म मानता है और देव, गुरु, शास्त्रसे धर्म मानता है तथा शरीर रुपया-पैसा इत्यादि जड़ पदार्थोंसे धर्म मानता है उसकी मान्यता विपरीत है, जिसमें कौआ कुत्ता नारकी इत्यादिके अनंत भव विद्यमान हैं।

परमार्थदृष्टिके द्वारा यथार्थ सम्यक्दर्शनको प्राप्त करना ही वास्तविक कर्तव्य है। वह सम्यग्दर्शनका वास्तविक स्वरूप कहलाता है। वह परम अद्भुत, अलौकिक, अचिंत्य है। यह ऐसा स्वरूप है कि जिसे लोगोंने अनन्तकालमें न तो माना है, न जाना है और न अनुभव ही किया है। उसका रहस्य श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवको सर्वज्ञ परमात्माके निकटसे प्राप्त हुआ था और उन्होंने उसका स्वयं अनुभव किया था जोकि यहाँ तेरहवीं गाथामें कहते हैं।

जिसे अंतरंग स्वभावके गुणोंकी प्रतीति नहीं जमती, और जो यह मानता है कि बाह्यमें कुछ करूँ तो गुण-लाभ हो; मन, वाणी, देह

तथा इन्द्रियोंसे और देव, गुरु, शास्त्र आदि संयोगी परवस्तुसे आत्मस्वभाव प्रगट होता है वह जीव-अजीवको एक मानता है। उसे असंयोगी स्वाधीन आत्मस्वरूपकी श्रद्धा नहीं है। जैसे सिद्ध भगवान देहादि संयोगसे रहित अनंत गुणोंसे अपने पूर्ण स्वभावरूप हैं वैसे ही प्रत्येक जीव सदा परमार्थसे अनंतगुणोंसे परिपूर्ण है, स्वतंत्र है। एकेन्द्रियमें अथवा निगोददशामें भी स्वभावसे तो पूर्ण प्रभु ही है।

मैं अंतरंगके अनन्तगुणोंसे परिपूर्ण हूँ, असंयोगी हूँ, अविनाशी हूँ, स्वतंत्र हूँ और परसे भिन्न हूँ इसप्रकार स्वभावको भूलकर जो यह मानता है कि मैं दूसरेसे संतुष्ट होऊं, दूसरेको संतुष्ट करूं और किसीकी कृपासे लाभ हो जाये,—इसप्रकार दूसरोंसे गुण-लाभ मानता है उसे यह खबर ही नहीं है कि स्वतंत्र आत्मा क्या है; धर्मकी प्रारंभिक इकाई (सम्यग्दर्शन) क्या है। जो यह मानता है कि पुण्य-पापके विकारी भाव अथवा मन, वाणी या देहकी सहायता-से निजको गुण-लाभ होता है वह अनित्य संयोगमें शरण मानता है। किसीका आधार माननेका अर्थ यह है कि अपनेमें निजकी कोई शक्ति नहीं है. यह विपरीत मान्यता ही अनंत संसारमें परिभ्रमण करनेका बीज है।

जैसे पूर्ण गुण सर्वज्ञ वीतराग परमात्मामें हैं वैसे ही पूर्ण गुण मुझमें भी हैं, ऐसी श्रद्धाके बलसे मलिनताका नाश और निर्मलताकी उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त यदि कोई दूसरा उपाय बताये तो वह निरा पाखंड है, संसारमें परिभ्रमण करनेका उपाय है।

निर्मल स्वभावकी प्रतीति करनेके बाद सम्यग्ज्ञानके द्वारा वर्तमान विकारी अवस्था और संयोगका निमित्त इत्यादि जैसा है वैसा ही जानता है. किन्तु यदि उसके कर्तृत्वको या स्वामित्वको माने अथवा शुभरागको सहायक माने तो वह ज्ञान सच्चा ज्ञान नहीं है। मैं शुद्धनयसे एकरूप पूर्ण ध्रुवस्वभावी हूँ, ऐसी प्रतीति किये बिना सम्यक्

ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्रगट नहीं होता क्योंकि दृष्टिकी भूलसे ज्ञानकी और चारित्रकी भूल अनादिकालसे चली आरही है।

सच्चे नवतत्त्वके विचाररूप विकल्प शुभभाव हैं, उन्हें यथावत् जानना सो व्यवहार है, किन्तु वह अविकारी एकरूप स्वभावके लिये सहायक नहीं हैं। मैं निरावलम्बी एकरूप पूर्ण हूँ, ऐसी यथार्थ श्रद्धाका बल हो तो सच्चे नवतत्त्वोंके शुभभावके व्यवहारको निमित्त कहा जाता है, किन्तु यदि मात्र शुभभावकी श्रद्धारूप नवतत्त्वमें रत हो तो व्यवहारनयाभास कहलाता है।

जगतकी मिठास, धन, मकान, पुत्र, प्रतिष्ठा आदि तथा रोग, अप्रतिष्ठा आदि पुण्य-पापके संयोगोंमें आत्माका किंचित्मात्र हित नहीं है। वह सब जोंकके समान है। अशुद्ध विकारयुक्त रक्तको पीकर जोंक मोटी दिखाई देती है किन्तु वह कुछ समय पश्चात् मर जाती है, उसीप्रकार पुण्य–पापके संयोगसे माना हुआ बड़प्पन क्षण-भरमें नष्ट होजाता है। उससे किंचित्मात्र शोभा मानना भगवान चिदानन्द आत्माके लिये लज्जा की बात है।

जो अविनाशी हित प्रगट करना है वह यदि शक्तिरूपसे स्वभावमें ही न हो तो प्रगट नहीं होसकता। निमित्ताधीन दृष्टिने अड्डा जमाया है इसलिये अज्ञानी यह मानता है कि मुझे कोई दूसरा सुख दे देगा। इसप्रकारकी विपरीत श्रद्धा ही संसार है, बाहरमें संसार नहीं है।

आत्मा पूर्ण परमात्माके समान ही है, उसमें कोई परवस्तु अथवा राग-द्वेष घुस नहीं गये हैं। शुभाशुभ विकाररूप भूल स्वभावमें नहीं है, किन्तु परवस्तुके विपरीत मान्यताके पुरुषार्थसे उत्पन्न हुई क्षणिक विकारी अवस्था है। भूलरहित त्रिकाल अखंड स्वभावके लक्ष्यसे एक समयकी अनादिकालीन भूलको दूर करनेकी शक्ति प्रतिसमय [illegible] है।

अब [illegible] स्वरूपकी गाथा कहते हैं:–

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ १३ ॥

भूतार्थेनाभिगता जीवाजीवौ च पुण्यपापं च ।
आस्रवसंवरनिर्जरा बंधो मोक्षश्च सम्यक्त्वम् ॥ १३ ॥

अर्थः—भूतार्थनयके द्वारा जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष (यह नवतत्त्व) सम्यक्त्व हैं।

यहाँ सम्यक्त्वकी चर्चा होरही है। श्रावकके व्रत और मुनित्व सम्यक्त्वके बाद ही होते हैं। निश्चय परमार्थरूप सम्यक्त्वके बिना जितने भी क्रियाकांड, व्रत, तप इत्यादि किये जाते हैं वे सब बालव्रत और बालतप हैं, ऐसा श्री सर्वज्ञ भगवानने कहा है। शुभभाव भी विकारी (आस्रव) भाव हैं, उनसे आत्माको कोई लाभ नहीं होता। ज्ञानीको भी महाव्रतादिके शुभभावसे लाभ नहीं होता, किन्तु अविकारी अखंड स्वभावके लक्ष्यसे जितनी स्थिरता प्रगट होती है उतना लाभ होता है। जबतक सम्पूर्ण राग दूर नहीं हो जाता, वीतराग नहीं हो जाता तबतक अशुभमें न जानेके लिये व्रतादिके शुभभाव हुए बिना नहीं रहते, किन्तु ज्ञानी उन्हें अपने स्वभावका नहीं मानते। जो शुभभावसे लाभ मानते हैं उन्हें स्वतंत्र स्वभावके गुणकी श्रद्धा नहीं है।

प्रश्नः—आत्माके गुणोंकी फसल कहाँसे बढ़ती है ?

उत्तरः—स्वभावाश्रित सम्यग्दर्शनरूपी बीजसे, और सम्यग्दर्शनके द्वारा की गई अखण्ड स्वलक्ष्यकी स्थिरतासे। किन्तु स्मरण रहे कि शुभभावसे अथवा किसी भी विकारसे अविकारी आत्माको कदापि गुण-लाभ नहीं होता। गुण तो स्वभावमें ही विद्यमान हैं। गुण प्रगट नहीं होते किन्तु गुणकी पर्याय प्रगट होती है, उसे व्यवहारसे यह कहा जाता है कि—'गुण प्रगट हुए हैं'।

मात्र नवतत्त्वोंके विचारमें लगा रहे तो उसे पुण्य होता है, किन्तु अनंतगुणस्वरूप द्रव्यकी श्रद्धा नहीं होती। अज्ञानी जीव यह मानता है कि नवतत्त्वोंका विचार करते-करते भीतर गुण प्रगट होजायेंगे, किन्तु शुभभावोंके द्वारा आत्माका स्वभाव त्रिकालमें भी प्रगट नहीं हो सकता। जो सत् है वह सत्‌रूपसे ही रहेगा, त्रिकालमें भी सत्-में असत्‌पना नहीं आसकता। नवतत्त्वोंको रागके भेदोंसे रहित भूतार्थके द्वारा (स्वभावकी अंतरंग निर्मल दृष्टिसे) जानना सो सम्यक्त्व है, इसप्रकार सर्वज्ञोंने कहा है।

यदि कोई ठीकरोंका संग्रह करके उन्हें रुपया माने तो वह अज्ञानी है, उसीप्रकार जो यथार्थ वस्तुको न जानकर उससे विपरीत मार्गमें बाह्यमें अपने माने हुए कार्यसे संतोष माने तो वह अज्ञानी है। यदि कोई व्यवहारिक नवतत्त्वोंकी श्रद्धासे अथवा उनके विकल्पसे, पुण्यसे या देहादिक जड़की क्रियासे या शुभरागके आचरणसे धर्म माने तो वह अपनी ऐसी विपरीत धारणाके बनानेमें स्वतंत्र है किन्तु सर्वज्ञ वीतरागके अंतरंग मार्गमें वह विपरीत धारणा कार्यकारी नहीं होगी, अर्थात् उस विपरीत धारणासे कदापि धर्म नहीं होगा। शुभाशुभ भाव मोक्षमार्ग नहीं किन्तु बंधनमार्ग है, संसारमें परिभ्रमण करनेका मार्ग है; भगवानने रागरहित दर्शन-ज्ञान-चारित्रको सद्भूत व्यवहार-मोक्षमार्ग कहा है।

आत्माके अभेद परमार्थ स्वरूपको समझानेके लिये पहले निमित्त-रूपसे तीर्थकी (व्यवहारधर्मकी) प्रवृत्तिके लिये अभूतार्थ (व्यवहार) नयसे नवतत्त्वोंके भेद किये जाते हैं कि जो इन्हें जानता है सो आत्मा है और जो नहीं जानता सो अचेतन-अजीव है। कर्मके निमि-त्ताधीन जो शुभाशुभभाव होते हैं सो पुण्य-पापके विकारी भाव हैं इसलिये वे आस्रव हैं, और उनमें युक्त होनेसे बंध होता है। आत्माको पहिचानकर स्थिर होनेसे संवर निर्जरारूप अवस्था होती है, तथा

स्वभावमें पूर्णरूपसे स्थिर होनेसे मोक्षरूप पूर्ण निर्मलदशा प्रगट होती है।

इसप्रकार नवतत्त्वोंकी परिभाषाको जाने विना परमार्थको नहीं जाना जासकता, इसलिये तीर्थकी प्रवृत्तिके लिये अनेक प्रकारके अभूतार्थ भेदोंसे भूतार्थ एकरूप आत्माको कहते हैं। वास्तवमें तो उससे धर्म नहीं होता तथापि उसकी उपस्थिति होती है। जब श्रद्धामें उसका अभाव करे और नव प्रकारके विकल्पोंको छोड़कर एकरूप अखण्ड स्वभावका लक्ष करे तब नवतत्त्वका व्यवहार निमित्त कहलाता है, वह अभावरूपसे निमित्त है।

पहले यथार्थ नवतत्त्वोंके समझनेमें (गुरु आदिक तो निमित्त हैं) एकत्वको पगट करने वाला शुद्धनय ही है। यदि स्वभावोन्मुख न हो और मात्र देव, गुरु, शास्त्र तथा नवतत्त्वोंके शुभरागमें अटक जाय तो वह पुण्य है।

सच्चे नवतत्त्वोंकी पहिचानमें देव, गुरु, शास्त्रकी पहिचान आजाती है। उसका स्वरूप संक्षेपमें कहा है:—

जीव तत्त्वः—राग-द्वेष, अज्ञानरहित असंयोगी शुद्ध आत्माको मानना सो निश्चयश्रद्धा है।

अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध इन पांच तत्त्वोंको आत्माके स्वभावमें नास्तिरूप मानना, वे हेयरूप हैं ऐसी श्रद्धा करना; कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र आस्रव और बंधके कारणभूत होने से हेयरूप तत्त्व हैं, उनकी भी हेयरूप श्रद्धा इन पांच तत्त्वोंमें आजाती है।

संवर निर्जराः-वह निर्मल दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप मोक्षमार्ग है, साधकभाव है। आचार्य, उपाध्याय, साधुरूपमें जो श्रीगुरु हैं उनका स्वरूप संवर-निर्जरामें आजाता है।

मोक्षः—पूर्ण निर्मल अवस्था मोक्ष है; अरहंत और सिद्ध परमात्मा सर्वज्ञ वीतरागदेव हैं, उनका स्वरूप मोक्षमें आजाता है।

जिसने ऐसे नवतत्त्वोंको नहीं जाना उनकी यहाँ बात नहीं है। वीतरागदेवके शास्त्रोंसे या सत्समागमसे जिसने सच्चे नवतत्त्वोंको जान लिया है तथापि यदि वह नवतत्त्वोंके विकल्पमें ही लगा रहे तो उसका संसार बना रहेगा। नवप्रकारमेंसे शुद्धनयके द्वारा एक-रूप ज्ञायक हूँ इसप्रकार एक परमार्थ स्वभावको ही स्वीकार करना सो सम्यक्त्व है। दान, पूजा इत्यादि शुभभाव हैं और हिंसा, असत्य आदि अशुभ भाव हैं। उन शुभाशुभ भावोंके करनेसे धर्म होता है यह मानना तो त्रिकाल मिथ्यात्व है। इससे पुण्यके शुभभाव छोड़कर पाप-में जानेको नहीं कहा है। विषय–कषाय–देहादिमें आसक्ति, रुपया-पैसा और रागकी प्रवृत्तिरूप व्यवसाय इत्यादि समस्त भावोंमें मात्र पापरूप अशुभभाव हैं, और दानादिमें तृष्णाकी कमी अथवा कषाय-की मंदता इत्यादि हो तो वह शुभभाव–पुण्य है, इसप्रकार पुण्य-पापको व्यवहारसे भिन्न माने किन्तु दोनोंको आस्रव मानकर उससे धर्म न माने; इसप्रकार नवतत्त्वोंको भलीभाँति जाने तो वह शुभभाव है।

धर्मकी ऐसी बात यदि धीरजसे एकाग्रतापूर्वक न सुने तो मूल वस्तु यकायक समझमें नहीं आती; पश्चात् भीतर ऐसा होता है कि–यदि ऐसा मानेंगे कि ऐसे पुण्यके व्यवहारसे पुण्य नहीं होता, तो धर्म और पुण्य दोनोंसे भ्रष्ट हो जायेंगे। किन्तु सत्यको समझे विना त्रिकालमें भी संसारका अभाव नहीं होसकता। अनादिकालसे यथार्थ वस्तुकी प्रतीतिके विना जितना किया और जितना माना है वह सब अज्ञान ही है, उस सबको छोड़ना पड़ेगा। जिस भावसे अनन्तकालसे संसारका सेवन किया है वह भाव नया नहीं है। धर्मके नाम पर अंतरंग स्वरूपको भूलकर अन्य सब अनन्तबार किया है किन्तु उससे धर्म नहीं हुआ; मात्र शुभ–अशुभभाव हुए हैं किन्तु उन बंधनभावोंसे अंशमात्र धर्म नहीं होता। पूर्वापर विरोधसे रहित सच्चे नवतत्त्वोंको जाने तब अभूतार्थमें (व्यवहारमें) आता है, वह भी पुण्यभाव है; उससे पूर्ण परमात्मपद प्रगट नहीं होता।

जो भगवानके पास जाकर तो [illegible] आत्माकी रुचि तो [illegible] सत्को समझे बिना नहीं [illegible]। [illegible] सत्की ही प्रथम रुचि है और समझके अनुसार जो व्यवहारमें [illegible] होती है सो धर्मक्रिया है।

समस्त आत्मा एकत्रित होकर एक परमात्मा है, एक सर्वव्यापक ईश्वर है, वह जगतका आधार है, जगतका कर्ता है; इसप्रकार माननेवाला तो स्वभावका शोधक भी नहीं है; जो सत्का जिज्ञासु नहीं है उसे अभूतार्थ—व्यवहारनयका भी ज्ञान नहीं है। भगवान ऐसे रागी नहीं हैं कि किसीको कुछ दे दें अथवा देनेकी इच्छा करें। किसीके आशीर्वादसे भला होसकता है अथवा किसीकी प्रार्थना करनेसे गुण प्रगट होसकता है इसप्रकार मानना सो घोर अज्ञान है, महा पाखण्ड है, निरा भ्रम है।

मात्र नव तत्त्वोंकी श्रद्धा करके पुण्यबन्ध करे तो स्वर्गमें जाता है, किन्तु आत्मस्वरूपकी प्रतीतिके बिना वहांसे आकर पशु इत्यादिमें और फिर नरक निगोद इत्यादि गतियोंमें चौरासीके भवोंमें परिभ्रमण करता है। सत् तो जैसा होता है वैसा ही कहा जाता है, वह दुनियाको अनुकूल पड़ता है या नहीं उसपर सत् अवलंबित नहीं होता। जिसे माननेसे अहित होता हो वह कैसे कहा जा सकता है?

जैसा यहाँ कहा है उसीप्रकार नवतत्त्वोंका और परमार्थ श्रद्धाका स्वरूप सत्समागम करके स्वयं समझे, निर्णय करे और यथार्थ प्रतीति सहित निश्चय सम्यक्दर्शनको स्वयं पुरुपार्थसे प्रगट करे तो उसमें व्यवहार-श्रद्धा निमित्त कहलाती है।

आत्माकी यथार्थ पहिचानके बिना अथवा स्वरूपकी प्रतीतिके बिना जगतमें कोई शरण नहीं है; मात्र अखंडानंद पूर्ण शुद्ध आत्माकी प्रतीति ही परम शरणभूत है, स्वयं ही परम शरण है।

आचार्यदेव कहते हैं कि जैसा सर्वज्ञ भगवानने कहा है उसी प्रकार नवतत्त्वोंको प्रथम सत् समागमसे जानो, पात्रता प्राप्त करके

तत्वज्ञानका अभ्यास करो, स्वाधीन स्वरूपका परिचय करो, स्वतंत्र परमार्थको प्राप्त करने वाले शुद्धनयके द्वारा निर्मल स्वभावकी श्रद्धा करो।

नवतत्वोंके विकल्पसे आत्माका यथार्थ अभेदस्वरूप नहीं समझा जासकता, किन्तु उन नवप्रकारके भेदरूप मैं हूँ, इसप्रकार नहीं यदि विकल्प और विचारका भेद छोड़कर ऐसी श्रद्धा करे कि मैं त्रिकाल पूर्ण हूँ तो आत्माका स्वभाव समझमें आसकता है। यदि आत्मा-का सच्चा सुख चाहिये तो यथार्थताको जानकर उसकी श्रद्धा करो। पुण्य-पापके भाव धर्मकी ओरके विकारी भाव हैं, अभूतार्थ हैं, आत्मामें टिकनेवाले नहीं हैं इसलिये वे आत्माका स्वभाव नहीं हैं। इसप्रकार नवतत्वोंके विकल्पमें अटक जाने वाले अनेक भेदोंसे आत्मा-को पृथक् मानकर एकरूप निर्विकल्प परमार्थभावको अलग चुन लेना सो सम्यक्दर्शन है। शुद्ध नयाश्रित आत्माके एकत्वका, निरपेक्ष निर्मलताका निश्चय करना चाहिये कि मैं स्वभावसे पूर्ण हूँ, एकाकार निर्मल ज्ञायक स्वभावमें निश्चल हूँ, नवतत्वोंके विकल्पसे रहित हूँ; इसप्रकार शुद्धनयसे स्थापित आत्माकी अनुभूति जो कि आत्मख्याति है—सम्यक्दर्शन है, उसकी प्राप्ति होती है।

ऐसी श्रद्धाके विना कि—मैं अक्रिय असंग पूर्ण हूँ, भव-रहितता-का अनुभव नहीं होता और अतीन्द्रिय स्वानुभवके विना स्वभावके गुणकी निर्मलता प्रगट नहीं होती। देखनेवाला और जाननेवाला स्वयं अपनेको ही नहीं जाने और बाह्यमें जो शरीर, मन, वाणीकी प्रवृत्ति दिखाई देती है उसे माने, एवं उससे आगे जाये तो पापभावको दूर करके दया, व्रतादिके शुभभाव करे और उसीमें सम्पूर्ण धर्म मान बैठे तो उसे यथार्थ धर्म कहाँसे प्राप्त होगा?

अपनेको मनके शुभाशुभ विकल्पोंसे, नवतत्वोंसे भिन्न एकरूप ज्ञायक ध्रुवभावसे न देखे और यदि कोई बाह्य प्रवृत्ति बतलाये,

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

है। यहाँ कन्दमूलके खाने या न खानेकी बात ही नहीं है किन्तु बात तो यह है कि पापभावको छोड़नेके लिये शुभभाव [illegible] करना चाहिये; लेकिन यह ध्यान रहे कि उससे धर्म नहीं होता।

जिससे बंध आते हैं वह [illegible] है, उसका जो उपाय ऊपर कहा है उसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय त्रिकालमें भी नहीं होसकता। अखंडके [illegible] जो भेद होता है वह आदरणीय नहीं है, सहायक नहीं है, यह जानना सो भी व्यवहार है। उसका आश्रय छोड़कर, भेदका लक्ष गौण करके, उसके अभावरूप निर्विकल्प निश्चयदृष्टिसे अंतरंगमें एकाग्र होकर, उस अनुभव सहित पूर्ण स्वरूपकी श्रद्धा होने पर सम्यक्‌दर्शन होता है। उसे यथार्थ प्रतीति होती है कि मुझे परमात्माके दर्शन हो गये अर्थात् पूर्ण निश्चय साध्य सिद्ध परमात्मस्वरूपका यथार्थ लक्ष प्राप्त होगया। सम्यक्‌दर्शन ही परमात्माका दर्शन है।

प्रश्नः—क्या आत्माके साक्षात्कारमें तेज (प्रकाश) दिखाई देता है?

उत्तरः—नहीं, क्योंकि आत्मा तो अरूपी है, सदा ज्ञानानंदस्वरूप है और प्रकाश परमाणु है–पुद्‌गलकी पर्याय है, रूपी है। अरूपी आत्मामें रूपी रजकण नहीं हो सकते।

सर्वज्ञके न्यायानुसार विरोध रहित यथार्थ वस्तुका आत्मामें निर्णय होता है, अर्थात् जैसा स्वाधीन पूर्ण स्वभाव है उसकी प्रतीतिका संतोष होता है कि अहो! मैं ऐसा हूँ; मैं सम्पूर्ण ज्ञानानंदका पृथक् पिंड हूँ। प्रत्येक आत्मा इसीप्रकार परिपूर्ण है। उसकी एकाग्रतामें

निराकुल स्वभावकी जो अनुपम शांति प्राप्त होती वह सहज है। यदि भीतरसे पूर्ण स्वभावका निःशंक विश्वास प्राप्त हो तो स्वभाव सम्पूर्ण अनन्दसे भरा ही हुआ है. उसमेंसे निर्मल स्थिरता और आनंद प्राप्त होता है। निमित्त, विकल्पसे आनंद प्राप्त नहीं होता। यथार्थ तत्वज्ञानका अभ्यास होनेके बाद अखण्ड स्वभावके लक्षसे जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है वह सामान्य स्वभावमें मिल जाती है; सम्यक्‌दर्शनकी ऐसी परम अद्‌भुत महिमा है।

इसप्रकार शुद्धनयसे आत्म-सन्मुख होकर नवतत्वोंका विचार करने पर एवं अखण्ड स्वभावकी ओर एकाग्र दृष्टि होने पर सम्यक्‌दर्शन होता है। ऐसा होनेमें यथार्थ नवतत्वोंका ज्ञान निमित्त होता है इसलिये यह नियम कहा है। किन्तु यदि अन्तरंग अनुभवसे निश्चय श्रद्धा न करे तो उसे वह निमित्त नहीं होता। जिसने वीतरागके द्वारा कहे गये यथार्थ नवतत्वोंको ही नहीं जाना उसकी तो यहाँ बात ही नहीं है।

सम्यक्‌दर्शन आत्माके अनन्त गुणोंमेंसे श्रद्धा नामक गुणकी निर्मल पर्याय है। यदि श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुणको मुख्य करके कहा जाये तो वह गुण अनादि-अनन्त हैं। जब उनकी शुद्ध अवस्था अप्रगट होती है तब विकारी अशुद्ध अवस्था प्रगट होती है; उस अशुद्ध अवस्थाको मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कहते हैं। स्वभावके लक्षसे यथार्थ श्रद्धानकी निर्मल अवस्था उत्पन्न होने पर अशुद्ध अवस्था बदलकर शुद्ध होजाती है. जिसे सम्यक्‌दर्शन कहते हैं। सम्यक्‌दर्शनके होने पर तत्काल ही चारित्रमें पूर्ण स्थिरता-वीतरागता नहीं होजाती।

जैसे आममें उसकी खट्टी पर्यायके समय ही खट्टेपनका नाश करने वाला मीठा स्वाद शक्तिरूपसे भरा हुआ न हो तो खट्टेपन का अभाव होकर मीठापन प्रगट नहीं होसकेगा। वस्तुमें जो शक्ति ही न हो वह उत्पन्न नहीं हो सकती। जो यह मानता है कि आम

है; उसमें जीव न लगे और पूर्ण एकरूप स्वभावकी श्रद्धा करे तो नवतत्वके व्यवहारको निमित्त कहा जाता है।

प्रश्नः—नवतत्वोंके शुभभावकी सहायता तो लेनी ही होगी? व्रत, संयम आदिकी शुभ प्रवृत्तिके बिना आगे कैसे बढ़ा जासकता है?

उत्तरः—सम्यक्‌दर्शनके हुए बिना व्रत, तप, सयमादि यथार्थ नहीं होसकते। शुभराग विकार है, उसकी सहायतासे आगे नहीं बढ़ा जासकता किन्तु परमार्थकी रुचिमें बीचमें शुभराग आये बिना नहीं रहता। मैं विकल्पसे भिन्न त्रिकाल अखण्ड अविकारी हूँ ऐसी श्रद्धाके बलसे जब विकल्पका अभाव करता है तब निर्मल पर्याय प्रगट होती है और नवतत्वके जो विचार थे उन्हें निमित्तके रूपमें आरोपित किया जाता है; किन्तु यदि अखण्डकी श्रद्धा न करे तो निमित्त नहीं कहलाता। नवतत्वोंके शुभ विकल्पसे लाभ होगा इस-प्रकार मानना सो व्यवहारनयाभास है।

जिसकी दृष्टि निमित्त पर है वह शुभरागके आस्रवकी भावना भाता है कि यह व्रत, तप इत्यादि करना तो होंगे ही? किन्तु वे तो अशुभको दूर करनेके लिये शुद्ध दृष्टिके बलमें आजाते हैं। जिसकी स्वभाव पर दृष्टि नहीं है उसका निमित्त पर भार होता है, और इसलिये यह मानता है कि पर्यायसे, नास्तिसे, अनित्यसे पुरुषार्थ होता होगा। जिसकी पर्याय पर ही दृष्टि है वह मिथ्यादृष्टि है। उससे राग सूक्ष्म होता है किन्तु रागका सम्पूर्ण अभाव कदापि नहीं होता। अखण्ड स्वभावकी श्रद्धाके बलसे ही रागका अभाव होसकता है। जो लोग इस बातको नहीं समझते वे 'हमारा व्यवहार'—ऐसा कहकर अपने द्वारा माने गये व्यवहार को ही पकड़ रखते हैं।

आत्माकी अपूर्व बात भीतर ज्ञानकी समझसे ही जमती है, इस-लिये यह बात ही छोड़ दो कि 'हमारी समझमें नहीं आसकता'

यदि आत्माका स्वरूप आत्माकी ही समझमें न आये तो फिर उसे कौन समझेगा? यह बेचारे शरीर और इन्द्रियादिक तो कुछ जानते नहीं हैं। सर्वज्ञ वीतरागने जो कुछ कहा है वह सब जीवके द्वारा हो-सकता है, यह ज्ञानमें जानकर ही कहा है। सर्वज्ञ वह बात ही नहीं कहते जो नहीं होसकती। सभी आत्मा परमात्माके समान पूर्ण हैं, ऐसे स्वतंत्र स्वभावकी पूर्ण शक्तिको समझकर भगवानकी वाणी निकली है। जिन्हें अपने भीतर अनुकूल नहीं पड़ता वे ऐसी धारणा की आड़ लेकर कि—'हमारी समझमें नहीं आसकता', वस्तुका यथार्थ स्वरूप नहीं समझना चाहते। इसे समझना कठिन है अथवा यह बात समझ-में नहीं आसकती इसप्रकारकी मान्यता ही सच्चे हितरूप स्वभाव-को रोके हुए है।

पहले नवतत्त्वके विचार और सच्चे ज्ञानके बिना स्वभाव प्रगट नहीं होता और यदि नवतत्त्वके विकल्परूप विचारमें लग जाये तो उस शुभरागसे भी आत्माको लाभ प्राप्त नहीं होता। नवतत्त्वका विचार पहले आता अवश्य है, उसके बिना परमार्थमें सीधा नहीं जा-सकता और उससे भी नहीं जासकता। जैसे आंगनमें आये बिना घरमें नहीं जासकते और आंगनको साथमें लेकर भी घरमें नहीं जासकते, किन्तु यदि आंगनमें पहुँचनेके बाद उसका आश्रय छोड़कर अकेला घरमें जाय तो ही जासकता है; इसीप्रकार सच्चे नवतत्त्वोंको यथावत् न जाने और यह माने कि समझे बिना उपादानसे आत्माका विकास होजायेगा तो ऐसा कदापि नहीं बन सकता। उपादानका ज्ञान विकल्पके द्वारा होसकता है; यदि उसे जैसाका तैसा न जाने तो भूल होती है।

यदि कोई मात्र आत्माको ही माने और आत्मामें न तो अवस्थाको माने, न विकल्पको माने, न पुण्य-पापको माने और नवतत्त्वोंका व्यवहार भी न माने तो उसे त्रिकालमें परमार्थकी सच्ची श्रद्धा नहीं होसकती। और यदि कोई नवतत्त्वोंको यथार्थ तो माने किन्तु साथ

ही यह भी माने कि उसके शुभभावसे गुण प्रगट होगा तो भी वह असत् ही है। मैं पररूप नहीं हूँ, क्षणिक विकाररूप नहीं हूँ परवस्तु मुझे हानि-लाभ नहीं पहुँचा सकती तथा मैं परका कुछ नहीं कर सकता, मैं अनंत गुणोंसे परिपूर्ण ज्ञायकस्वरूप हूँ, इसप्रकार यदि यथार्थ स्वभावको जाने तो सब समाधान होजाये। स्वतंत्ररूपसे त्रिकाल एकरूप स्थायी आत्मा अनंत हैं और परमाणु भी अनन्त हैं। पर्यायमें विकार होता है वह क्षणिक अवस्था परनिमित्ताधीन जीवमें होती है और जीव उसका अज्ञानभावसे कर्ता है। अनन्त जीव स्वतंत्ररूपसे (एक एक) पूर्ण हैं। परमार्थसे प्रत्येक आत्माकी शक्ति प्रतिसमय पूर्ण सिद्ध परमात्माके समान है। परलक्ष्यसे होने वाले विकारीभाव वर्तमान एक ही समयकी अवस्था तक होते हैं किन्तु प्रवाहरूपसे अनादिकालसे अपनी वर्तमान भूल और पुरुषार्थकी अशक्तिसे होते हैं: उस क्षणिक विकारको दूर करने वाला अविकारी नित्य हूँ, इसप्रकार [illegible] स्वभावके बलमें भूल और मलिन अवस्थाका नाश करके, [illegible] बलसे स्थिरता बढ़कर क्रमशः निर्मलताके होने पर अंशमें [illegible] निर्मल अवस्था प्रगट होसकती है। इसमें अनेक न्यायोंका [illegible] होगया है और नवतत्वोंका सार आगया है।

अनादिकालसे स्वच्छन्द कल्पनाके द्वारा असत्‌को सत् मान [illegible] है। परमार्थकी यथार्थ श्रद्धा करनेमें नवतत्व और सच्चे देव-[illegible] परख होनी चाहिये और सच्चा उपदेश देनेवाले सत् [illegible] उपस्थितिमें एकबार साक्षात् उपदेश सुनना चाहिये; किन्तु [illegible] निमित्तसे गुण-लाभ नहीं होगा। ऐसी पराधीनता नहीं है कि [illegible] लिये प्रतीक्षा करनी पड़े। पात्रता होनेपर गुरुका निमित्त [illegible] उपस्थित होना ही है।

[illegible] समझनेके लिये स्वयं पात्र होकर उसका भलीभांति श्रवण-[illegible] चाहिये; कोई निमित्त नहीं समझा देगा। स्वयं पात्र होकर [illegible] उपदेश और उपदेशक ज्ञानी पुरुष उपस्थित होते

हैं। किन्तु स्वयं अपनेमें स्वलक्ष्यसे स्थिर होकर सत्की श्रद्धा करे तभी उसमें सफल निमित्तका आरोप होता है। यदि कोई न समझे तो वे नहीं समझा सकते; इसलिये उसको वे निमित्त भी नहीं कहे जासकते।

आत्माकी बात अनादिकालीन अनभ्यासके कारण सूक्ष्म मालूम होती है किन्तु वह स्वभावकी बात है। आत्माके श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र अरूपी एवं सूक्ष्म हैं, तथापि उस सूक्ष्मभावको जानने वाला नित्य अरूपी सूक्ष्मस्वभावी और अनन्त शक्तिरूप है। यदि कोई यह माने कि ऐसी सूक्ष्म बात हमारी समझमें नहीं आसकती तो उसका उत्तर यह है कि तू स्वयं ही अरूपी सूक्ष्म है; तब स्वयं निजको क्यों नहीं जानता? दुनियादारीके सूक्ष्म दावपेचोंको बराबर समझ लेता है, तब फिर अपने स्वभावको क्यों नहीं समझता?

व्यवहारसे पापको छोड़कर पुण्य करनेको कहा जाता है, किन्तु परमार्थसे दोनोंको छोड़ने योग्य पहलेसे ही माने तो पवित्र अविकारी स्वभावका प्रेम होसकता है, किन्तु यदि रागके द्वारा अविकारी गुणका प्रगट होना माने तो वह मिथ्यादृष्टि ही रहेगा। यदि भीतर पूर्ण-स्वभावरूप शक्ति न हो तो वह कहींसे आ नहीं सकती। और यह मानता है कि अपने गुण दूसरेकी सहायतासे प्रगट होते हैं तो वह अपनेको अकर्मण्य मानता है, उसे अविकारी गुणकी खबर ही नहीं है। वर्तमान विकारी अवस्थाके समय भी प्रतिसमय अनंतगुणकी अपार शक्ति आत्मामें है, उसे शुद्धनयसे जानकर एकरूप नित्य-स्वभावकी प्रतीति करे तो उसके बलसे निर्मलताका अंश प्रगट होकर पूर्ण निर्मल संपूर्ण स्वभावकी प्रतीति होती है। अवस्थाभेदको देखने-से अर्थात् व्यवहारका आश्रय लेनेसे रागकी उत्पत्ति होती है, उससे अविकारी ध्रुवस्वभावकी प्रतीति नहीं होती।

मुझे यथार्थ सम्यग्दर्शन होगया है यह सुदृढ़ विश्वास होने पर भवकी शंका रह ही नहीं सकती। सर्वज्ञ भगवानका स्वभाव और

तेरा स्वभाव एक ही प्रकारका है। स्वभाव भवका कारण नहीं है, भवका कारण तो पराश्रयरूप रागको अपना मानना है; वह जब नया किया जाता है तभी होता है। स्वभावमें परभावका कर्तृत्व त्रिकाल में भी नहीं होता। जिसे निःशंक स्वभावकी प्रतीति होगई है वह पूर्ण पवित्र स्वभावको जानता है। वह एकरूप ध्रुवस्वभावमें संसार-मोक्षके पर्यायभेदको नहीं जानता। उसे स्वभावका ही सन्तोष है। किन्तु जिसे स्वभावकी ओरका बल नहीं है और अन्तरंग स्वभावकी दृष्टि नहीं है उसे दूसरेकी प्रीति है और इसलिये उसे भवकी शंका बनी रहती है। जहाँ विरोधी भावकी प्रीति होती है वहाँ अविरोधी स्वभावकी एकाग्रतारूप प्रीति नहीं होसकती। पर्यायके भेदसे नहीं तरा जासकता।

शुद्धनयसे नवतत्त्वको जाननेसे आत्माकी अनुभूति होती है, उस हेतुसे यह नियम कहा है। जहाँ विकारी होने योग्य और विकार करने वाला-दोनों पुण्य हैं तथा दोनों पाप हैं; वहाँ विकार होने योग्य और विकार करने वाले जीव-अजीव दोनोंमें दो अपेक्षायें व्यवहारसे हैं। जैसे सोनेमें परधातुके निमित्तसे अशुद्धता कही जाती है उसीप्रकार यदि अशुद्ध अवस्थासे भेदरूप होनेकी योग्यता न हो तो परका आरोप नहीं हो सकता। जीवको वर्तमान अवस्थामें परनिमित्तका संग करनेकी, विकारी होनेकी और कर्ममें निमित्तभूत होनेकी-दोनोंकी स्वतंत्र योग्यता है।

कर्म सूक्ष्म परमाणु हैं उसमें दो प्रकारसे निमित्त-नैमित्तिकरूप होनेकी योग्यता है। जीवको विकारीभाव करनेमें निमित्तकारण भीतरका द्रव्यकर्म है, और शरीर आदि नोकर्म बाह्य कारण हैं। स्वयं विकारी भाव करे तो दोनोंमें निमित्तकारणका आरोप होता है, यदि अविकारी रहकर स्वयं स्थिर रहे तो कर्मको अभावरूपसे निमित्त कहा जाता है। जो निमित्तकी अपेक्षाके बिना अकेला स्थिर रहता है उसे स्वभाव

कहते हैं। कर्मके संयोगाधीन विकारी होने योग्य अवस्था जीवमें न हो तो त्रिकालमें भी विकार नहीं होसकता, किन्तु विकारीपन स्वभाव नहीं है। विकारी होनेकी योग्यता क्षणिक अवस्था है इसलिये बदली जासकती है और स्वभाव ध्रुव एकरूप ही स्थिर रहता है। जबतक जीव विकारनाशक स्वभावकी प्रतीति नहीं करता तबतक विकारका कर्तृत्व है।

जगतमें अनन्त रजकण विद्यमान हैं, वे सब आत्माके विकाररूप होनेमें निमित्त नहीं होते। किन्तु जो रजकण पहले कर्मरूपसे बँध चुके हैं उन पुराने कर्मोका संयोग, जब जीवके शुभाशुभभाव होते हैं तब निमित्तरूप कहलाता है, और जीवके वर्तमान राग-द्वेषका निमित्त प्राप्त करके ही जिस परमाणुमें बन्धरूप होनेकी योग्यता होती है वह नवीन कर्मरूपमें बँधता है।

जीवको विकार करते समय मोहकर्मके परमाणुओंकी उदयरूप प्रगट अवस्था निमित्त है; उसके संयोगके बिना विकारी अवस्था नहीं होती किन्तु वह निमित्त विकार नहीं कराता। यदि निमित्त विकार कराता हो तो स्वयं पृथक् स्वतंत्र नहीं कहला सकता है और न रागको ही दूर कर सकता है। दोनों स्वतंत्र वस्तु हैं। आत्मामें कर्मकी नास्ति है: जो अपनेमें नहीं है वह अपनी हानि नहीं कर सकता। स्वयं स्वलक्ष्यसे विकार नहीं किया जासकता किन्तु विकारमें निमित्तरूप दूसरी वस्तुकी उपस्थिति होती है। किसीकी अवस्था किसीके कारण नहीं होती। जहाँ जीवके विकारी भाव करनेकी वर्तमान योग्यता होती है वहाँ निमित्तरूपसे होने वाला कर्म विद्यमान ही होता है।

जो रजकण वर्तमानमें लकड़ीरूप होनेसे पानीके ऊपर तैरने की शक्ति रखते हैं उन्हीं रजकणोंका पिंड जब लोहेकी अवस्थारूपमें होता है तब वह पानीमें तनिक भी नहीं तैर सकता। इसीप्रकार

नहीं है वह अपनेमें अपने ध्रुव अविकारी स्वभावका अस्तित्व नहीं देखता और इसीलिये वह त्रिकाल एकरूप अखंड स्वभावको नहीं मानता, प्रत्युत वर्तमान निमित्ताधीन विकारकी प्रवृत्तिको ही देखता है।

आत्मा अखण्ड अक्रिय ज्ञानानंदरूपसे ध्रुव है उसका स्वभाव एक-रूप अक्रिय है, उसे न देखकर वर्तमान अवस्थाके पुण्य-पापकी क्रियाके शुभाशुभ विकारको देखता है; किन्तु वह पुण्य-पापकी क्षणिक वृत्ति स्वभावमें नहीं है-स्वभावाधीन भी नहीं है वह क्षणिक अवस्था निमित्ता-धीन है। उस विकारी अवस्थाका नाशक अपना ज्ञायकस्वभाव अविकारी ध्रुव है; इसे जो नहीं मानता उसे सम्यक्दर्शन नहीं हो सकता। ज्ञानी क्षणिक विकारी अवस्था पर भार नहीं देता, उसकी रुचिकी प्रवलता तो मात्र अविकारीपन पर होती है और वह उस स्वभावके वलसे स्थिर होनेके कारण विकारका नाश करता है। प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूपसे है और पर-वस्तुके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूपसे नहीं है। प्रत्येक आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भावरूपसे है जोकि निम्नप्रकार है:—

द्रव्यः—अपने अनन्त गुण-पर्यायका अखण्ड पिण्ड।
क्षेत्रः—अपना विस्ताररूप आकार (असंख्य प्रदेशी)।
कालः—अपनी वर्तमान होने वाली प्रगट अवस्था।
भावः—अपने अनंत गुण अथवा त्रैकालिक शक्ति।

इसप्रकार प्रत्येक वस्तु अपनेरूपसे है, पररूपसे नहीं है। किसीके गुण अथवा अवस्था किसी दूसरे द्रव्यके कारण अथवा कार्यरूपसे नहीं है, सहायक नहीं है। यदि यह माने कि पर-निमित्तसे अपना कार्य होता है तो यह परको और आत्माको एक मानना कहलायेगा जोकि एकान्तदृष्टिरूप मिथ्यात्व है। शुभभावसे गुण-लाभ होता है इस मान्यताका अर्थ यह है कि मेरी सहायता करता है और जो यह मानता है वह अपने पृथक् गुणोंको नहीं मानता, किन्तु रागरूप

विकार और अपने अविकारी स्वभावको एक मानता है; और इसलिये वह भी एकान्तदृष्टिरूप मिथ्यात्व है ।

प्रत्येक वस्तु अकारण स्वतंत्र है। परवस्तुके साथ व्यवहारसे भी कार्य-कारण संबंध नहीं है। प्रत्येक वस्तुकी निमित्त-नैमित्तिक भावरूप अवस्था स्वतंत्ररूपसे होती है । किसीका बनना-विगड़ना किसी परके आधीन नहीं है । जिसे हित करना हो उसे प्रत्येक वस्तुका ज्योंका त्यों अस्तित्व और स्वातंत्र्य मानना होगा ।

अल्पज्ञको नवतत्त्वोंका विचार करनेमें द्रव्यमन* निमित्त तो है किन्तु भीतर ज्ञानकी विचार-क्रिया मनकी सहायतासे नहीं होती । भीतर गुणमें उपादानकी शक्ति है, वही शक्ति कार्य करती है । ज्ञानकी जैसी तैयारी हो वहाँ सन्मुख वैसी ही अन्य जो वस्तु उपस्थित हो उसे निमित्त कहते हैं जोकि व्यवहार है, किन्तु यह मानना कि निमित्तसे काम होता है सो नयाभास है । निमित्त है अवश्य, उसे जाननेका निषेध नहीं करते, किन्तु ऐसा माननेसे वस्तु पराधीन सिद्ध होती है कि उससे काम होता है या उसकी सहायता आवश्यक है । अपूर्ण ज्ञानके कारण और रागके कारण क्रम होता है. उसमें मनका अवलम्बन निमित्त है । पंचेन्द्रियके विषय वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, और शब्द हैं उनकी ओरके झुकावको छोड़कर जब आत्मा नवतत्त्व इत्यादिका विचार करता है तब उसमें विचार करना सो ज्ञानकी क्रिया है, जड़-मनकी नहीं । शुभाशुभ विकल्परूप रागका भाव जीवमें होता है, जड़में नहीं। जड़-कर्म तो निमित्त है । नवतत्त्वका विचार क्रमशः होता है, मात्र स्वभावभावसे ज्ञान कार्य कर रहा हो तो क्रम नहीं होता। इन्द्रियोंके विषय बन्द हो जाने पर भी मन-के योगसे ज्ञानमें भेद हो जाते हैं, इससे सिद्ध हुआ कि मन भिन्न वस्तु है । मन ज्ञानसे भिन्न वस्तु है यह बात ज्ञानसे निश्चित हो

* वक्षस्थलके मध्य भागमें आठ पंखुड़ियों वाला विकसित कमलके आकार रजकणोंसे निमित्त द्रव्यमन है ।

सकती है। नवतत्वका विचार पंचेन्द्रियका विषय नहीं है, और अकेला ज्ञान मनके अवलम्बनके बिना कार्य करे तो एकके बाद दूसरे विचार-का क्रम न हो, क्योंकि क्रम होता है इसलिये बीचमें मनका अवलम्बन होता है। विचारमें उसका अवलम्बन होता है किन्तु ज्ञान उसके आधीन नहीं है; ज्ञान तो स्वतंत्र है।

'मैं आत्मा हूँ' इस विचारमें ऐसा अर्थ निहित है कि 'मैं कहीं भी हूँ तो अवश्य;' पहले अज्ञानदशामें अपने अस्तित्वको परमें मान रखा था और परवस्तु पर लक्ष करके विकारोन्मुख होरहा था, उस पर-विषयसे हटने और स्व-विषयमें स्थिर होनेके लिये पहले ऐसे नवतत्वका विचार करना होता है कि "मैं जीव हूँ, अजीव नहीं हूँ' मनका योग हुए बिना नवतत्वका विचार नहीं हो सकता, किन्तु द्रव्य-मन विचार नहीं करता, विचार तो भावमनसे ही होता है। इस बातको भलीभाँति समझना चाहिये।

यहाँ पहले सम्यक्दर्शनके लिये चित्तशुद्धिके आँगनमें आनेकी बात चल रही है। पहले अज्ञानदशामें (व्यवहारकी अशुद्धिमें) जो दूसरे पर गुण-दोषका आरोप कर रहा था वहाँसे हटकर अपने आँगनमें (व्यवहारशुद्धिमें) आगया है; उसके बाद पूर्व धारणा बदल जाती है और वह यह समझने लगता है कि विश्वमें मेरे अतिरिक्त मुझे लाभ या हानि करने वाला कोई नहीं है। ऐसी मान्यता होने पर अनंत परवस्तुमें कर्तृत्वकी भावना नहीं रहती, और इसलिये तीव्र आकुलता दूर हो जाती है।

व्यवहारशुद्धिकी योग्यतामें निम्नलिखित तीन प्रकार होते हैं:-
(१) संसारकी ओरका विचार बन्द करके, पंचेन्द्रियके विषयके तीव्र रागसे हटकर, मनशुद्धिके द्वारा यथार्थ नवतत्वकी भूमिकामें आजाना सो अपनी योग्यता है। (२) अपनी वर्तमान योग्यता और निमित्तकी योग्यताकी उपस्थितिको स्वीकार किया कि परवस्तु मुझे मूलमें नहीं

डालती, किन्तु उसमें पदार्थके विचार [illegible] मेरी जो योग्यतासे भूल और विकार अपनी अवस्थामें होता है; उस भाव-के निमित्तसे और विकारसे किंचित् हटकर अपनी अवस्थाके शुभव्यवहारमें आगना, वह पुण्यभाव [illegible] कोई धर्म नहीं करता। यह निमित्तकी अनुकूलता है। (३) निमित्तरूप जो देव, गुरु, शास्त्र हैं सो परवस्तु हैं; मेरी योग्यताकी तैयारी हो कि यहां मुझको देव-गुरुका निमित्त अपने स्वतंत्र कारणसे उपस्थित होता है। तीर्थ-रूप व्यवहारसे दूसरेको मोक्षमार्ग बताते हुए परमार्थकी श्रद्धाके लिये पहले नवतत्त्वके भेद करना पड़ते हैं उस भेदसे अभेद गुणमें नहीं पहुँचा जाता, किन्तु अपनी निजकी तैयारी करके जब अखण्ड ध्वनिके बलसे यथार्थ निर्मल अंशका उत्पाद और विकार तथा भूलका नाश करता है तब अपने उन भावोंके अनुसार निमित्तको (देव-गुरु-शास्त्र अथवा नवतत्त्वके भेदोंको) उपचारसे उपकारी कहा जाता है। यदि स्वतः न समझे तो अनन्तकालीन संसार सम्बन्धी पराश्रयरूप व्यव-हाराभास ज्योंका त्यों बना रहेगा।

प्रत्येक वस्तुकी अवस्था निजसे ही स्वतंत्रतया बदलती रहती है। किसीकी अवस्थामें कोई निमित्त कुछ नहीं कर सकता, दोनों पदार्थोंकी स्वतंत्र योग्यताको माने तब व्यवहार-पुण्यपरिणामरूप नव-तत्त्वोंकी शुद्धिके आँगनमें आया जाता है, और उस नवतत्त्वके विचार-मेंसे मात्र अविकारी स्वभावको मानना सो सम्यक्दर्शन है। निमित्त-नैमित्तिकता अवस्थाको लेकर व्यवहारसे है, द्रव्य, द्रव्यका निमित्त व्यवहारसे भी नहीं है।

पुराने कर्मकी उपस्थितिका निमित्त पाकर (उसके उदयमें युक्त होनेसे) जो शुभभाव किये जाते हैं उसमें अजीव निमित्त, और जीव-की योग्यता उपादान होती है; और वह भावपुण्य है। दया, दान इत्यादिके शुभभावका निमित्त पाकर जिन परमाणुओंमें पुण्यबंधरूप होनेकी योग्यता थी वे उसके कारणसे पुण्यबंधरूप हुए उसमें शुभभाव

(जीव) निमित्तकारण और पुद्गल परमाणुओंमें पुण्यरूप होनेकी जो योग्यता है सो (अजीवकी योग्यता) उपादान है; उसे द्रव्यपुण्य कहते हैं। इसप्रकार पाप-तत्त्वकी बात भी समझ लेनी चाहिये।

भावपुण्य और भावपाप जीवकी अवस्थामें होते हैं तथा द्रव्य-पुण्य और द्रव्यपाप पुद्गलकी अवस्था है। जिस रजकणमें पुण्य-पापरूप कर्मबंध होनेकी योग्यता थी वह उसके द्रव्यकी शक्तिसे उसरूप हुआ और उसमें जीवकी रागादिरूप विकारी अवस्था निमित्त हुई। इसप्रकार रागके निमित्तका संयोग पाकर द्रव्यकर्मरूप होने वाले जड़-परमाणु स्वतंत्र हैं। पूर्वबद्ध कर्मोंका पाक (उदय) होने पर आत्मा उस ओर उन्मुख होकर निज लक्ष्यको भूल गया और अज्ञान-भावसे पुण्य-पापके भाव किये इसलिये विकारी होनेकी योग्यता आत्मा-की है। इसप्रकार दो तरहकी योग्यता अपनेमें और दो तरहकी अवस्था सामने संयोग होने वाले पुद्गल-परमाणुमें है।

जो यह कहता है कि जड़-कर्म मुझे विकार कराते हैं वह अपनेको पराधीन और अशक्त मानता है। और दो तत्त्वोंको (जीव और कर्मको) एक मानता है।

यदि कोई अज्ञानी यह कहे कि जैनधर्ममें स्याद्वाद है इसलिये कभी तो जीव स्वयं विकार करता है और कभी कर्म विकार कराते हैं; कभी निमित्तसे हानि-लाभ होता है और कभी नहीं होता; तो यह बात बिल्कुल मिथ्या है। स्याद्वादका ऐसा अर्थ नहीं है। अरे! ऐसा 'फुदड़ीवाद' जैनधर्ममें हो ही नहीं सकता। कोई वस्तु त्रिकाल-में भी पराधीन नहीं है, जब स्वयं गुण-दोषरूप अपनी अवस्थाको करता है तब निमित्त पर आरोप करनेका व्यवहार लोकप्रसिद्ध है; किन्तु वह झूठा है। लोगोंमें ऐसा कहा जाता है कि यह घी का घड़ा है और यह पानीका घड़ा है, किन्तु घड़ा मिट्टीका अथवा पीतल इत्यादिका होता है।

दूसरेसे गुण-लाभ होता है, दूसरेको सहायता या हानिकर है, इस-प्रकार जिसने माना है उसे यह सब समझना कठिन है, क्योंकि उसने पुण्य-पापको अपना ही मान रखा है। परन्तु पुण्य-पाप विकार हैं, व्रतादिके शुभरागसे पुण्यबंध होता है किन्तु उस विकारी भावसे त्रिकालमें भी धर्म नहीं होता। जीवकी वह विकारी अवस्था है और विकारके होनेमें पर-निमित्त है, किन्तु विकार ऊपरी दृष्टिसे निमित्त होता है। विकार आत्माका स्वभाव नहीं है इसलिये आदरणीय नहीं है, ऐसा जानना सो भी व्यवहार है। अवस्थादृष्टिको गौण करके एकरूप अविकारी ध्रुवस्वभावके बलसे अर्थात् निश्चयनयके आश्रयसे निर्मल पर्याय प्रगट होकर सहज ही विकारका नाश हो जाता है। स्वभावमें विकारका नाश करने वाली और अनंतगुनी निर्मलता उत्पन्न करने वाली अपार शक्ति भरी हुई है; उसके बलको निमित्ताधीनदृष्टि-वाला कहांसे समझ सकता है ?

विकारी अवस्थामें निमित्तभूत पूर्वकर्मका संयोग केवल उपस्थिति-मात्र है, यदि मैं उसमें विकारभावसे युक्त होऊँ तो वह निमित्त कहलायेगा और यदि स्वरूपमें स्थिर रहूँ तो वही कर्म अभावरूप निर्जरामें निमित्त कहलायेगा। इसप्रकार संयोगरूप परवस्तुमें—निमित्तमें उपादानके भावानुसार आरोप होता है।

यदि कोई कहे कि निमित्त होगा तो तृष्णाको कम करनेका (दया, दान इत्यादिका) भाव होगा, अथवा कोई कहे कि यदि उसके भाग्यमें प्राप्ति लिखी होगी तो मुझे दान देनेका भाव उत्पन्न होगा, तो यह दोनों धारणाएँ मिथ्या हैं। जब स्वयं अपनी तृष्णाको कम करना चाहे तभी कम कर सकता है। वाह्य-संयोगकी क्रिया अपने अधीन नहीं है किन्तु तृष्णाको कम करनेका शुभभाव तो स्वयं अपने पुरुषार्थसे चाहे जब कर सकता है। अपने भावमें तृष्णाको कम करे तो दानादिक कार्य सहज ही हो जाते हैं। यह विचार मिथ्या है कि अमुक व्यक्तिके पास पैसा जाना होगा तो मेरे मनमें दान

करनेके भाव होंगे, अथवा अमुक व्यक्ति बचने वाला होगा तो मेरे मनमें दयाके भाव आयेंगे; क्योंकि अशुभभावको बदलकर स्वयं चाहे जब शुभभाव कर सकता है।

जो नवतत्त्वोंको यथार्थ समझनेमें अपनी बुद्धि नहीं लगाता वह परसे भिन्न भगवान चिदानन्द आत्माका निःसंदेह निर्णय करनेकी शक्ति कहांसे लायेगा ? सच्चे नवतत्वोंके आंगनमें आये बिना परिपूर्ण स्वभावकी यथार्थ स्वीकृति नहीं होसकती। मनकी शुद्धिरूप नवतत्वोंको जाननेके बाद उन नवके विकल्पके व्यवहारका चूरा करके निमित्त और विकल्पका अभाव करे तब भेदका लक्ष भूलकर एकरूप स्वभावमें आया जासकता है। निमित्त और अवस्थाको यथावत् जानना चाहिये, किन्तु उसका आदर नहीं करना चाहिये, उस पर भार नहीं देना चाहिये।

जो ऐसा मानता है कि परसे हिंसा या अहिंसा होती है वह दो तत्त्वोंकी स्वतंत्रता या पृथक्ताको नहीं मानता। वास्तवमें परसे हिंसा नही होती किन्तु आयुके क्षय होनेसे जीव मरता है, किन्तु उसे मारनेका जो अशुभभाव आत्माने किया वही आत्माके गुणोंकी हिंसा है। कोई शत्रु अथवा कोई भी वस्तु पापका भाव करानेके लिये समर्थ नहीं है, किन्तु जब आत्मा पापभाव करता है तब उनकी उपस्थिति होती है। प्रत्येक वस्तुका उपादान अपनी सामर्थ्यरूप स्वतंत्र शक्तिसे है, उसका कार्य होनेके समय बाह्य-संयोगरूप निमित्त अपने ही कारणसे उपस्थित होता है। दोनों स्वतंत्र है; ऐसे निर्णयकी एक ही कुंजीसे उपादान-निमित्तके सभी ताले खुल जाते है। किसी वस्तुका कार्य होते हुए उस समय साथमें दूसरेकी उपस्थितिमात्र होती है जिसे सहकारी निमित्त कहते है, किन्तु उसकी प्रेरणा, सहायता अथवा कोई प्रभाव नही होता।

जीवकी अवस्था जीवकी योग्यताके कारण होती है। वह जब परोन्मुख होकर रुक जाता है तब रुजकण स्वयं ही अपनी योग्यताके

कारण वँध जाते हैं और जब वह स्वोन्मुख होकर रुक जाता है और गुणका विकास करता है तब रजकण अपने ही कारणसे पृथक् होजाते हैं। उन रजकणोंकी किसी भी अवस्थाको आत्मा नहीं कर सकता और आत्माका कोई भाव रजकणोंको नहीं वदल सकता, दोनोंकी स्वतंत्र अवस्था अपने-अपने कारणसे है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तुकी स्वतंत्रताको स्वीकार करना सो व्यवहारशुद्धि है।

जड़ और चेतन सम्पूर्ण वस्तुओंकी अवस्था अपने-अपने आधारसे होती है। किसी भी वस्तुकी कोई अवस्था परके आधारसे कभी नहीं होती, कोई किसी पर प्रभाव अथवा प्रेरणा भी नहीं कर सकता; इसप्रकार मानना सो सम्यक्–अनेकान्तरूप वीतराग धर्म है। यदि यह मान जाय कि निमित्तके प्रभावसे किसीकी अवस्था होती है तो व्यवहार स्वयं ही निश्चय होगया, क्योंकि उसमें त्रिकालस्थायी अनंत सत्‌को पराधीन निर्माल्य माननेरूप मिथ्या एकान्त अधर्म है।

पुराने कर्मोदयमें युक्त होकर जीव पुण्य-पापके जो विकारीभाव करता है सो भावास्रव है, और उस भावका निमित्त पाकर पुण्य-पाप-रूप—कर्मरूप होनेकी योग्यता वाले रजकण जीवके पास एक क्षेत्रमें आते हैं सो वह द्रव्यास्रव है। जीव पुण्य-पापके आस्रवरूप जैसे भाव करता है उसका निमित्त प्राप्त करके उसी अनुपातमें वैसे ही पुण्य–पापरूप रजकणोंका वंध होता है। इसप्रकार व्यवहारसे दोनों परस्पर निमित्त और नैमित्तिक हैं। यद्यपि जड़ रजकणोंको कोई ज्ञान नहीं होता और वे जीवका कुछ भी नहीं करते किन्तु अज्ञानी मानता है कि उनका मुझ पर असर होता है और मेरे द्वारा जड़का यह सब कारभार होता है, मैं ही कर्मकी पर्यायको वांधता हूँ और मैं ही छोड़ता हूँ।

जिसप्रकार तराजूके एक पलड़ेमें एक सेरका बांट रखा हो और दूसरी ओर ठीक एक सेर वजनकी वस्तु रखी जाय तो उस तराजू-की डन्डी ठीक वीचमें आकर स्थिर हो जाती है, उसमें उसे ज्ञानकी

आवश्यकता नहीं होती, इसीप्रकार शुभाशुभ कर्मोंमें भी ऐसी ही विचित्र योग्यता है। जड़कर्मोंमें ज्ञान नहीं होता तथापि जीव जैसे रागादि भाव करता है वैसे ही निमित्तरूप प्रस्तुत जड़-रजकण अपने ही कारणसे कर्मरूप अवस्था धारण करते हैं-उनमें अपनी ऐसी योग्यता होती है। जड़वस्तुमें अपनी निजकी अनन्तशक्ति है, और वह अनन्तशक्ति अपने प्रति है। रजकण एकसमयमें शीघ्रगति करके नीचेके अंतिम सातवें पातालसे उठकर ऊपर चौदहराजु लोकके अग्रभाग तक अपनेआप चला जाता है। उसकी शक्ति जीवके आधीन नहीं है, तथापि स्वतंत्रभावसे ऐसा निमित्त-नैमित्तक मेल है कि जहाँ जीवके राग द्वेषका निमित्त होता है वहाँ कर्मरूप बँधने योग्य वैसे रजकण विद्यमान होते हैं। दूधके मीठे रजकण दहीरूपमें खट्टे होजाते हैं सो वे अपने स्वभावसे ऐसा होते हैं, उन्हें कोई करता नहीं है। लकड़ी तैरती है और लोहा डूब जाता है वह उस समयकी पुद्गलकी अपनी ही अवस्थाका स्वभाव है। आत्माका भाव आत्माके आधीन और जड़की अवस्था जड़के आधीन है, तथापि मात्र एकाकी स्वभावमें विकार नहीं होसकता। इसप्रकार दो स्वतंत्र पदार्थोंमें व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है और परस्पर एकक्षेत्रावगाहरूप संयोग होता है, तथापि एक-दूसरेकी अवस्थाको कर सकने योग्य सम्बन्ध नहीं है; ऐसा मानना सो अभूतार्थनय (व्यवहार)को स्वीकार करना कहलायेगा। निमित्त और विकारी योग्यतारूप अवस्थाको स्वीकार करनेके बाद, पूर्ण अविकारी ध्रुवस्वभावको देखना मुख्य रहता है। स्वभावके बलसे भीतरसे निर्मल अवस्था प्रगट होती है, बारंबार अखण्ड निर्मल, एकाकार ज्ञायकस्वभावकी दृढ़ताके बलकी रटन होती है। यह सम्यक्दर्शन और संवर होनेकी पहली बात है।

आत्माका स्वभाव पुण्य-पापके क्षणिक विकारीभावका नाशक है यह जानकर उसके आश्रयसे संवरभावको प्रगट करनेकी अपनी योग्यता होती है। यह मानना पाखण्ड है कि अच्छे संयोग मिले और

कर्म मुझे मार्ग में [illegible] धारणा है कि आत्मको [illegible] स्वतंत्र धर्मस्वभावकी खबर ही नहीं है। [illegible] गुणोंकी पूर्ण शक्ति भरी हुई है, [illegible] उत्पत्ति और विकारी पर्यायका [illegible]।

लोग अनादिकालसे यह मानते हैं कि देहादिकी क्रिया तो हम करते हैं, किंतु अनन्तज्ञानी जिनेंद्रदेव यह घोषित करते हैं कि शरीर-की एक अँगुली हिलानेकी भी किसी आत्माकी शक्ति नहीं है, आत्मा मात्र अपनेमें ही अहित या हित अथवा ज्ञान या अज्ञान कर सकता है। जबतक जीवको यह बात समझमें नहीं आयेगी तबतक अपने स्वभावमें विरोधी मान्यता बनी ही रहेगी।

निरावलम्बी एकरूप स्वभावके बलसे अशुद्धता रुक जाती है सो भावसंवर है, यह योग्यता आत्माकी है। और पुद्गल परमाणुओं-का नये कर्मोंके रूपमें होना रुक जाय सो द्रव्यसंवर है; यह योग्यता जड़की है। यदि पापका भाव करे तो उदयरूप कर्मको पापभावमें निमित्त कहा जाता है, और यदि स्वभावका आश्रय करे तो उसी कर्म-को संवर करने वाले निमित्तका आरोप होता है। इसप्रकार अपने भावानुसार निमित्तमें आरोप करनेका व्यवहार है। दोनोंमें परस्पर निमित्ताधीन अपेक्षासे और स्वतंत्र उपादानकी योग्यतासे संवार्य (संवर-रूप होने योग्य) और संवारक (संवर करने वाला) ऐसे दो भेद हो जाते हैं।

मात्र निरपेक्ष स्वभावमें नवतत्त्वके भेदरूप विचारका क्रम नहीं होता, और विकल्पके भेद नहीं होते। निमित्त और अपनी विकारी अवस्था ज्योंकी त्यों जानने योग्य हैं, किंतु वह आदरणीय नहीं हैं। नवतत्त्वके विचाररूप शुभभाव भी सहायक नहीं हैं, इसप्रकार जानना सो व्यवहारनयको स्वीकार करना है।

प्रत्येक वस्तुमें अनादि-अनन्त स्वतंत्र गुण हैं। परमाणुरूप वस्तुमें स्पर्श, रस, गंध इत्यादि गुण अनादि-अनन्त स्वतंत्र हैं। गुण स्थिर रहते हैं और गुणोंकी अवस्थामें परिवर्तन होता है, अवस्थामें परिवर्तन होना अपने-अपने आधीन है। प्रत्येक आत्मामें ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र, वीर्य इत्यादि गुण अनादि-अनन्त विद्यमान हैं। उसकी अवस्थाका बदलना अपने आधीन है। आत्मा अनेक प्रकारके विकारी भावोंको अलग कर दे तब भी अविकारी एकरूप रहकर अवस्थाको बदलनेका स्वभाव रहता है।

आत्माके स्वभावमें कभी कोई अंतर नहीं पड़ता इसलिये उसमें पर-निमित्तकी अपेक्षाका भेद नहीं होता, किन्तु मैं रागी हूँ, मैं परका कर्त्ता हूँ, पर मुझे हानि-लाभ कर सकता है ऐसी मान्यतासे अवस्थामें स्वभावका विरोधी विकार हुआ करता है, वैसे भाव जब स्वयं करे तब होते हैं। वे क्षणिक विकार गुणोंकी विपरीत अवस्थासे नवीन होते हैं, वह विपरीत अवस्था ही संसार है, जड़में अथवा परवस्तुमें संसार नहीं है। आत्मगुणोंकी सम्पूर्ण निर्मलता मोक्ष है, और स्वभावोन्मुख होने वाली अपूर्ण निर्मल अवस्था मोक्षमार्ग है। उसमें नवीन गुण प्रगट नहीं होते किन्तु गुणोंकी विपरीत अवस्था बदलकर प्रतिक्षण निर्मल अवस्था प्रगट होती जाती है। गुण त्रिकाल एकरूप ध्रुव है, उसकी पर्याय बदलती रहती है। विपरीत धारणा बदलकर सीधी धारणा ध्रुवस्वभावके आधारसे होती है निमित्तके लक्षसे अथवा अवस्थाके लक्षसे निर्मलदशा प्रगट नहीं होती किन्तु उलटा राग होता है।

आत्मामें दया, दान, भक्ति इत्यादिके शुभभाव तथा हिंसा, तृष्णा आदिके अशुभभाव करनेकी उपादानरूप योग्यता है, और उनमें निमित्तरूप होनेकी जड़कर्ममें योग्यता है, किन्तु उपादान और निमित्त दोनों स्वतंत्र हैं, ऐसा स्वीकार करने पर दूसरे पर दोष डालनेका लक्ष्य नहीं रहता; मात्र अपने ही भाव देखने होते हैं। कोई परवस्तु मुझे

पुण्यबंध होसकता है किन्तु भव-भ्रमण कम नहीं होसकता। जिस जीवको सर्वज्ञ-कथित सच्चे नवतत्त्वोंकी तथा सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी व्यवहारसे यथार्थ पहिचान नहीं है वह मिथ्यादृष्टिका भी उच्चपुण्य नहीं बांध सकता; क्योंकि जिसके पुण्यके निमित्त भी अपूर्ण हैं अथवा मिथ्या हैं उसके पुण्यके भाव भी पापानुबंधी पुण्य वाले अपूर्ण होते हैं।

रागको दूर करके निर्मल अवस्था उत्पन्न करनेके लिए ध्रुव एकरूप स्वभावमें त्रिकाल शक्ति भरी हुई है, उसका अवलम्बन एक वीतरागभावरूप होता है, जब कि रागके अनेक प्रकार होनेसे रागके अवलंबन भी अनेक प्रकारके होते हैं। कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र तथा स्त्री, कुटुम्ब, देहादि सब अशुभरागके अवलंबन हैं। कुदेव आदिको मानने वाला कभी अशुभरागको अत्यधिक कम कर दे तथापि वह बारहवें स्वर्गसे ऊपर नहीं जा सकता, और सच्चे नवतत्त्वोंके भेद तथा सच्चे देव, शास्त्र, गुरुको मानने वाला उत्कृष्ट शुभभाव करे तो नववें ग्रैवेयक तक जाता है। जीव रागके पक्षसे न छूटे और यथार्थ श्रद्धा न करे तबतक वह चौरासी लाखके जन्म-मरणमें परिभ्रमण करता रहता है।

जो यह मानता है कि सम्यक्त्व गुण और संवर होनेकी योग्यता गुरु दे देंगे, और गुरुकी प्रेरणासे मुझमें गुणका विकास हो जायगा वह स्वतंत्रताको ही नहीं मानता। जो दूसरेसे सहायता और दूसरेसे हानि-लाभ मानता है वह अपनी स्वतंत्रताकी शक्तिको नहीं समझता और उसने अपने स्वभावको यथार्थतया नहीं जाना है। सम्यक्त्व होनेसे पूर्व और पश्चात् जहाँतक वीतरागी स्थिरता न हुई हो वहाँ तक शुभरागमें निमित्त (देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि) की अपेक्षा रहा करता है, उसे ज्ञानी धर्मके खातेमें नहीं डालते। क्योंकि अनादिकालसे माना गया (पर-निमित्तसे धर्म होता है), ऐसा मानना बदलनेकी आवश्यकता है।

निर्जरणके योग्य और निर्जरा करनेवाले जीव-अजीव दोनों हैं। उनमेंसे शुभाशुभरूप अशुद्धभावको नाश करनेकी स्वतंत्र योग्यता जीवकी है। आत्माके ध्रुवस्वभावके लक्ष्यसे अशुद्धताका अंशतः दूर हो जाना और शुद्धताकी अंशतः वृद्धिरूप अवस्थाका होना सहज होता है, वह भावनिर्जरा है। अशुद्धतामें जो निमित्त-कर्म था उस कर्ममें दूर होनेकी योग्यता उसके कारण होकर जो निर्जरण योग्य रजकणोंकी अवस्था बदली सो द्रव्यनिर्जरा है।

प्रभु! तेरी महत्ताके गुण गाये जारहे हैं। अनंतकालमें अनंतवार नवतत्त्वके आँगन तक गया किन्तु भीतर प्रवेश किये विना तू अपने आँगनसे वापिस आया है। चित्तशुद्धिके आँगनमें जाना पड़ता है (नवतत्त्वका भेदरूप ज्ञान करना पड़ता है) किन्तु आँगनको साथ लेकर घरमें प्रवेश नहीं किया जाता।

समयसार परम अद्भुत ग्रंथ है। अब एक भी भव नहीं चाहिये ऐसी सावधानीके साथ पात्र होकर सत समागमसे जो समझता है वह कृतकृत्य हो जाता है; व्याकुलताका नाम भी नहीं रहता। टीकामें भी आचार्यदेवने अद्भुत काम किया है। केवलज्ञानीके हृदयका अमृत प्रवाहित किया है। मात्र सत्की जिज्ञासासे मध्यस्थ होकर समझना चाहे, अंतरंगकी उमंगसे बराबर पात्र होकर, समागम करके, सत्को सुने तो स्वतः उछलकर अंतरंगमें यथार्थताका स्पर्श हो जाता है, तथा स्वभावमेंसे यथार्थका उद्भव होकर कृतकृत्य हो जाता है, ऐसी सुन्दर-सरस बात आचार्यदेवने कही है।

जो सत्को समझनेके जिज्ञासु हैं तथा जो पात्र हैं उन्हें आचार्यदेव यह सब समझाते हैं, और वे जो समझ सकें ऐसी ही बात कही जाती है। पहले आचार्यदेवने कहा था कि मैं और तुम सब सिद्ध परमात्माके समान हैं। इसप्रकार निज-परके आत्मामें पूर्णता [illegible] स्थापित किये बिना सत्यको नहीं समझाया जासकता। तू भी परमार्थतः त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमात्मा आनंदमूर्ति भगवान है।

जो-जो पूर्ण गुण सिद्ध परमात्मामें हैं वे सभी तुझमें भी हैं और जो सिद्धमें नहीं है वे तुझमें भी नहीं हैं। ऐसा परमार्थस्वभाव वर्तमान अवस्थामें भी अखंडरूपसे भरा हुआ है। यदि उस पूर्णका विश्वास न जमे और भवकी शंका दूर न हो, तो कहना होगा कि तूने न तो केवलज्ञानीको माना है और न उनके उपदेशको माना है।

समस्त आत्मा ज्ञातास्वरूप हैं, तू भी ज्ञानस्वरूप आत्मा है, यह खूब जानकर कहा जारहा है, तू पंचेन्द्रिय है अथवा तू मनुष्य है यह कहकर उपदेश नहीं देते हैं।

अशुभरागमें संसार सम्बन्धी निमित्त होता है और शुभरागमें सच्चे देव, गुरु, शास्त्र आदि शुभनिमित्त होते हैं, सम्यक्‌दृष्टिके राग नहीं होता, वह रागको या परके अवलम्बनको स्वीकार नहीं करता। अवस्थामें पुरुषार्थ निर्बल होता है वहाँ रागका अवलंबन अनेक प्रकारका होता है। इसमें पूर्ण होनेसे पहले बीचमें व्यवहार तथा शुभरागमें क्या निमित्त होता है उसका स्पष्टीकरण होजाता है। जहाँ रागकी दिशा बदल जाती है वहाँ बाह्य-लक्ष्यमें देव, गुरु, शास्त्र, पूजा, भक्ति, व्रतादिका शुभभाव होता है। शुभभाव करे तो संयोगमें शुभ निमित्तका आरोप होता है, और अशुभभाव करे तो संयोगमें अशुभ-निमित्तका आरोप होता है, तथा यदि पर-निमित्तके भेदके बिना स्वभावमें रहकर ज्ञान ही करे तो वही संयोग (निर्जरामें) अभावरूप निमित्त कह-लाते हैं। इसप्रकार निमित्तमें अपने भावानुसार आरोप होता है। निमित्तसे परका कार्य नहीं होता, किन्तु कार्यके समय उसकी उपस्थिति होती है। यहाँ दो तत्त्वोंकी स्वतंत्र योग्यताको स्वीकार करनेकी बात है।

पर-पदार्थकी ओर लक्ष्यका होना सो राग है। उसमें रुचि करके रुक जाना सो पर-विषय है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दके विषयमें राग द्वारा रुककर [illegible] सुखी-दुःखी [illegible] सो पर-विषय है। ज्ञानीके उसका स्वामित्व नहीं होता, किन्तु [illegible] [illegible]

स्वामित्व और उसकी ही मुख्यता है। उस अखण्ड स्वभावके बलसे प्रतिसमय निर्मलता बढ़ती है, मलिनताकी हानि होती है और अशुद्धतामें निमित्तभूत कर्मकी निर्जरा होती है। बीचमें जो राग रह जाता है उसमें देव, गुरु, शास्त्रकी भक्ति तथा व्रत, संयम इत्यादि शुभभावके निमित्त होते हैं, किंतु निमित्तसे राग नहीं होता और निमित्तके लक्ष्यके बिना राग नहीं होता। स्वभावमें भेदका निषेध है, रागरहित गुण पर पड़ी हुई दृष्टि गुणकारी है। जो राग रह गया है उसके प्रति न आदर है, न स्वामित्व है और न कर्तृत्व है।

निमित्त अथवा अवलम्बनरूप राग लाभदायक नहीं है, सहायक नहीं है, किन्तु स्वावलम्बी स्वभावकी ओर दृष्टिके बलसे जितना राग दूर होगया उतना लाभ होता है; अवशिष्ट शुभराग भी हानिकारक है। जहाँ पुरुषार्थकी अशक्ति होती है वहाँ रागका भाग होता है किन्तु उसमें ज्ञानीके कर्तृत्वबुद्धि नहीं होती। मैं राग नहीं हूँ, विकार करने योग्य नहीं है; इसप्रकार विरोधभावका निषेध करनेवाला भाव यथार्थ श्रद्धाकी रुचि हो तो शुभभाव है। स्वलक्ष्यसे रागका निषेध और स्वभावका आदर करने वाला जो भाव है वह निमित्त और रागकी अपेक्षासे रहित भाव है; उसमें आँशिक अवलम्बनका भेद तोड़कर यथार्थका जो बल प्राप्त होता है वह निश्चय-सम्यक्दर्शनका कारण होता है।

संवरका अर्थ है निश्चयसम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव द्वारा पुण्य-पापके भावोंको रोकना, उन विकारी भावोंको रोकना मेरे पुरुषार्थके आधीन है। उसमें कोई दूसरा सहायता करे तब गुण प्रगट हों ऐसी बात नहीं है। शुद्धस्वभावके आश्रयसे संवरभावकी उत्पत्ति और आस्रवरूप विकारी भावका रुकना होता है तथा कर्म उनके कारणसे आते हुए रुक जाते हैं। जड़कर्मोंको बांधना, रोकना या छोड़ना मेरे आधीन नहीं है।

निर्जरा:—स्वयं रागके उदयमें युक्त नहीं हुआ और मैं ज्ञान हूँ इसप्रकार स्वरूपमें स्थिर रहा तब वहाँ पूर्वकर्मका उदय अभाव

रूप निर्जरामें निमित्त कहलाता है । विकारका अभाव करके शुद्धिकी वृद्धि करना सो भावनिर्जरा है और कर्मका आंशिक अभाव होना सो द्रव्यनिर्जरा है । भीतर कर्ममें किसप्रकारका जोड़-मेल होता है यह दिखाई नहीं देता, किन्तु निमित्त कर्ममें जितना जोड़-मेल होता है उतनी राग-द्वेषकी आकुलतारूप भावनाका अनुभव होने पर ज्ञानसे माना जा सकता है । जैसे परमें सुख माननेकी कल्पना अरूपी है, वह सुख परमें देखकर नहीं माना तथापि उसमें वह निःसंदेहता मान बैठा है । वह ऐसा संदेह नहीं करता कि उसमें जो सुख है उसको यदि अपनी दृष्टिसे देखूँ तभी मानूँगा । कपटका, आकुलताका भाव आंखोंसे दिखाई नहीं देता तथापि उसे मानता है, उसे परमें देखे बिना निःसंदेह मानता है । उस मान्यताका भाव अपना है । उस मान्यताको बदलकर अपनेमें जोड़े तो आत्मामें अरूपी भावको मान सकता है कि परलक्ष्यमें वर्तमान अवस्थासे न रुका होऊँ तो रागकी उत्पत्ति न हो । परमें निःसंदेहरूपसे सुख मान रखा है उस मान्यताको बदलकर अविरोधी स्वभावको माने तो स्वयं इसप्रकार निःसंदेह हो सकता है कि मैं त्रिकाल स्वाधीन हूँ, पूर्ण हूँ । निर्जरा प्रत्यक्ष नहीं देखी जा सकती किन्तु अनुभवमें जो निराकुल शांतिकी वृद्धि होती है उतना तो स्वतः निश्चित् होता है, और यह अनुमान हो सकता है कि उससे उसके विरोधी तत्त्व निमित्तकारणका अभाव हुआ है । प्रत्यक्ष तो केवलज्ञानमें दिखाई देता है । भीतर जो सूक्ष्मकर्म टल गये हैं उन्हें देखनेका मेरा काम नहीं है किन्तु पुरुषार्थसे अपने ध्रुवस्वभावको स्वीकार करके जितना स्वभावकी ओर एकाग्रताकी शक्तिको लगता है उतना वर्तमानमें फल प्राप्त होता है । यह निःसंदेहता स्वभावके आश्रयसे आती है ।

यदि कोई कहे कि मैं पुरुषार्थ तो बहुत करता हूँ किन्तु पूर्वकर्मके उदयका बहुत बल है सो इच्छित फल नहीं मिल पाता तो यह बात मिथ्या है, क्योंकि कारण तो बहुतसा हो और कार्य (उसका

फल) कम हो ऐसा नहीं होसकता। अपने पुरुषार्थकी कमीको न देखकर पर-निमित्तके वलको देखता है, यही सबसे बड़ा गड़बड़ घोटाला है। निमित्तदृष्टि संसार है, और स्वतंत्र उपादान-स्वभाव-दृष्टि मोक्ष है।

प्रश्नः—यदि यह सच है तो शास्त्रमें ऐसा क्यों लिखा है कि वीर्यांतराय कर्मका आवरण आत्मवीर्यको रोकता है ?

उत्तरः—कोई किसीको नही रोकता। जव स्वयं अपने विपरीत पुरुषार्थसे हीन शक्तिको लेकर अटक जाता है तव निमित्तरूपसे जो कर्म उपस्थित होता है उसमें रोकनेका आरोप कर दिया जाता है। यह तो 'घीका घड़ा' कहनेके समान व्यवहारकी लोकप्रसिद्ध कथनशैली है, किन्तु वैसा अर्थ नहीं होता। अपने भावानुसार निमित्तमें आरोप करके व्यवहारसे वात कही है। जो यह कहता है कि त्रिकालमें निमित्तसे कोई रुकता है तो वह झूठा है। यदि कोई अन्य वस्तु अपनेको रोकती हो या हानि पहुँचाती हो तो उसका अर्थ यह हुआ कि वह स्वयं निर्माल्य है। वह स्वयं ही परलक्ष्य करके विपरीत पुरुषार्थसे अपनेको हीन मानता है। यदि स्वयं ज्ञानस्वभावरूपमें रहे तो विकास होना चाहिये, किन्तु उसकी जगह परमें अच्छा-बुरा मानकर जव स्वयं रुक जाता है तव कर्ममें निमित्तताका आरोप करता है।

मात्र आत्मामें अशुद्धताको दूर करूँ ऐसा विकल्प कहाँसे आता है? अकेलेमें टालनेकी वात नहीं होती किन्तु जहाँ पर-निमित्तमें रागसे रुक गया वहाँ निमित्ताधीन किये गये विकारभावको दूर करनेका विचार होता है। भीतर स्वभावरूपसे त्रिकाल ध्रुव अनंत गुणकी शक्ति है उस अखंडके वलसे शक्तिमेंसे निर्मल अवस्था प्रगट होती है। संसारकी विकारी अवस्थाकी स्थिति एक-एक समयमात्रकी है वह प्रति समय नई वर्तमान योग्यताको लेकर (निमित्ताधीन) आत्मा स्वयं जैसा करता है वैसा होता रहता है, निमित्त कुछ नहीं कराता।

जैसे पानीके ऊपर तेलकी बूँद तैरती रहती है उसीप्रकार सम्पूर्ण ध्रुव-स्वभाव पर वर्तमान एक-एक अवस्थामात्रका जो विकारी भाव है सो तैरता रहता है। ध्रुवस्वभावमें वह प्रतिष्ठाको नहीं पाता। विकार-में जीवकी योग्यता और निमित्तकी उपस्थिति होती है। जब दोनोंको स्वतंत्र स्वीकार करते हैं तब नवतत्त्वका ज्ञान मनके रागके द्वारा यथार्थ किया गया कहलाता है।

बंधः—आत्मा स्वयं अपने विकारीभावसे बंधने योग्य है। वह बंधने योग्य अपनी जो अवस्था है सो भावबंध और उसका निमित्त प्राप्त करके अपनी योग्यतासे जो नये कर्म बंधते हैं सो द्रव्यबंध है।

कोई किसीको नहीं बांधता। जीव बंधनरूप विकार करके, परो-न्मुख होकर जब अच्छे-बुरे भावमें अटक जाता है तब पर निमित्त होनेका आरोप होता है, और यदि स्वलक्ष्यमें स्थिर रहे तो निर्मल शक्तिका विकास होता है। विकासरूप न होकर पर-विषयमें विकार भावसे योग करके अर्थात् वर्तमान अवस्थाको उसी समय हीन कर दिया सो भावबंध है, वही परमार्थ आवरण है। उस विकाररूप होने वाले आत्मा-की जो राग-द्वेषरूप अवस्था होती है सो भावकर्म है। प्रथम समयसे दूसरे समयकी जो अरूपी अवस्था विकाररूपमें परिणत होती है सो क्रिया है; इस भावबंधका कर्त्ता अज्ञानतासे जीव है। जीव न तो जड़कर्मका कर्त्ता है और न कर्मोंने जीवको रोक रखा है।

वर्तमान एकसमयवर्ती स्थितिमें होने वाले नये बंधको स्वतः रोकनेकी शक्ति जीवमें होती है। प्रगट विकारी अवस्थाके समय भी प्रतिसमय द्रव्यमें त्रैकालिक पूर्ण शक्तिसे अखण्डता है, जो ऐसा नहीं मानता उसने अपने स्वभावको हीन मान रखा है। इसकी त्रैकालिकताको न माननेका भाव ही बंध योग्य है; जड़कर्मने नहीं बांध रखा है। अभीतक शास्त्रके नाम पर ऐसे पकड़े रखता रहा है कि कर्म आवरण करते हैं, कर्म बांधते हैं, इसलिये इन्हें बदलना [illegible]

नवतत्त्वके भेद नहीं होते। मोक्ष और मोक्षका मार्ग दोनों व्यवहार-नयके विषयमें जाते हैं।

प्रश्न:—नवतत्त्वोंमें मोक्ष तो साध्य है, उसे भी विकल्प मानकर क्यों अलग कर देना चाहिये?

उत्तर:—संसार और मोक्ष दोनों पर्याय हैं। संसार कर्मके सद्भावकी अपेक्षारूप पर्याय है और मोक्ष उस कर्मके अभावकी अपेक्षारूप पर्याय है। आत्मा मोक्षपर्याय जितना नहीं है। मोक्षपर्याय तो कर्मके अभावका फल है इसलिये वह व्यवहारसे साध्य कहलाती है, किन्तु निश्चयसे साध्य तो ध्रुवस्वभाव है। परमार्थ साध्यरूप अखण्ड एक स्वभावके बलसे मोक्षपर्याय सहज ही प्रगट होती है, और पर्याय तो व्यवहार है, उसकी अखण्ड स्वभावमें गौणता है; क्षणिक पर्याय पर भार नहीं देना है, भार तो वस्तुमें होता है।

द्रव्यमें त्रिकालकी समस्त पर्याय वर्तमानरूपमें हैं, उसमें कोई पर्याय भूत अथवा भविष्यमें नहीं गई है, तथापि वस्तुमें प्रत्येक गुणकी एकसमयमें एक पर्याय प्रगट होती है और वह प्रत्येक अवस्थाके समय शक्तिरूपमें अनन्त गुण ध्रुवरूपमें विद्यमान हैं, इसलिये अनन्त शक्तिके रूपमें वस्तु वर्तमानमें पूर्ण है। आत्माका स्वभाव वर्तमान एक-एक समयमें त्रैकालिक शक्तिसे परिपूर्ण है। जो विकारी दशा होती है उसका द्रव्यमें प्रवेश नहीं है। स्वभाव विकारका नाशक है इस-लिये नवतत्त्वके विकल्प अभूतार्थ है।

मोक्ष:- जो विकारसे और परसे मुक्त होनेकी अपेक्षा है। एक-रूप ध्रुवस्वभावके बलसे जो पूर्ण निर्मल अवस्था उत्पन्न होती है और पूर्ण अशुद्ध अवस्थाका नाश होता है सो भावमोक्ष और इसका निमित्त प्राप्त करके अपनी योग्यतासे जो कर्मोंके रजकण छूट जाते हैं सो द्रव्यमोक्ष है। अपने-अपने कारणसे स्वतंत्र कार्य होता है। निमित्तसे हुआ है ऐसा कहना व्यवहार है, किन्तु निमित्तसे किसीको [illegible]

होती है ऐसा मानना सो मिथ्यात्व है। कर्मका संयोग था वह छूट गया सो जीवमें अभावरूपी निमित्तकारण (मोक्षको करने वाला) अजीव और जो कर्म छूट गये वे मुझे निमित्त हुए इसप्रकार नास्तिरूप (अभावरूप) आरोपसे जीव व्यवहारसे मोक्ष होने योग्य है।

जीव-अजीवमें स्वतंत्र उपादानकी योग्यता, निमित्त-नैमित्तिकता तथा नवतत्त्वके विकल्प हैं यह बताकर मनके द्वारा स्वतंत्रताका निश्चय कराया है; किसीका कारण-कार्यरूप पराधीनपन नहीं बताया है। मात्र स्वभावमें नवतत्त्वके भेद नहीं होते। निमित्तकी अपेक्षासे, व्यवहारसे (अवस्थामें) नौ अथवा सात भेद होते हैं।

जिसे हित करना हो उसे सर्वप्रथम क्या करना चाहिये, सो कहते हैं। निराकुल सुख आत्मामें है। शरीर आदिकी अनुकूलतामें (अनुकूल संयोगमें) सुख नहीं है, तथापि अज्ञानी जीव उसमें सुख मान रहा है, किन्तु परके आश्रयकी पराधीनतामें त्रिकाल भी सुख नहीं है। जिसने अपनेमें सुखका अवलोकन नहीं किया उसे पर-संयोगकी महत्ता मालूम होती है। जो यह मानता है कि पर-संयोगके आश्रयसे सुख होता है वह अपनेको निर्माल्य, रंक और परमुखापेक्षी मानता है, यह अज्ञानभावकी मूढ़तासे मानी हुई कल्पना है। जो परको हितरूप मानता है वह पराश्रयरहित अविकारी आत्मस्वभावको हितरूप नहीं मानता।

पर मेरा है, परमें सुख है, मैं परका कुछ कर सकता हूँ, ऐसी विपरीत कल्पना करनेवाला अपना विपरीत ज्ञान है। जड़-देहादिक भूल नहीं कराते। आत्मा परसे भिन्न नित्य पदार्थ है, स्वयं जिस स्वभावमें है उसकी प्रतीति नहीं है इसलिये परमें कहीं भी अपने अस्तित्वकी, अपने सुखकी कल्पना कर लेता है। उस अज्ञानसे चौरासी लाखके अवतार होते हैं। स्वतंत्र स्वभावको यथार्थतया सत्समागमसे पहिचानकर उस विपरीत मान्यतारूप भूलको दूर कर देने पर नित्य स्वभावाश्रित निर्मल आनन्दकी उत्पत्ति होती है। वर्तमान विकारी अवस्थाके समय

भी बाह्यभावकी मान्यताको दूर करके देखे तो उस एक अवस्थाके अतिरिक्त सम्पूर्ण निर्मल स्वभाव त्रिकाल शुद्धरूपमें वर्तमानमें भी मालूम होता है। पामरता, अशरणभाव, अवगुणभाव पामरताकी भूमिकामें रहकर दूर नहीं किया जासकता। पामरताके समय ही तुच्छता रहित ध्रुवस्वभाव पूर्ण महिमारूप विद्यमान होता है।

जिसने पूर्ण निर्मल परमात्मदशा प्रगट की है वह साक्षात् भगवान है। मैं भी शक्तिरूपसे पूर्ण भगवान हूँ। इसप्रकार सत्समागमसे जानकर यदि पूर्ण स्वाधीन ध्रुवस्वभावकी महिमाको लाये तो अपनेमें कल्पित हीनता और स्वामित्व दृष्टिमेंसे छूट जाता है। पश्चात् वर्तमान पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण परमें रुक जाता था सो उस रुचि—भावके कारण नहीं रुकता है। वह स्वभावके बलसे राग-द्वेषको तोड़ना चाहता है; विकारका अर्थात् रागकी वृत्तिका स्वामित्व नहीं करता।

जो विकारका नाश करना चाहता है वह विकारस्वरूप नहीं होसकता। विकारको जाननेवाला क्षणिक विकाररूप नहीं है। यदि विकारको दूर करनेकी शक्ति आत्मामें न हो तो जो नहीं है वह जगतमें त्रिकालमें भी नहीं होसकता; किन्तु अनन्त ज्ञानी पूर्ण, पवित्र उत्कृष्ट, परमात्मदशाको प्रगट कर चुके हैं। निरुपाधिभावके बलसे अमुक अंशमें रागको दूर करके उसी शक्तिसे राग न होने दे या पूर्ण पुरुषार्थसे अंशमात्र राग-विकार न होने दे ऐसी स्वतन्त्र शक्ति प्रतिसमय प्रत्येक आत्मामें विद्यमान है।

यदि कोई जीव किसी दूसरेके दोषोंको दूर कर सकता तो तो कोई दूसरा जीव नरकमें या दुःखमें भी डाल सकता है। किन्तु वास्तवमें जीवके ऐसी पराधीनता नहीं है। दोषोंको दूर करनेमें स्वयं अकेला ही समर्थ है जो स्वयं निराकुल, और स्वतन्त्र [illegible]-से भी वर्तमानमें परिपूर्ण है। जो पर-स्वरूप मान रहा है सो [illegible]-[illegible] दृष्टिकी भूल है, और वही संसार है। [illegible] ऐसे [illegible]के

वलसे पामरता दूर हो जाती है कि मैं पूर्ण प्रभुता वाला हूँ तो उसी समय आंशिक निर्मल पवित्रता प्रगट होती है।

देह पर दृष्टि रखकर विचार करता है इसलिये वह प्रतिभासित नहीं होता कि भगवान आत्मा कीड़े-मकोड़ेमें भी पूर्ण स्वतंत्र है, क्योंकि अपनी सर्वोत्कृष्ट महिमा निजको निजमें प्रतीत नहीं हुई इसीलिये अपनी दृष्टिसे अपनेको हीन, अपूर्ण, विकारी मानता है। देहादिक वर्तमान संयोगको ही मानने वाला यह नहीं मानता कि मैं वर्तमानमें भी त्रिकाल-स्थायी पूर्ण प्रभु हूँ, इसलिये वह अज्ञानी है; क्योंकि अपनेमें सुख नहीं देख सका इसलिये देहबुद्धिसे किसीमें अनुकूलताकी कल्पना करके अच्छा मानता है और किसीमें प्रतिकूलताकी कल्पना करके बुरा मानता है।

स्वयं ज्ञाता होकर भी अपनेको हीन मानकर पुण्य और देहादिक क्षणिक संयोगी वस्तुओंको महत्व देता है। यदि बिच्छू कपड़ेको काट खाता है तो दुःख नहीं मानता किन्तु शरीरको काटता है तो दुःख मानता है; किन्तु वस्त्र और शरीर दोनों त्रिकालमें भी अपनी वस्तु नहीं है। क्योंकि देह पर (संयोग पर) दृष्टि है इसलिये वह मानता है कि जो देखनेवाला है सो मैं नहीं हूँ किन्तु जो वस्तु दिखाई देती है वह मैं हूँ। मूर्ख प्राणी शरीरको लक्ष करके कहता है कि 'यदि तू अच्छा रहे तो मुझे सुख हो,' किन्तु शरीरको अथवा जड़ इन्द्रियको कुछ खबर ही नहीं होती, फिर भी मूर्ख प्राणी यह मानता है कि उनके कारण मुझे सुख-दुःख होता है। एक तत्त्वको दूसरेका अवलम्बन लेना पड़े सो वह सुख नहीं है। जो यह मानता है कि परका आश्रय आवश्यक है, वह अपने स्वतंत्र पवित्र स्वभावकी हत्या करता है और यही हिंसा है।

यदि अविनाशी स्वतंत्र पूर्ण स्वभावको अपूर्वरूपमें न जाने और अन्तरंगमें उसकी महिमाको न लाये तो मरकर कहाँ जायगा यह विचार करो! जैसे समुद्रमें फेंका गया मोती मिलना कठिन है उसीप्रकार

मनुष्यभवको खोकर चौरासीलाखके अवतारोंमें परिभ्रमण करते हुए सत्का सुनना दुर्लभ होजायगा।

जैसे मात्र सोना अशुद्ध या हीन नहीं कहा जाता किन्तु वह तांबा इत्यादिके संयोगसे अशुद्ध अथवा सौटंचसे उतरता हुआ कहलाता है तथापि यदि वह संयोगके समय भी सौटंची शुद्ध सोना न हो तो कदापि शुद्ध नहीं होसकता; इसीप्रकार मात्र चैतन्य आत्मामें स्वभाव-से विकार नहीं हो सकता, किन्तु वर्तमान अवस्थामें निमित्त-संयोगाधीन विकारी अवस्था नवीन होती है। इस संयोगाधीन दृष्टि-को छोड़कर यदि अखंड शुद्ध ध्रुव पर दृष्टि करे तो निर्मलता प्रगट होती है।

यदि अकेले तत्त्वमें पर-निमित्तका संयोग हुए विना विकार हो तो विकार स्वभाव कहलायेगा। पर-संयोगमें कर्त्ताभावसे (अपनेपनके भावसे) अटककर जैसे शुभाशुभ भाव जिस रससे वर्तमान अवस्थामें जीव करता है उसका फल उसी समय अपनेमें आकुलताके रूपमें होता है, और उसके निमित्तसे बंधने वाले संयोगीकर्मका फल बाद-में संयोगरूपसे होता है।

अज्ञानीकी बाह्यमें देह, स्त्री, आदि पर दृष्टि है और भीतर सूक्ष्म कर्म पर दृष्टि है। यथार्थ नवतत्त्वोंको शुभभावसे जानना भी बाह्यभाव है। इस बाह्यभावसे अन्तरंगमें पैठ नहीं होसकती। मात्र आत्मामें अपने आप नवतत्त्वकी सिद्धि नहीं होती।

बाह्य (स्थूल) दृष्टिसे देखा जाय तो जीव पुद्गलकी अनादि बंधपर्यायके समीप जाकर एकरूपसे अनुभव करने पर यह नवतत्त्व भूतार्थ है, सत्यार्थ है। यहां समीपका अर्थ क्षेत्रसे नहीं किन्तु उसके एकमेकपनेकी मान्यतारूप भावकी एकाग्रता होता है। जिसे अनादि-कालसे निज आत्मस्वभावकी खबर नहीं है उसे पर-संयोगका (नव-भेदके विकल्पका) जो अनुभव होता है वह भूतार्थ है, भ्रम नहीं है;

जब कोई व्यक्ति दानमें पैसा नहीं देना चाहता तब संस्थाको दोष देता है और कहता है कि 'मेरे भाव दान देनेके तो है, किन्तु आपकी संस्था वाले व्यवस्था ठीक नहीं रखते' इस प्रकार तृष्णाको कम न करनेके लिये बातको गोलमगोल कर देता है, किन्तु यह स्पष्ट क्यों नहीं कह देता कि मुझे कुछ देना नहीं है। वह संस्था सुधरे या बिगड़े, उस पर तेरी तृष्णाके बढ़ने या घटनेका आधार नहीं है। जिसे दानादिमें मान चाहिये है अथवा दानके बाद जो आशा रखता है उसके वर्तमान तृष्णारूप पापभाव होता है। जो दानमें तृष्णाको कम करता है उसका वह भाव अपने पर ही अवलंबित है। इसप्रकार परिणामका व्यवहारसे स्वतंत्र कर्तृत्व जानकर जैसे नवतत्त्व हैं उन्हें वैसा जाने तो व्यवहारशुद्धि होती है, किन्तु उससे जन्म-मरण नहीं मिटता, क्योंकि वह पुण्यभाव है।

असंयोगी निर्विकार स्वभाव भिन्न है, ऐसी यथार्थ श्रद्धा होनेके बाद वर्तमान अशक्तिमें राग होता है, और उसमें कर्तृत्वबुद्धिको छोड़कर पापसे बचनेके लिये पुण्यभावकी शुभवृत्ति करता है, किन्तु उसे निमित्ताधीन विकारी जानकर ज्ञानी उसका स्वामी नहीं होता।

कोई शास्त्रके पहाड़े रटकर विपरीत अर्थ ग्रहण करे कि पहलेके कठिन कर्म आड़े जाते हैं, निकाचित कर्मका बल अधिक है, इसलिये संसारके भोग नहीं छूटते। इसप्रकार गोलमाल करने वालेके व्यवहार-नीतिका भी ठिकाना नहीं है। अपने भावसे स्वभावको निर्मलताको भूलकर मैंने दोष किया है और मैं उसे दूर करके पवित्र आनन्दभाव कर सकता हूँ, इसप्रकार यदि अपनी स्वतंत्रताको मनसे स्वीकार करे तो वह आँगनमें आया हुआ माना जायेगा।

अब आगे यह कथन है कि विकल्पको अंशतः दूर करके ध्रुव-स्वभावके लक्ष्यसे शांति कैसे प्रगट की जाये और अतीन्द्रिय स्वरूप-को कैसे जानना चाहिये।

आत्मामें अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि गुण भरे हुए हैं, जो कि अपने ही कारणसे हैं, वे किसी निमित्तको लेकर प्रगट नहीं होते। निमित्तसे अथवा रागादि विकारसे अविकारी दशा नहीं होसकती। आत्माका स्वभाव कर्मसंयोगसे रहित, निर्विकार और अभेद है। आत्मामें जो कर्मसंयोगाधीन क्षणिक विकारी अवस्था होती है सो अभूतार्थ है। मनके द्वारा जो शुभविकल्परूप नवतत्त्वोंका निर्णय होता है सो वह आत्माके मूलस्वभावका निर्णय नहीं है। एकरूप निर्मल स्वभावकी यथार्थ श्रद्धा होनेसे पूर्व मनके द्वारा जो इसप्रकार नवतत्त्वके भेदका विचार करता है कि मैं जीव हूँ, परसे भिन्न हूँ, अजीव नहीं हूँ, स्वभावकी प्रतीतिसे संवर होता है इत्यादि; वह विकल्प शुभराग है। एकरूप ज्ञानस्वभावमें स्थिर होना चाहिये, उसकी जगह पर-सम्बन्धसे उत्थान होता है, जो आदरणीय नहीं है; तथापि मनसे उस यथार्थ नवतत्त्वका विचार किये बिना स्वभावके आंगनमें नहीं आया जा सकता।

आत्मा देहादिकी क्रिया नहीं कर सकता। देहादिसे अथवा पर-जीवसे प्रत्येक आत्मा त्रिकाल भिन्न ही है। परके सम्बन्धसे राग-द्वेष और ममताका जो भाव अपनी अवस्थामें स्वयं करता है, उस क्षणिक अवस्थाके भेदसे भी आत्मा परमार्थतः भिन्न है। स्वभाव-के लक्ष्यसे हटकर मैं पुण्य-पापके भाव परलक्ष्यसे करूँ तो वे होते हैं, किन्तु मेरी योग्यतासे वह वर्तमानमें सदा विकार होता है। बन्धरूप विकारभाव और अविकारी संवर, निर्जरा, मोक्षका भाव मेरी योग्यतासे होता है; उसे कोई दूसरा नहीं कराता। निमित्तका संयोग-वियोग उसकी योग्यतासे होता है, इसप्रकार स्व-परकी स्वतंत्रता-का निर्णय नवतत्त्वके भेदसे करे तो जीव अभी प्राथमिक भूमिकाके समीप आता है। उसके शुभरागमें रुक जाना पुण्यका कारण है; वह आत्माके धर्मका अथवा शान्तिका कारण नहीं है; क्योंकि पहले ऐसे मनके स्थूल विषयसे आत्मा सच्चे नवतत्त्वोंके पुण्यरूप

वर्तमान संवर, निर्जरा और मोक्ष-पर्याय भेदरूप है, एकरूप आत्मा अनादि-अनंत है। निर्मल आनंदरूप मोक्ष-अवस्था आत्मामें अनन्त-काल तक रहती है, किन्तु आत्मा मात्र मोक्ष-अवस्थाके भेद जितना नहीं है। संसार और मोक्षकी त्रैकालिक अवस्था मिलकर प्रत्येक आत्मा वर्तमानमें एकरूप अखण्ड शक्तिसे परिपूर्ण है। सम्पूर्ण वस्तुस्वभावकी परमार्थदृष्टिमें संसार और मोक्ष-पर्यायका भेद नहीं है। मात्र ज्ञायकस्वभाव (पारिणामिक भाव, निर्मल स्वभावभाव) उस श्रद्धाका अखण्ड विषय है, निश्चय ध्येय है।

शुद्धनयसे नवतत्त्वके विकल्पको गौण करके ज्ञायक स्वभावभाव-से एकाग्र होने पर नव भेद नहीं होते, पानीके एकांत शीतलस्वभाव-को देखने पर अग्निके निमित्तसे होने वाली उष्ण अवस्था नहीं है; इसप्रकार मात्र पारिणामिक ज्ञायकस्वभावको निरपेक्ष ध्रुवदृष्टिसे देखने पर नव प्रकारके भेद नहीं दिखाई देते।

इस बातको समझना भले ही अति सूक्ष्म मालूम हो, किन्तु प्रभु! यह तेरी बात है। तुझे अपना नित्यस्वभाव कठिन मालूम होता है, और वह समझमें नहीं आ सकता ऐसा न मान; तेरी महिमाकी क्या बात कही जाये! सर्वज्ञ वीतरागकी वाणीमें तू भलीभाँति नहीं आ सका। कहा भी है कि:—

जो पद दीखा सर्वज्ञोंके ज्ञानमें,
कह न सके उसको भी श्री भगवान हैं;
उस स्वरूपको वाणी अन्य तो क्या कहे?
अनुभव–गोचर मात्र रहा वह ज्ञान है।

(अपूर्व अवसर)

[यह सुअवसरकी–पूर्ण पुरुषार्थकी भावना है]

आत्मस्वरूप ज्ञानमें परिपूर्ण आता है, वाणीमें पूरा नहीं आता, यह कहकर तेरी अपूर्व महिमाका वर्णन किया है। (यद्यपि तीर्थंकर

की वाणी द्वारा सम्पूर्ण भाव समझमें आते हैं) जो कोई तेरी महिमा गाता है उसका विकल्प-वाणीमें युक्त होना, रुक जाता है, इसलिये यह कहा है कि—उसे वाणीमें नहीं गा सकते। अनुभवसे पूर्ण स्वभाव जैसा है वैसा ही परोक्ष ज्ञानसे माना जासकता है। हे प्रभु ! तू ऐसा त्रिकाल परिपूर्ण भगवान आत्मा है कि—सर्वज्ञकी वाणीमें भी तेरी महिमा पूर्णतया नहीं आती, तथापि तू निमित्ताधीन बाह्यदृष्टिने अपनी महिमाको भूलकर पुण्य-पापमें रुककर दूसरेकी आधीनतामें सुख मानकर चौरासीके परिभ्रमणमें अनन्त दुःख पा रहा है। यदि उस दुःखकी बात ज्ञानीके निकट जाकर सुने तो भवका दुःख मालूम हो किन्तु तू तो विपरीततामें ही सुभट बनकर फिर रहा है।

यह अज्ञानी जीव वर्तमान पुण्यसे प्राप्त अनुकूलतासे ही बट जाता है—उसीमें तन्मय रहता है, मानो यह शरीर सदा स्थिर रहेगा। यदि किसीको केन्सर नामक असाध्य रोग होजाता है अथवा किसीका हार्टफेल हो जाये तो वह समझता है कि यह तो अमुक व्यक्तिको हुआ है, मुझे थोड़े ही होना है। इसप्रकार मूढ़तामें निःशंक होकर सुख मानता है। घरमें लड़के 'पिताजी-पिताजी' कहकर पुकारते हैं और सभी अनुकूल दिखाई देते हैं किन्तु वह यह नहीं समझता कि वे सब यह मोहकी चेष्टा-रागको लेकर कहते हैं। और इसीलिये वह मानता है कि हमारे लड़के स्वार्थी नहीं हैं, स्त्री, पुत्रादि बहुत भले हैं। किन्तु वह यह नहीं समझता कि अरे ! वे किसीके लिये जिम्मेदार नहीं हैं, किन्तु अपने रागमें जिन्हें जो अनुकूल लगता है वे उसीके गीत गाते हैं।

जो वर्तमान अवस्थाको ही सर्वस्व मानते हैं भीतर ही भीतर प्रतिक्षण स्वभावकी मूढ़तासे अपना भाव-मरण कर रहे हैं, वे इस ओर दृष्टि ही नहीं डालते। हे भाई ! यह सब यों ही पड़े रहेंगे और तू अकेला ही जायेगा, अथवा समस्त संयोग तुझे छोड़कर चले जायेंगे इसलिये एकबार शान्तचित्तसे अपनी महिमाको सुन। [illegible]

के सब फल थोथे हैं। जैसे धुएँको पकड़कर उससे कोई महल नहीं बनाया जासकता उसीप्रकार परवस्तुमें तेरी कोई सफलता नहीं होसकती, और परवस्तुसे सुख नहीं मिल सकता; इसप्रकार विचार करके सत्यका निर्णय कर। एकबार प्रसन्न-चित्तसे अपने पवित्र मोक्ष-स्वभावकी बात सुनकर उसे स्वीकार कर, उससे क्रमशः आत्मस्वभावकी सम्पूर्ण पर्याय प्रगट हो जायेगी।

यथार्थ स्वभावको सुनकर अन्तरंगसे स्वीकार करके जो अंशतः यथार्थकी रुचिमें जा खड़ा होता है। वह फिर वापिस नहीं होता। पहले वह बाह्य-पदार्थोंकी रुचिमें रागपूर्वक बारंबार एकाग्रता करता था, और अब वही भीतर ही भीतर अपूर्व रुचिभावसे गुणके साथ एकाग्रताको रटता रहता है। जो एकबार सत्समागम करके स्वभावकी रुचिसे जाग्रत हो जाता है और उस रुचिमें दृढ़तापूर्वक जा खड़ा होता है, वह सब ओरसे अविरोधी परमार्थको प्राप्त कर लेता है; क्योंकि स्वभाव तो विकारका नाशक है, रक्षक नहीं। इस स्वतंत्र स्वभाव-के लिये मन, वाणी, शरीर अथवा विकल्पकी सहायता नहीं होती। स्वभावके लिये किसी बाह्य साधनकी आवश्यकता नहीं होती। इसप्रकार सम्यक्‌दर्शन होनेसे पूर्व एक मात्र निरावलम्बी स्वभावकी स्वीकृति होनी चाहिये।

जो आत्माके पूर्ण हितरूप स्वभावको यथार्थतया समझता है और मानता है वही सज्जन है। जो राग-द्वेष होता है सो स्वभावकी अपेक्षासे असत् है, चिरस्थायी नहीं है। स्वभावके लक्ष्यसे राग-द्वेषको क्षण भरमें बदलकर पवित्र भाव किया जासकता है, क्योंकि आत्मामें राग-द्वेषका नाशक स्वभाव प्रतिसमय विद्यमान है। यदि उसीको माने, जाने और उसमें स्थिर होजाये तो राग न तो स्वभावमें था और न नया होसकता है। स्वभावकी शक्तिमें जितना स्थिर हुआ जाये उतना ही नवीन राग उत्पन्न नहीं होता।

प्रश्नः—पुण्य तो साथी है, उसके बिना आत्मा अकेला क्या करेगा ?

उत्तरः—पुण्यका निषेध करके स्वभावमें जो सम्पूर्ण शक्ति है उसकी रुचिके बलसे जीव अकेला ही पहलेसे मोक्षमार्गका प्रारम्भ करता है। बाह्य दृष्टांतको लें तो-यदि चलनेवाला अपने पैरोंसे चले तो साथी (मार्गदर्शक) निमित्त कहलाता है, किन्तु यहाँ अन्तरंग अरूपी मार्गमें किसीका अवलम्बन नहीं है। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्रमें त्रिकालमें भी कोई बाह्य साधन नहीं है। अपनी शक्तिमें वैसी तत्परता हो तो वहाँ तदनुकूल संयोग अपने आप उपस्थित होते हैं। आत्मा ऐसा पराधीन नहीं है कि उसके लिये निमित्तकी प्रतीक्षा करनी पड़े।

प्रश्नः—जब उपदेश सुने तभी तो ज्ञान होगा ?

उत्तरः—उपदेश सुननेसे ज्ञान नहीं होता; यदि ऐसा होता हो तो सभी श्रोताओंको एक सा ज्ञान होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता; लेकिन जिसमें जितनी योग्यता है वह स्वयं उतना समझता है; उसमें निमित्तसे ज्ञान होनेकी बात नहीं है। कोई चाहे जितना समझाये, किन्तु स्वयं सत्यको समझकर स्वयं ही निर्णय करना चाहिये।

नवतत्त्वमें विकारी अवस्थाके भेदको दूर करके (गौण करके) अखण्ड, ध्रुव, ज्ञायकस्वभावको भूतार्थ दृष्टिसे देखने पर एक जीव ही प्रकाशमान है। इसप्रकार अन्तरंग लक्ष्यकी एकाग्रतासे देखे तो ज्ञायकभाव जीव है, और जीवके विकारका भेद अजीव है। 'मैं जीव हूँ' इसप्रकार मनके योगसे जो विकल्प होता है उसे यहाँ जीव-तत्त्व कहा है। जैसे जबतक राजपुत्र राज्यासन पर नहीं बैठा तबतक वह ऐसा विकल्प करता है कि—मैं राजा होने वाला हूँ, किन्तु जब राज्यासनारूढ़ होजाता है, और उसीकी आज्ञा चलती है तब तत्सम्बन्धी विकल्प नहीं रहता; इसीप्रकार मैं परसे भिन्न आत्मा हूँ, अजीव नहीं हूँ ऐसे विकल्पसे प्रारम्भ करनेवाले अध्यात्मके लिये [illegible]

विचार करता है, पश्चात् जब स्वभावमें अनुभवयुक्त प्रतीति होजाती है तब वहाँ नवतत्त्वके विकल्प गौण हो जाने पर आत्माको ज्ञानस्वरूप अखण्ड मानता है, उसे सम्यक्दर्शन कहते हैं। इसके निश्चयके कारणसे स्वभावमें निःशंक होनेके बाद श्रद्धा सम्बन्धी विकल्प नहीं उठते। यदि पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण रागको जल्दी दूर न कर सके तो नवतत्त्वके विशेष ज्ञानकी निर्मलताका विचार करता है, किन्तु वह रागको करने योग्य (उपादेय) नहीं मानता। वह विकारनाशक स्वभावकी प्रतीतिके बलसे रागको दूर करता है।

सम्यक्दर्शन आत्मामें अनंत केवलज्ञानको प्रगट करनेकी पीढ़ीका प्रारम्भ है। मैं पूर्ण अरागी हूँ इसप्रकार स्वभावकी अखण्ड दृष्टि होने पर भी अस्थिरतासे पुण्य-पापकी वृत्ति उत्पन्न हो तो उसका यहाँ निषेध है। परमें अच्छा-बुरा मानकर उसमें लग जानेका मेरा स्वभाव नहीं है; किंतु लगातार एकरूप जानना मेरा ज्ञायक-स्वभाव है।

आत्मामें पुण्य-पापके विकल्प भरे हुए नहीं हैं। जैसे दर्पणकी स्वच्छतामें अग्नि, बरफ, विष्टा, स्वर्ण और पुष्प इत्यादि जो भी सम्मुख हों वे सब दिखाई देते हैं तथापि उनसे दर्पणको कुछ नहीं होता, इसीप्रकार आत्मा पर-संयोगसे भिन्न है, भावतः दूर है, इसलिये परवस्तु चाहे जिसरूपमें दिखाई दे किन्तु वह आत्मामें दोष उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं है। ज्ञायक * स्वभाव किसी भी संयोगमें, चाहे जैसे क्षेत्र या कालमें रुकने वाला नहीं है, क्योंकि आत्मा पररूप नहीं है और पर, आत्मरूप नहीं है। एकरूप निर्मल स्वभावकी श्रद्धाकी प्रतीतिके द्वारा स्वभावके आश्रयसे निर्मलभाव प्रगट होता है। नवतत्त्वके शुभ-रागसे अनेक प्रकारके रागके भेद प्रगट होते हैं जोकि अन्तरंगमें सहायक नहीं हैं। बाह्यदृष्टिसे देखने पर पर-निमित्तके भेद दिखाई

---

* निरपेक्ष, अखण्ड, पारिणामिकभाव।

देते हैं; अन्तरंगमें दृष्टिमें अभेद, ज्ञायकस्वरूप मात्र आत्मा दिखाई देता है। कर्माधीन होने वाली अवस्थाके जो भेद होते हैं उनकी अपेक्षासे रहित त्रिकाल एकरूप ध्रुव-स्थायी एक ज्ञायकभावको ही आत्मा कहा है।

तू सदा एकरूप ज्ञाता है। जानना ही जिसका स्वभाव है वह किसे न जानेगा? और जिसका जानना ही स्वभाव है उसे परमें अच्छा-बुरा मानकर रुक जाने वाला रागवान कैसे माना जासकता है? अहो! मैं तो ज्ञायक, पूर्ण कृतकृत्य, सिद्ध परमात्माके समान ही हूँ। अवस्थामें निमित्ताधीन विकारका भेद अभूतार्थ है, स्थायी नहीं है, इसलिये उसमें मेरा स्वामित्व नहीं है।

ज्ञान सर्व समाधान स्वरूप है। जैसे-वीतरागी, केवलज्ञानी परमात्मा एक-एक समयमें लोका-लोकको परिपूर्ण ज्ञानसे जानने वाले हैं, वैसा ही मैं हूँ; इसप्रकार जिसे पूर्ण-स्वतंत्र स्वभावकी महिमाकी प्रतीति होजाती है उसके अन्तरंगसे सारे सांसारिक मल दूर होजाते हैं। उसे देहादिक किसी भी संयोगमें महत्ता नहीं दिखाई देती। जिसने निमित्ताधीन-दृष्टिका परित्याग कर दिया है, उसने संसारका ही परित्याग कर दिया है, और पूर्णस्वतंत्र-मोक्ष स्वभावको ग्रहण कर लिया है।

पुण्य-पापके भेद मात्र आत्माके नहीं होते इसलिये [illegible] विकारमें अजीव हेतु है; अर्थात् जीवमें कर्म-निमित्तक शुभाशुभभाव नवतत्त्वके विकल्परूपसे है। और फिर पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष जिसके लक्षण हैं ऐसे जो केवल जीवके विकार हैं;

पर-निमित्तके भेदसे रहित आत्मस्वभावको देखने पर आत्मा ज्ञायक एकरूप है, उसमें अवस्था पर लक्ष्य करने पर निमित्तके युक्त होकर नवतत्त्वका विचार करे तो राग होता है, मैं इसप्रकार इतना कर सकता हूँ, मोक्षको प्राप्त करूँ, ऐसे विचारमें रुककर जो करने

अपनी दया आये तो इस भवका अन्त हो। अन्तरंगमें जो निराकुल आनन्द है उसे भूलकर यह जीव बाहरकी आकुलताके दुःखको ही सुख मान रहा है।

जो यह कहते हैं कि मैं लोगोंका सुधार कर दूंगा, वे झूठे हैं। अपने रागके लिये कोई शुभभाव करे तो उसका निषेध नहीं है, किन्तु जो उसमें यह मानता है कि मैं दूसरेका कुछ करता हूं और दूसरेके लिये करता हूं, सो महा मूढ़ता है। जगतमें सर्वत्र कांटे बहुत हैं, किन्तु तू उन सबकी चिन्ता क्यों करता है? यदि तू केवल अपने पैरोंमें जूते पहिन ले तो बहुत है। तेरे द्वारा दूसरेका समाधान नहीं होसकेगा। जब तुझे भूख लगती है, तब दुनियाँ भरको भूलकर अकेला खा लेता है। ऐसा कोई परोपकारी दिखाई नहीं देता कि जो ऐसा निश्चय करे कि जब गाँवके सब लोग खा चुकेगें तब मैं खाऊंगा, क्योंकि ऐसा हो नहीं सकता।

कहत कबीरा सुन मेरे मुनियाँ।
आप मरे सब डूब गई दुंनियाँ॥

स्वयं समझ लिया कि मैं परसे भिन्न हूं, दूसरेके साथ त्रिकालमें भी मेरा सम्बन्ध नहीं है, परका कर्तृत्व भोक्तृत्व नहीं है; इसप्रकार अपने स्वतंत्र स्वभावका निर्णय होनेके बाद, जगत माने या न माने, उस पर अपनी मान्यता अवलम्बित नहीं है। अपने परमार्थ एकरूप स्वभावको भूलकर पुण्य-पापकी विकारी अवस्था मेरी है, इसप्रकार परमें नव प्रकारके विकल्पोंसे एकता मानकर उसके फलमें खण्ड खण्ड भावसे रागमें जीव अटक जाता है, यह बात (अटकनेकी अपेक्षासे) सच है।

प्रश्नः—आत्माके साथ कर्मका संयोग कबसे हुआ है?

उत्तरः—कर्मका संयोग अनादि कालसे है, किन्तु वह एक-एक समयको लेकर वर्तमान अवस्थासे है। जहां तक विकारी भावको

दूर नहीं करेगा तब तक वह वैसा ही बना रहेगा। वर्तमानमें किसी भी जीवके पास अनादिकालके कर्म नहीं हैं। हाँ प्रवाहरूपसे अनादि हैं। जीव परसे बंधा हुआ नहीं किन्तु परसे भिन्न है, तथापि अज्ञान भावसे परको अपना मानकर परोन्मुखरूप-रागमें अनादि कालसे अनेक अवस्थाओंमें यह जीव अटक रहा है।

जैसे कनक पाषाणमें सोना, और तिलमें तेल तथा खली एक साथ ही होती है, तथापि स्वभावतः भिन्न हैं इसलिये उन्हें अलग किया जासकता है; इसीप्रकार जीव और कर्मका एक साथ एक क्षेत्रकी अपेक्षासे अनादिकालीन संयोगसम्बन्ध है, किन्तु दोनों भिन्न वस्तु हैं इसलिये वे अलग होसकती हैं।

कोई कहता है कि हम तो आपकी बातको तब सच मानें जब कि हम उसे सुनते ही तत्काल सब समझ लें; किन्तु भाई! पाठशाला-में जब पढ़ना प्रारम्भ किया जाता है, तब क्या सब कुछ उसी समय समझमें आजाता है? और व्यापार सीखनेके लिये कई वर्ष तक अभ्यास करता है क्यों कि उसमें उमंग है; और क्या यह कुत्तेकी चीज है, जो सुनते ही तत्काल मनमें समा जावे। यह तो ऐसी अपूर्व बात है जिससे जन्म-मरण दूर होसकता है, इसलिये यह दृढ़ परिचय करने पर समझमें आसकती है।

जो यह कहता है कि आप तो दिन-रात आत्मा की आत्माकी बातें किया करते हैं, आप कभी कोई ऐसी बात तो करते ही नहीं कि जिससे किसीका भला कर सकें; तो यह समझनेवाला नहीं है [illegible] नहीं कर पाया कि दूसरेके लिये यह कितना उपकारी है।

प्रश्नः—जो दिखाई नहीं देता उसकी महिमा गाई जाती है और जो दिखाई देता है, उसके सम्बन्धमें आप कहते हैं कि—इसे [illegible] नहीं कर सकता, इसका क्या कारण है?

उत्तरः—आत्मा अरूपी है, ज्ञातास्वरूप है वह किसी अन्य वस्तुका कुछ करनेके लिये समर्थ नहीं है, जो दिखाई देता है वह जड़की स्वतंत्र क्रिया है। जीव तो राग-द्वेष और अज्ञान कर सकता है, अथवा राग-द्वेष और अज्ञानको दूर करके ज्ञान और शांति कर सकता है। तू कहता है कि आत्मा दिखाई नहीं देता, किन्तु यह तो बता कि यह किसने निश्चय किया कि-आत्मा दिखाई नहीं देता? देह अथवा जड़ इन्द्रियोंको तो खबर होती नहीं तब उन सबको जानने वाला कौन है? सच्चे-झूठेका निश्चय करने वाला शरीर नहीं होसकता। इसलिये शरीरसे भिन्न आत्मा है, यह पहले स्वीकार कर लेने पर यह जानना चाहिये कि–उसका क्या स्वरूप है, उसके क्या गुण हैं, वह किस अवस्थामें है, और भिन्न है तो किससे भिन्न है। समझनेकी इस पद्धतिसे यथार्थको समझा जासकता है। यदि सुनकर मनन न करे तो क्या लाभ होसकता है?

अपूर्व परम तत्त्वकी बात कानमें पड़ना भी दुर्लभ है, इसलिये उसके विचारमें सत्समागममें, अधिक समय लगाना चाहिये। भीतरसे अवधारण करनेका खेद होना चाहिये कि–अरे रे! मैंने कभी अपनी चिंता नहीं की। यदि अन्तरंगमें अपनी दया खाये तो यह जाना जासकता है कि पर दया क्या है। अपनेको परका कर्ता मानना, अथवा पुण्य–पापके विकाररूप मानना ही सबसे बड़ी स्वहिंसा है। अपने स्वभावको परसे भिन्न त्रिकाल स्वाधीन जानकर, अपनेको राग-द्वेष और अज्ञानसे बचाना; अर्थात् एकरूप ज्ञानभावसे अपनी संभाल करना सो सच्ची अहिंसा है।

जिस भावसे जन्म–मरण दूर होता है उसकी बात यहाँ कही जाती है। धर्मके नाम लौकिक बातें करनेवाले तो इस जगतमें बहुत हैं। काम, भोग, और बंधकी कथा घर-घर सुननेको मिलती हैं; आत्मा परका कर्ता है, उपाधिवाला है, इत्यादि बातें भी जहाँ तहाँ सुनने मिलती किन्तु यहाँ तो नवतत्त्वकी पहिचान कराकर और

फिर उस भेदको तोड़कर अभेद स्वभावमें जानेकी बात कही है। वर्तमान संयोगाधीन अवस्थाको गौण करके नवतत्त्वके भेदरूप मनके योगसे जरा हटकर, सर्वकालमें अस्खलित एक जीव द्रव्यमें स्वभावके समीप जाकर एकाग्र अनुभव करने पर नव प्रकारके क्षणिक भंग अभूतार्थ हैं—असत्यार्थ हैं। वे त्रिकाल स्थायी नहीं हैं। त्रिकाल स्थायी तो स्वयं है। यह सम्यक्दर्शनकी पहलीसे पहली बात है। अनादिकालीन विपरीत मान्यताका नाश करके परिपूर्ण स्वभावको देखनेवाली शुद्ध दृष्टिका अनुभव होने पर दुःखका नाशक और सुखका उत्पादक पवित्र आत्मधर्म प्रगट होता है।

नवप्रकारके विचारमें खण्ड-खण्डरूपसे रुक कर सत् समागमसे पहले मनसे यथार्थ निर्णय करना होता है; किन्तु उस भेदमें लगे न रहकर नवतत्त्वके विचारसे जरा पीछे हटकर, निर्विकल्प एकरूप संपूर्ण ध्रुव स्वभावके लक्ष्यमें स्थिर होकर, एकत्वका अनुभव करने पर उस-में अनेक प्रकारके भेद दिखाई नहीं देते। क्षणिक शुभ-अशुभ विकल्प ध्रुव स्वभावमें स्थान नहीं पाते। इसलिये इन नवतत्त्वोंमें भूतार्थनयसे एक जीव ही प्रकाशमान है। इसप्रकार यह एकत्वसे प्रकाशित करता हुआ शुद्धनयरूपसे अनुभव किया जाता है। और जो यह अनुभूति है सो आत्मख्याति (आत्माकी पहिचान) ही है, और जो आत्मख्याति है सो सम्यक्दर्शन ही है। आत्माकी पूर्ण शुद्ध-रूप दशाको प्रगट करनेका यह मूल है।

यह सम्यक्दर्शन किसी सम्प्रदाय विशेषकी वस्तु नहीं है तथा ऐसी वस्तु भी नहीं है कि जिसे मात्र मनमें धारण कर लिया जाय। वस्तु तेरी वस्तु तेरे ही पास है जिसे ज्ञानी बतलाते हैं। ऐसा मार्ग अनन्त सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभुने गाई है। जैसे [illegible] लेकर, [illegible] का भिक्षापात्र लेकर भीख मांगने निकल पड़े, [illegible] और पराधीन होवे, तो वह उसे शोभा नहीं देता, इसीप्रकार तू अपने [illegible]

इसप्रकार धर्म अपूर्व पुरुषार्थसे होता है। ज्ञानी कहते हैं कि—परिणाम सहज बदल गया है। विभावाधीन होकर पुण्य-पापादि बाह्यभावमें अहंकार और अनेक प्रकारके मान्यताका अनुभव करता था, निजलक्षणको भूलकर परको मानता, जानता और परके रागमें अटक रहा था; जब रुचि बदल गई तो वह पुरुषार्थ स्वभावमें आया और उससे वह अपनेको मानता, जानता और उसमें स्थिर होता है। इसप्रकार जब आत्माकी पहिचान स्वयं करता है तब होती है।

प्रश्नः—जब कि सब स्वयं अपने लिये करते हैं तो गुरु उपदेश किसलिये देते हैं?

उत्तरः—वे दूसरेके लिये उपदेश नहीं देते किन्तु अपनेको सत्‌के प्रति रुचि है इसलिये वे अपनी अनुकूलताके गीत गाते हैं। यह तो अपनी रुचिका आमंत्रण है। अपनी रुचिकी दृढ़ताको प्रगट करते हुए, सत्यकी स्थापना और असत्यका निषेध सहज ही हो जाता है। मैं किसीके लिये उपदेश करता हूँ यह मानना मिथ्या है। दूसरे लोग धर्म प्राप्त करें, या न करें इससे उपदेशकको लाभ या हानि नहीं होती, किन्तु प्रत्येकको अपने भावकी तारतम्यताके अनुसार फल मिलता है।

यह अपूर्व समझकी रीति कहलाती है। यह बाहरी बातें नहीं हैं। सत्य जल्दी पकड़में न आये, और सीधी बातके समझनेमें देर

लगे तो कोई हानि नहीं है, किन्तु अपनी कल्पनासे उल्टा कर बैठे तो अपनेमें बहुत बड़ा विरोध बना रहेगा। सत्यको समझे बिना राग दूर नहीं हो सकता। विपरीत ग्रहणसे मूढ़ता विष चढ़ जावेगा।

कोई बालक मातासे कहे कि 'मुझे बहुत भूख लगी है, घरमें जो कुछ हो सो मुझे दे दे।' माता कहती है कि घरमें मात्र रोटी है लेकिन उस पर विषैले जानवरका विष पड़ा हुआ मालूम होता है इसलिये वह खाने योग्य नहीं है; मैं एक घण्टेमें दूसरा भोजन तैयार करे देती हूँ; अथवा काकाजीके घर चला जा, उनके घर मिष्टान्न तैयार हो रहा है; किन्तु उसमें दो तीन घण्टेकी देर लगेगी इतनेमें कुछ मर नहीं जायेगा, किन्तु यदि यह विषैली रोटी खा लेगा तो जीवित नहीं रहेगा। इसीप्रकार सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि निर्दोष अमृतमय उपदेशमेंसे पवित्र आत्माके लिये सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूपी मिष्टान्न तैयार हो रहा है, उसे समझनेका धैर्य न रखे, उसे मेहनत समझकर बाहरके पुण्य-पापमें धर्म माने, तो उस विपरीत मान्यताका चढ़ा हुआ विष ऐसा फट-फटा उठेगा कि पुण्यके शौककी उलझन-का पार नहीं आयेगा; चौरासीके अवतारमें कहीं भी धर्म सुननेका सुयोग नहीं मिलेगा। इसलिये सर्वज्ञ वीतरागका कथन क्या है? उसे पात्रतासे सत्समागमसे निवृत्ति पूर्वक सुनकर, अविकारी-ज्ञाता स्वभाव-के स्वीकार करना चाहिये।

आत्म-प्रतीतिके होनेके बाद, स्वभावके लक्षमें स्थिर न रहने [illegible] दूर होने पर बीचमें उस समयके शुभभाव सहज ही आते हैं [illegible] शुभ वृत्तिसे छूटकर अन्तरंग ध्यानमें एकाग्र होने रूप [illegible] विकार नहीं होता। शुभाशुभ राग अविकारी स्वभावसे विरोधरूप है इससे त्रिकालमें भी सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान, चारित्र नहीं हो सकता। स्वभाव-को रोकनेके लिये पुण्यभाव होता है-इसका निषेध नहीं है, किन्तु उससे हित मानना बहुत बड़ी भूल है, क्योंकि वह अविकारी स्वभाव-का विरोध होता है। जैसे दूध पर [illegible]

नहीं है उसके सच्चे व्रत और साधुता नहीं होसकती। कषायको सूक्ष्म करनेसे पुण्यबंध होता है, किन्तु भव-भ्रमण कम नहीं होता। आचार्य-देव कहते हैं कि यह सर्व कथन निर्दोष-निर्बाध है। बाह्यदृष्टि वाला जीव निर्दोषत्व अथवा दोषत्व किसमें निश्चय करेगा?

जैसे एक ढालकी दो बाजू होती हैं, उनमेंसे जब एक बाजू देखनेकी मुख्यता होती है तब दूसरी लक्ष्यमें गौण होजाती है; इसी-प्रकार एक आत्माको कर्मके निमित्ताधीन विकारी क्षणिक दृष्टिसे देखें तो एकरूप स्वभावसे विरुद्ध अनेक प्रकारका रागभाव है, उसे जानकर यह मेरा मूल स्वभाव नहीं है इसलिये उस ओर आदरभावसे देखना बन्द करना चाहिये अर्थात् उसके लक्ष्यको गौणकर देना चाहिए। यदि अन्तरंग दृष्टिसे दूसरी शुद्ध पवित्रताकी बाजू पर देखें तो आत्मा त्रिकाल एकरूप ज्ञायक है, अनन्त आनन्दस्वरूप है।

भावार्थ—इन नवतत्त्वोंको जाननेके बाद, एकमें अनेक प्रकार-[illegible] देखने वाली बाह्य दृष्टिको गौण करके शुद्धनयसे अखण्ड एक [illegible]भावकी ओर उन्मुख होकर देखें तो जीव ही एक मात्र चैतन्य चमत्कार प्रकाशरूपमें प्रगट होरहा है, इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न नव-तत्त्वोंके विकल्प कहीं कुछ दिखाई नहीं देते। इसप्रकार जहां तक जीवको अपने ज्ञायकस्वभावकी जानकारी नहीं है, वहां तक वह [illegible] मूढ़ दृष्टि वाला है क्योंकि वह भिन्न-भिन्न नवतत्त्वोंको [illegible] है।

शुद्धनयके द्वारा नवप्रकारमेंसे बाहर निकालकर आत्माको [illegible] सो सम्यक्त्व है। नवतत्त्वोंके विकल्पके भेदकी श्रद्धा-[illegible] अभेदको स्वविषय करने वालेको निश्चय सम्यग्दर्शन [illegible] है। पहले नवतत्त्वोंके भेद जानना पड़ते हैं, किंतु वह गुणका [illegible] नहीं है, स्वभाव नहीं है। स्वभाव तो त्रिकाल एक शुद्ध ही [illegible] आनन्द, गुणका रक्षक और निर्मलताका उत्पादक [illegible] प्रगट होता है।

आत्माका स्वभाव निमित्ताधीन होने वाले दोष और दुःखरूप अवगुण दशाका नाशक है। विकारका नाशक ध्रुवस्वभाव अन्तरंगमें पूर्ण शक्तिरूपसे भरा हुआ है, जोकि स्वयं आत्मा है। अवगुणोंको दूर करनेसे पूर्व, उन्हें दूर करते समय अथवा दूर करनेके बाद स्वयं तो एक ही प्रकारसे अविकारी ज्ञानानन्द स्वरूप है। जो स्वभाव नहीं है वह नया उत्पन्न नहीं होता। वर्तमान विकारी अवस्थाके समय भी विकारका ज्ञाता आत्मा, अविनाशी पूर्ण शक्तिसे युक्त है, वह विकाररूपसे क्षणिक नहीं है, स्वभावके बलसे विकारका नाश करके एकाकी रहनेवाला है। वह त्रिकाल अविकारी भिन्न ही है, निमित्ताधीन विकारी अवस्था क्षणिक है, किन्तु आत्मा इतने भरके लिये भी क्षणिक नहीं है।

आत्मा मन, वाणी और देहकी क्रिया तथा किसी परवस्तुकी क्रिया व्यवहारसे भी नहीं कर सकता, क्योंकि दो तत्त्व त्रिकाल भिन्न हैं। आत्मा अरूपी ज्ञातास्वरूप है, उसे किसी दूसरेका कर्ता माने तो वह विपरीतदृष्टिका अज्ञान है। क्षणिक विकारकी जो शुभाशुभ वृत्ति उत्पन्न होती है उसका स्थान मेरे ध्रुवस्वभावमें नहीं है। मैं जिन अवगुणका नाश करना चाहता हूँ उसका नाशक पवित्र स्वभाव मुझमें है, उसके लिये बाहर लक्ष्य करनेकी आवश्यकता नहीं है। बाह्य-साधन अन्तरंगमें सहायक नहीं होता। बाह्य-लक्ष्यसे पुण्य-पापके जितने भाव किये जाते हैं वे अविकारी स्वभावसे विरोधरूप होनेके कारण आदरणीय नहीं हैं। जहाँ शुभरागकी [illegible] होता है वहाँ उसके लक्ष्यसे अशुभसे बचनेके लिये शुभभाव होते तो हैं, किन्तु उनसे गुणोंको कोई सहायता नहीं मिलती। शुभभाव पुण्यबन्धका कारण है, जो उस विकारको अविकारी गुणमें सहायक मानता है वह गुणके [illegible] करता नहीं है।

[illegible] गुणकी रक्षा और पूर्ण वीतरागता [illegible] है तथापि ज्ञानीको [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

योग होता है; उसे ज्ञानी जानता है कि यह मेरा स्वरूप नहीं है। मैं स्वभावके बलसे विकारका नाशक हूँ इसप्रकार क्षणिक विकारकी नास्तिको देखनेवाला अविनाशी गुणरूप पूर्णस्वभावकी अस्तिको यथावत् देखकर अविकारी एकरूप ध्रुवस्वभावको श्रद्धामें लेता है। विकारका नाशक परिपूर्ण निर्मल स्वभाव जैसा है उसे वैसा ही मानना सो सर्वप्रथम उपाय है; उसके बिना व्रत, प्रत्याख्यान आदि सच्चे नहीं होते।

आत्मस्वभावको सम्पूर्णतया लक्ष्यमें लिये बिना धर्म नहीं होता। शरीरकी क्रिया और बाह्य संयोगोंकी प्रवृत्तिकी तो यहाँ बात ही नहीं है; बाहरका लेन-देन और जड़-वस्तुका त्याग-ग्रहण त्रिकालमें भी आत्माके आधीन नहीं है। संयोगोंमें लगनेसे या परोन्मुख होनेसे पुण्य-पापकी जो वृत्ति उद्भूत होती है, वह मलिन अवस्था आत्मस्वभाव-की नहीं है। उसके लक्ष्यको गौण करके त्रिकाल निर्मल स्वभावको लक्ष्यमें ले तो स्वयं ही निर्विकल्प एकरूप चैतन्यचमत्कार अलग ही दिखाई देता है, (यहाँ दिखाई देनेका अर्थ आँखोंसे दिखाई देना नहीं है, किन्तु परिपूर्ण निर्मल स्वभावकी निःसंदेह प्रतीति होना है) वहाँ भिन्न-भिन्न नवतत्त्वके प्रकार दिखाई नहीं देते। जहाँतक स्वतंत्रतया परमार्थ आत्माका ज्ञातृत्व जीवको नहीं है वहाँतक वह व्यवहारदृष्टि वाला है, चौरासीमें परिभ्रमण करनेवाला है।

नवतत्त्वकी भेदरूप श्रद्धा मिथ्यादृष्टिपन है। पुण्यभावके करते-करते निर्मल श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र प्रगट होजायेगा, जो ऐसा मानता है उसे अविकारी भिन्न स्वभावकी श्रद्धा नहीं है, पवित्रताकी रुचि नहीं है, उसे रागकी भक्ति है अर्थात् वीतरागसे विरोधभावकी भक्ति है। बाह्यदृष्टिवालेको यह परम सत्य कठिन मालूम होता है।

सम्यक्दर्शन होनेसे पूर्व शुद्धअभिप्राय प्राप्त होनेकी यह बात है। अविरोधी स्वभावका आदर करनेके बाद अशुभको दूर करनेके लिये भक्ति, दान, पूजा इत्यादिके शुभभाव होंगे, किन्तु उनमें कर्तृत्व

स्वामित्व अथवा हितभाव नहीं माना जासकता। यह तो विपरीत मान्यता-की पकड़ है जो जमकर बैठी है। जिसे यह समझनेकी परवाह नहीं है कि तीनोंकालके वीतरागका कथन क्या है वही सत्यसे खिसकता है।

वर्तमानमें पूर्ण वीतराग स्वभावको माने बिना परमें, बंधनमें, पुण्य-पापके विकारमें कर्तृत्वबुद्धिकी पकड़ नहीं मिट सकती। निमित्ताधीनदृष्टि वाला जो कुछ मानता है, जानता है, अथवा करता है वह सब मिथ्या है। नवतत्त्वके विकल्पका जो उत्थान होता है सो वह स्वभावका कर्तव्य नहीं है, किन्तु परलक्ष्यकी ओर झुकनेसे क्षणिक अवस्थामात्रका होने वाला विकार है। मैं दया, दानका करने वाला हूँ, देहकी क्रियाका कर्ता हूँ, मेरी प्रेरणासे सब कुछ होता है, यदि मैं न करूँ तो यह नहीं होसकता इत्यादि मान्यता स्वतंत्र, अक्रिय आत्मस्वभावकी हत्या करने वाला महा मिथ्यात्व है। जीव पुण्य-पापके विकारीभावको अज्ञानभावसे करता है। जो पुण्य-पापके भाव होते है वही मैं हूँ यह मानकर जो विकारभावमें अटक जाता है और जो शुभविकारके भावको संवर-निर्जरारूप धर्म मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे अभेद है, स्वतन्त्र है; और परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूपसे नहीं है। आत्माका [illegible] संयोग-वियोग होता है, इसलिये दो मिलकर एक नहीं हो सकते, जीव सदा सोपयोगी (ज्ञाता-दृष्टा) अरूपी है, वह मिलकर [illegible] और किसी भी अवस्थामें जड़रूप नहीं होसकता। [illegible] मानकर राग-द्वेषमें अटक जाये तथापि [illegible] रूप नहीं होसकता। इसप्रकार प्रत्येक आत्मा स्वभावसे पूर्ण [illegible] है। नवतत्त्वकी भेदरूप अवस्था कर्मके निमित्तसे और [illegible] योगसे होती है। इस भेदका [illegible] शुद्धनयके द्वारा [illegible] जीव [illegible] स्वभावको देखने पर नवतत्त्वके [illegible]

एकरससे पूर्ण पवित्र भगवान आत्मा सदा एकरूप रहने वाला वर्तमानमें भी पूर्ण है ऐसी श्रद्धा होती है। साथ ही अतीन्द्रिय आनंद होता है।

ज्ञानी यह जानता है कि मैं अविकारी, असंयोगी, एकरूप ज्ञातादृष्टा और स्वभावतः नित्यस्थायी हूँ; तथा जो पुण्य-पापके विकल्पकी क्षणिक संयोगी वृत्ति उत्पन्न होती है सो वह आत्माका स्वरूप नहीं है। वह श्रद्धाके लक्ष्यमें निमित्ताधीन किसी भेदको स्वीकार नहीं करता, क्षणिक वर्तमान अशक्तिसे पुण्य-पापकी वृत्ति होती है तथापि उसका कर्ता और स्वामी नहीं होता। जो आत्मा पराश्रयरूप व्यवहार-में अटक रहा है वह पुण्य-पापके विकारमें मूढ़ होकर स्वामीरूपसे रागका-पुण्यका कर्ता होता हैं। जिस भावसे बंधन होता है उस भावको वह गुणमें सहायक मानता है इसलिये वह गुणकी हत्या करता है। विरुद्धभाव वाला व्यक्ति मनमें रटता रहे इसलिये अन्तरंग-की मूढ़ता दूर नहीं हो जाती। ज्ञानी धर्मात्माके जागृतस्वभावका निरंतर विवेक रहता है। जब स्वभावमें स्थिर नहीं रह सकता तब पुण्य-पापकी वृत्तिमें योग हो जाता है किन्तु उसमें उसका स्वामित्व नहीं होता, वह अपनी अशक्तिको छोड़ना चाहता है। अनंत पवित्र-स्वभावकी श्रद्धाके बलसे वह वर्तमान क्षणिक अशक्तिका कर्ता नहीं होता।

यह अपूर्व बात है, त्रिकालके ज्ञाता इसप्रकार समझका मार्ग बताते हैं। लोगोंने यह बात इससे पहले कभी नहीं सुनी थी। लोगों-की ऐसी योग्यता है कि कानोंमें सत्य नहीं पड़ता और आग्रहकी पकड़ बाधक होती है। सब स्वतंत्र प्रभु हैं! जो पुण्य-पापके क्षणिक विकारको अपना मानता है वह अविनाशी निर्विकारी स्वभावको नहीं मानता। जो पुण्यका-विकारका कर्ता होना चाहता है वह उसका नाशक नहीं होना चाहेगा। यदि अविकारीस्वभावको स्वीकार कर ले तो गुणभेदके भेद पर भार न रहे, निमित्ताधीनदृष्टि न रहे। सच्चे

आदरमें असत्यका आदर न रहे। सत्य क्या है वह मध्यस्थ भावसे समझना चाहिये, तीनलोक और तीनकालमें सत्य नहीं बदल सकता।

प्रश्नः—आत्मा पृथक् नहीं है तथापि उसे पृथक् क्योंकर मानना चाहिये ?

उत्तरः—आत्मा सदा पृथक् ही है, किन्तु बाह्य देहादि पर दृष्टि है इसलिये एकमेक माना है। जैसे गाड़ीके नीचे चलने वाला कुत्ता अपने अभ्याससे ऐसा मानता है कि मेरे आधार पर गाड़ी चल रही है; इसीप्रकार आत्मा स्वयं अरूपी ज्ञानानंद है, उसे भूलकर देहाध्यास-से मैं बोलता हूँ, मैं चलता हूँ, मैं पुरुष हूँ इत्यादि रूपसे परसे एकत्व मान रखा है और इस विपरीत मान्यताने अड्डा जमा रखा है। एक क्षेत्रमें पानी और कंकड़ इकट्ठे रहते हैं इसलिये वे एकमेक नहीं होजाते, इसीप्रकार यह आत्मा सदा अरूपी है, वह रूपी शरीरके साथ एकत्रित रहनेसे त्रिकालमें भी रूपी नहीं होजाता। जड़ पदार्थ जो रूपी होते हैं, उन्हें कुछ खबर नहीं होती। देहादिक परमाणुओंमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श इत्यादि हैं; जोकि जड़के (पुद्गलके) गुण हैं, और जो मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादिके रूप आकार हैं वे भी जड़के [illegible] हैं। आत्मा सदा ज्ञानस्वरूप है, अरूपी है, त्रिकालमें [illegible] भिन्न है, वह देहादिकी क्रियाका कर्ता नहीं है, [illegible] उसे कोई प्रेरणा नहीं करता। मैं दूसरेका कुछ कर सकता हूँ और [illegible] मेरा कर सकता है इसप्रकार [illegible] बहुत बड़ी भूल है। जड़ और चेतनकी [illegible] लिये बिना किसीको भी धर्मकी [illegible] आत्माकी प्राप्ति नहीं होती। मैं शरीर हूँ [illegible] पर निर्भर बैठे हैं, [illegible]

करे तो प्रतिसमय पूर्ण निर्मल परमात्मा जितना तथा स्वभावतः विकार-का नाशक है । वर्तमान अवस्थामें विकार करनेका विपरीत पुरुषार्थ है उसकी अपेक्षा त्रैकालिक स्वभावमें वर्तमानमें ही अनंतगुनी पवित्र-रूपमें अनुकूल शक्ति है । जो यह मानता है कि पूर्वकृत कर्म बाधा डालते हैं, उनकी बहुत प्रबलता है, राग-द्वेष स्वयं ही होजाते हैं, इस-प्रकार पराधीनताको मानने वाला मिथ्यादृष्टि है ।

सर्वज्ञ वीतरागने जिसप्रकार वस्तुका स्वतंत्र स्वभाव कहा है उसे उसप्रकार जाने बिना कोई चाहे जितना सयाना कहलाता हो, शास्त्रोंका पंडित माना जाता हो, तथापि वह वीतरागके मार्गमें स्थित नहीं है । वीतरागको कोई पक्ष नहीं है, वीतरागको अपनी पीढ़ी या वंश-परम्परा बनाये नहीं रखनी है । जो प्रत्येककी स्वतंत्रताको घोषित करता है वही वीतराग है । जो यह कहता है कि पुण्यसे धर्म होता है, दूसरे मेरा कहा मानें तो कल्याण हो, अथवा आशीर्वादसे सुखी होना माने वह आत्माको पराधीन, परमुखापेक्षी एवं निर्वीर्य मानता है ।

अज्ञानके कारणसे अवस्थामें पर-सम्बन्धके द्वारा अनेक भेद-रूपसे, परमें कर्तारूपसे, विकाररूपसे स्वयं अपनेको भासित होता था, किन्तु जब शुद्धनयसे स्वाश्रित निरावलम्बी स्वभावको स्वीकार करके जड़-चेतनका स्वतंत्र स्वरूप पृथक्-पृथक् देखनेमें आया तब यह पुण्य-पाप आदि भेदरूप नवतत्त्व ध्रुववस्तुरूपसे दिखाई नहीं देते । परलक्ष्यसे निमित्ताधीन होने वाले क्षणिक विकार उत्पन्नध्वंसी हैं; उनका ध्रुवस्वभावकी श्रद्धा द्वारा नाश किया है । श्रद्धाके निर्मल लक्ष्यसे एकाकार अनुभव करने पर, स्वभावमें कोई विकल्पका भेद नहीं आता । अखण्डकी श्रद्धामें वर्तमान क्षणिक संयोगी खण्डरूप भाव-का स्वीकार ज्ञानीके नहीं होता । ज्ञानीको एकरूप अविकारी स्वभाव-की श्रद्धाका बल है । जब एकाग्र-स्थिर नहीं रह सकता तब पुण्य-पाप-की वृत्तिमें (छोड़नेकी बुद्धिसे) रुक जाता है, तथापि उसमें धर्म नहीं मानता ।

पुद्गल कर्मके निमित्ताधीन होने वाले भेद अविकारी आत्माकी एकरूप श्रद्धा होने पर मिट जाते हैं। पश्चात् बारंबार निर्मल स्वभावके लक्ष्यके बलसे स्थिरता बढ़ते-बढ़ते पूर्ण निर्मल मोक्षदशा प्रगट होजाती है। अवस्थामें जो निमित्त-नैमित्तिक भाव था वह सर्वथा समाप्त होजाता है। वर्तमानमें विकार होता है, तथापि सम्यक्दृष्टि उसे स्वामी के रूपमें स्वीकार नहीं करता।

प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, पराधीन नहीं है। विकारसे किसीको गुण-लाभ नहीं होता। मात्र स्वभावसे ही धर्म होता है, उसमें बाह्य-साधन किंचितमात्र भी सहायक नहीं होते। ऐसी प्रतीतिके बिना कदापि किसीका भला नहीं होसकता। यदि अज्ञानभावसे धर्मके नाम पर शुभभाव करे तो पापानुबंधी पुण्यका बंध करता है; किन्तु सर्वज्ञ वीतरागदेवने कहा है कि उससे भव-भ्रमण कम नहीं होता।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, वह पुण्य-पापका रक्षक नहीं है, कर्त्ता नहीं है, वह विकारका नाशक एवं अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण है, ऐसी श्रद्धाके बिना विकारको अपना मानकर पराश्रयरूप व्यवहारका लक्ष्य करके धर्मके नाम पर पुण्यबंध करके यह जीव अनन्तबार नववें ग्रैवेयक तक गया, किन्तु भव-भ्रमण कम नहीं हुआ।

प्रत्येक अजीव तत्त्वमें उसकी त्रिकालशक्ति वर्तमान परिपूर्ण है। उसके द्रव्य, गुण, पर्याय किसीपर अवलंबित नहीं है। इसीप्रकार प्रत्येक जीवमें अनन्त गुणकी शक्तिरूप त्रिकालशक्ति वर्तमान परिपूर्ण है; उसके द्रव्य, गुण, पर्याय किसीपर अवलंबित नहीं है। प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे त्रिकाल स्वाधीन है; [illegible] पर वस्तुरूपसे, पर क्षेत्ररूपसे, पर कालरूपसे [illegible] से कदापि नहीं है; इसलिये वह [illegible] (क्षेत्रादिक) की अवस्थाका परिवर्तन [illegible] त्रिकालमें भी दूसरेकी अवस्थाको [illegible] परकी क्रियासे आत्माको पुण्य-पाप [illegible]

प्रश्नः—शुभ पर दृष्टि रखकर पहले शुभमें आये फिर धी
धीरे शुभसे शुद्धमें पहुँचा जासकता है या नहीं ?

उत्तरः—नहीं, विकारसे अविकारीपन अंशमात्र भी प्रगट न
होसकता। शुभभाव चाहे जैसा हो तथापि वह राग है। जो भ
गुणसे विरुद्ध हो उसे गुणकारी मानना बहुत बड़ी भूल है। अशुभ
भाव, शुभभाव और शुद्धभाव यह तीनों प्रकार भिन्न हैं। यदि शुभ
शुद्धमें पहुँचा जासकता हो तो अशुभमें रहकर शुभभाव होना चाहिये
किन्तु जैसे शुभभावके पुरुषार्थसे अशुभका दूर होना और शुभ
होना एक साथ होता है उसीप्रकार शुभाशुभ दोनों विकार हैं ऐ
प्रतीतिके बलसे जितनी निर्विकल्प स्थिरता होती है उतना ही शुभ
शुभरागका अभाव उसी समय होता है। अशुभसे बचनेके लि
पुण्यभाव ठीक है, किन्तु वह विकारी रागभाव है; उसकी सहायत
से अविकारी गुणका कार्य त्रिकालमें भी नहीं होसकता।

यह बात भलीभाँति समझने योग्य है। निमित्ताधीन शुभाशुभ राग
की जो वृत्ति उत्पन्न होती है वह मैं नहीं हूँ, ऐसी भूतार्थस्वभावक
अविकारी श्रद्धाके बलसे मिथ्या श्रद्धाका नाश, विकारका आंशि
नाश, और उसी समय भूलरहित अविकारी अवस्थाकी उत्पत्ति होती है
आगे-पीछे नहीं।

प्रश्नः—जैसे "कंटकेनैव कंटकम्" अर्थात् कांटेसे कांटा निकाल
जाता है, उसीप्रकार रागको दूर करनेके लिये व्यवहार भी तो चाहिये ?

उत्तरः—यहाँ राग एक कांटा है और उस रागको दूर करने वाल
अरागी मोक्षमार्ग दूसरा कांटा है, ऐसा समझना चाहिये। दूसरे कांटे
से पहला कांटा निकाला जासकता है। मैं अवगुणोंका नाशक त्रिकाल
पूर्णशक्तिवान हूँ, ऐसी श्रद्धाका स्वलक्ष्यमें जितना बल आता है उतना
स्वरूपकी स्थिरताका व्यवहार प्रगट होता है। उस अंशतः अरागी स्थिरता
के व्यवहाररूपी कांटेसे शुभाशुभ रागरूपी अशुद्धताका कांटा नष्ट होता

है। मैं अक्रिय अखण्ड ज्ञायक हूँ, अविकारी हूँ ऐसा लक्ष्य करना सो निश्चय है, और अंशतः स्वलक्ष्यमें स्थिरता करके रागको दूर करना सो व्यवहार है। पर-निमित्तका आलम्बन लेनेसे गुण होता है ऐसा मानना सो व्यवहार है अथवा मात्र शुभमें लग जाना सो व्यवहार है। इसप्रकार अपनी कल्पनासे व्यवहार माने तो वह भूल है। जो लोग आत्मामें निश्चय, और देहकी क्रियामें अथवा मात्र पुण्यभावमें व्यवहार मानते हैं उनकी अत्यंत स्थूल जड़बुद्धि है। सर्वज्ञ वीतरागने जैसा स्वतंत्र वस्तुस्वरूप कहा है वैसा यथार्थतया जानकर वस्तुका निर्णय करना सो निर्मल श्रद्धाको प्रगट करनेका उपाय है; उसमें बाहरका कोई साधन उपयोगी नहीं है।

अपना स्वभाव स्वतंत्रतया रागका नाशक है, जिसे इसकी प्रतीति नहीं है वह बाह्यदृष्टिसे पराश्रयरूप रागका रूप देखता है। अकषाय स्वभावकी यथार्थ श्रद्धाके बाद कषायके टलने [illegible] स्थिरताके बढ़ने पर जो कुछ राग रहता है उसमें अशुभरागके दूर होने पर व्रतादिका शुभराग आता है; जहाँ शास्त्रोंमें ऐसी बात आती है वहाँ मूलस्वभावके बलकी बातको भूलकर लोग उससे मानी हुई बातको आया हुआ मानते हैं, वे पराश्रयसे [illegible] हीनताको रखना चाहते हैं। जिसे रागका आश्रय अनुकूल रहता है वह उससे गुणका होना मानता है, उसे वीतरागता अनुकूल नहीं होती। स्वभावकी प्रतीतिके बाद ज्ञानकी [illegible] दशाको भगवानने चारित्रदशा कहा है। शुभराग चारित्र नहीं है [illegible] अवगुणोंका नाशक है इसप्रकार निश्चयस्वभावके [illegible] विकाररूपी कर्मको निकालने वाला [illegible] पुरुषार्थका [illegible] नहीं आता।

आत्मा अनादि-अनंत अपने अखंड गुणोंसे [illegible] त्रिकाल [illegible] स्वभावोंका अखंड पिंड है। गुण ही [illegible] है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता, किन्तु एक दूसरेके [illegible]

एक अवस्था विकारीरूपसे अथवा अविकारीरूपसे प्रवृत्तमान होती है। गुण तो अपने आधारसे होता है किन्तु जब जीव पर-संयोगाधीन लक्ष्य करता है तब उस अवस्थामें विकार नया होता है। स्वभावमें-से दोष उत्पन्न नहीं होता। मैं त्रिकाल अविकारी ज्ञायक हूँ ऐसी श्रद्धाके बलसे भूलका नाश होकर क्रमशः सर्व विकारी भावोंका नाश होसकता है।

स्वद्रव्य = स्वयं त्रिकाल अनंत गुण-पर्यायके आधाररूप अखण्ड द्रव्य।

स्वक्षेत्र = अपना आकार।

स्वकाल = वर्तमानमें वर्तने वाली स्व-अर्थकी क्रियारूप अवस्था।

स्वभाव = अपनी त्रिकाल शक्तिरूप अवस्था अथवा गुण।

इसप्रकार प्रत्येक जड़-चेतन पदार्थ त्रिकालमें अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूपसे सत् है और अपनेसे पर-पदार्थके द्रव्य क्षेत्र काल भाव-रूपसे असत् है, अर्थात् प्रत्येक पदार्थका परसे पृथक्त्व अथवा असंयोगी-पन है। जो आत्माको परमार्थसे स्वतंत्ररूप नहीं जानता वह अपनेको क्षणिक विकारी अवस्था जितना मानता है। जो विकारसे-पुण्यसे गुणका होना मानता है वह अविकारी नित्यस्वभावको नहीं मानता।

सर्व जीव हैं सिद्धसम, जो समझे सो होय।
सद्गुरु आज्ञा जिनदशा, निमित्तकारण सोय॥

[आत्मसिद्धि गाथा १३५]

अपने उपादानकी तैयारीमें सहज ही अखण्डका ज्ञान और ज्ञानकी स्थिरताका व्यवहार आता है, उसमें बीचमें सच्चे निमित्तका बहुमान अपने गुणकी रुचिके लिये आता है। वर्तमान क्षणिक अवस्थामें जो विकार दिखाई देता है उतना ही मैं नहीं हूँ, यह विकारी अवस्था मेरा स्वरूप नहीं है, अखण्डके लक्षसे भेदको गौण करके अखण्ड स्वभावके बलसे निर्मल सम्यक्दर्शन प्रगट होता है।

मोक्षका कारण वीतरागता, वीतरागताका कारण अराग चारित्र, अराग चारित्रका कारण सम्यक्ज्ञान और सम्यक्ज्ञानका कारण सम्यक्दर्शन है। पूर्ण अविकारी अखण्ड स्वभावके बलसे श्रद्धा ज्ञान चारित्रकी निर्मल पर्याय प्रगट होती है। अपूर्ण निर्मल अवस्था और सम्यक्दर्शन पर्याय है। भेदके लक्षसे विकल्प—राग होता है, निर्मलता नहीं होती, इसलिये अवस्थादृष्टिको गौण करके निश्चय अखण्ड स्वभावका लक्ष्य करना चाहिये। ध्रुव स्वभावके बलसे विकारका व्यय और अविकारी पूर्ण निर्मलताकी उत्पत्ति होती है, अर्थात् निमित्त-नैमित्तिक भावका सम्बन्ध सर्वथा छूट जाता है और वस्तुका अनंत गुणरूप निजस्वभाव वस्तुरूपसे एकाकार रहता है, इसलिये शुद्धनयसे जीवको जाननेसे ही सम्यक्दर्शनकी प्राप्ति होसकती है।

प्रभु ! तूने अपनी स्वतंत्र प्रभुताको कभी नहीं सुना। वर्तमान प्रत्येक अवस्थाके पीछे अनंत शक्तिरूप पूर्ण पवित्र गुणकी शक्ति अखण्ड स्वभावरूपसे भरी हुई है, उस सत्की बात अपूर्व भावसे अन्तरंगसे तूने कभी नहीं सुनी, तूने अपनी महिमाको नहीं जाना। जिसने अवि-कारी पूर्ण स्वभावको माना है वह अपने स्वाधीन [illegible] गया है; जो उसे मानेगा सो वह भी अक्षय अखण्ड शान्तिके [illegible] होकर अनंतसुखका अनुभव करेगा। यथार्थ स्वभावको [illegible] पर वर्तमानमें परम अद्भुत शांति अंतरः देखी जाती है।

अनंत पवित्र ज्ञानानंद स्वभावकी [illegible] शांतिका भाग वर्तमानमें अनन्त है। विकारका [illegible] विकाररूप नहीं होता, विकार तो क्षणिक [illegible] है, उसका आत्माका स्वभाव वर्तमानमें पूर्ण [illegible] उसको विकारकी [illegible] दिखाई नहीं देती। जैसा स्वभाव [illegible] वैसी मान्यता होती है और वैसी मान्यता होती है [illegible] है। इसप्रकार पवित्र, अविकारी, [illegible] स्वभावकी [illegible]

वलसे नवतत्त्वके रागके विकल्प टूट जाते हैं। जो दो तत्त्व भिन्न थे वे भिन्न ही रह जाते हैं।

जैसे सूतके पुड़ेमें गांठ आंट और कलफ इत्यादि एक भावमें संयोग-सम्बन्धसे विद्यमान हैं, किन्तु वह सब सीधे सूतके लक्ष्यसे गिनतीमें नहीं आते। इसीप्रकार आत्मामें मिथ्यात्वरूपी गांठ और राग-द्वेषरूपी आंट जो अवस्थाके एक भागमें डाली गई थी उसमें द्रव्यकर्मरूपी कलफका संयोग था, वह सीधे ज्ञायकस्वभावके लक्ष्यसे नाश किया जाता है। जैसे गांठ, आंटकी अवस्था छूटकर सूतमें समा गई वैसे ही एकरूप स्वभावमें मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याचारित्रकी अवस्था बदलकर जो निर्मल एकभावरूप अवस्था होती है सो वह स्वभावमें समा जाती है। आत्माके पूर्ण त्रिकाल स्वभावको जो शुद्धनयसे जानता है सो सम्यक्‌दृष्टि है। जबतक भिन्न-भिन्न नव-पदार्थोंको जानता है और आत्माको पुण्य-पापके अनेक प्रकारसे मानता है तबतक पर्यायबुद्धि है।

अब उस अर्थका कलशरूप श्लोक कहते हैं:—

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं
प्रतिपदमिदमात्मज्योति रुद्योतमानम् ॥ ८ ॥

इसप्रकार नवतत्त्वोंके रागमिश्रित विचारोंमें चिरकालसे रुकी हुई-छुपी हुई इस आत्मज्योतिको जैसे वर्णोंके समूहमें छुपे हुए एकाकार सुवर्णको बाहर निकालते हैं उसीप्रकार शुद्धनयसे बाहर निकालकर प्रगट भिन्न बताई गई है। इसलिये हे भव्य जीवो! अब इसे सदा अन्य द्रव्योंसे तथा उनसे होने वाले नैमित्तिक भावोंसे भिन्न एकरूप देखो। यह ज्ञायकज्योति पद-पद पर अर्थात् प्रति पर्यायमें एकरूप चैतन्यचमत्कारमात्र प्रगट है।

अनादिकालसे आत्मा एकरूप स्वभावका लक्ष्य चूककर कर्मके संयोगाधीन लक्ष्यसे नवतत्त्वोंके राग मिश्रित विचारोंमें अटकता था सो वह क्षणिक अवस्था जितना नहीं है, किन्तु नित्य अविकारी स्वभाववाला है, इसप्रकार शुद्धदृष्टिके द्वारा एकरूप शुद्ध आत्माका प्रकाश किया अर्थात् यथार्थ पहिचान करली। जैसे ताम्रके संयोगसे सोनेको लाल इत्यादि रंगके भेद वाला माना था, किन्तु उसे तपाकर एकाकार शुद्ध सोना अलग कर लिया जाता है, इसप्रकार नवतत्त्वोंके अनेक भेदरूप रागमें आत्माको मान रखा था, उसे शुद्धनयके द्वारा बाहर निकालकर अविकारी, ध्रुव, एकरूप आत्माको भिन्न बताया है। आत्मा वर्तमान अवस्था जितना ही नहीं है। आत्मामें अनंतकाल तक टिके रहनेकी पूर्णशक्ति प्रतिसमयकी अवस्थामें परिपूर्ण भरी हुई है। वह किसीमें रुका हुआ, पर-तत्त्वसे दबा हुआ अथवा किसीसे मिला हुआ नहीं है। आचार्यदेव कहते हैं कि—संपूर्ण पवित्र स्वभावको स्वीकार करके निरंतर एक ज्ञायकता ही परम संतोष पूर्वक अनुभव करो।

जैसे घास और मिठाईको एकसाथ खाने वाले [illegible] को उन दोनोंके पृथक् स्वादकी प्रतीति नहीं होती और [illegible] राजा मदिरापान करके अपना सुवर्ण-सिंहासन छोड़कर [illegible] पर बैठा हुआ भी आनंद मानता है, इसीप्रकार [illegible] कहते हैं कि हे भगवान आत्मा! तू परको अपना [illegible] की विष्टामें लोट रहा है और उसमें आनंद मानता है [illegible] तेरा स्थान नहीं है। तेरा सुवर्णमय [illegible] पद ही [illegible] है। तू अपने पदको देख। तू [illegible] हिताहितका विवेक नहीं है। [illegible] होगा। जब [illegible] ऐसा किया, [illegible] और [illegible]
[illegible]

आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य जीवो! तुम्हें आत्माकी अपूर्व अचिन्त्य महिमाकी बात सुननेका लाभ मिला है, इसलिये अन्य द्रव्योंसे, देहादिसे, जड़कर्मके संयोगसे तथा निमित्ताधीन होने वाली पुण्य-पापकी भावनासे भिन्न वीतरागी एकरूप ध्रुवस्वभावी आत्माको नित्य पवित्र स्वभावरूपसे देखो (स्वीकार करो, मानो) चैतन्यज्योति प्रतिसमय अपने स्वभावमेंसे निर्मलरूपसे प्रगट होती है।

आत्मामें मात्र ज्ञायकता ही बहुतायत रहती है, वह कदापि विकारमें एकमेक नहीं होता। अनादिकालसे विकारको अपना मान रखा है, यह मान्यता ही अनंत-संसारका कारण है। उस मान्यताका दोष दूर होनेके बाद, पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण अल्प-राग रहता है, किन्तु अरागी स्वभावके बलसे ज्ञानी उसका कर्तृत्व नहीं होने देगा। आत्माका यथार्थ ज्ञान होनेसे तत्काल ही सब त्यागी होकर चले नहीं जाते। गृहस्थदशामें राग होता है, तथापि ज्ञानी मानता है कि राग करने योग्य नहीं है। जिसे तत्वकी प्रतीति नहीं है उसका बाह्य त्याग वास्तविक त्याग नहीं है। तत्त्वज्ञान होनेके बाद स्वभावकी स्थिरताके बलसे त्याग सहज ही होता है और वह क्रमशः बढ़कर पूर्ण वीतराग दशाकी प्राप्ति होती है।

यहाँ सम्यक्त्वकी बात चल रही है। श्रीमद् राजचंद्रजी ज्ञानी थे तथापि पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण वे जवाहरातका व्यापार करते थे; किन्तु उसमें उनका अंतरंगसे रुचिभाव नहीं था। परसे उदासीनभावसे ज्ञायकस्वभावकी प्रतीतिमें वे स्थिर रहते थे। गृहस्थदशामें रहकर सर्व विरतित्व अथवा मोक्षदशा भले ही प्रगट न हो तथापि एकावतारी हुआ जासकता है। पुरुषार्थकी अशक्तिसे पुण्य-पापकी वृत्ति उत्पन्न होती है किन्तु ज्ञानीके उसका स्वामित्व नहीं होता, वह शुभविकल्पको भी लाभदायक नहीं मानता। बाह्यदृष्टि वाला ज्ञानीके हृदयको नहीं पहिचान सकता। जो ज्ञानी है वह अज्ञानी जैसा स्वच्छंदी नहीं होता; अज्ञानी त्यागको देखादेखी उत्कृष्ट मानता है।

परका कर्तृत्व मानकर अज्ञानी चाहे जैसा त्याग करे तथापि वह अनन्त संसारके भोगका हेतु है। बाह्यक्रिया करे, बाह्यचारित्र पाले, और उनमें तृष्णा एवं मानादिको कम करके यदि शुभभाव करे तो पुण्यबन्ध होता है, किन्तु धर्म नहीं होता। यदि तत्त्वज्ञानका विरोध करे तो अनन्तकालके लिये एकेन्द्रिय निगोदमें जाता है। सब स्वतंत्र है, किसीमें किसीको जबरन समझानेकी शक्ति नहीं है।

जब शुद्धनयके द्वारा भेदको गौण करके एकरूप पवित्र स्वभावको माना तबसे लेकर निश्चयदृष्टिके बलसे प्रत्येक अवस्थामें निर्मल एकत्व बढ़ता है और भेदरूप व्यवहार छूटता जाता है। शुद्धदृष्टि होनेसे पूर्व भगवान आत्मा अनेक पुण्य-पापकी भावनारूपसे अटकता हुआ खण्ड-खण्डरूपसे दिखाई देता था; उसे शुद्धनयसे देखने पर वह त्रिकाल निर्मल एकरूप दिखाई देता है। इसलिये व्यवहारका लक्ष्य गौण करके निरन्तर अखण्ड शुद्ध परमार्थ स्वभावका अनुभव करो! अवस्थादृष्टिका एकान्त मत करो। अपनी अज्ञानसे अवस्था-में विकार होता है, किन्तु ऐसा मत मानो कि मैं उतना ही हूँ। यह अवस्था ही मेरी है, उसके लक्ष्यसे गुण-लाभ होगा इसप्रकार यदि व्यवहारको पकड़ रखे तो एकान्त-मिथ्यादृष्टि है।

टीका:—अब, जैसे नवतत्त्वोंमें एक जीवको ही जानना [illegible] कहा है उसीप्रकार एकरूप निर्मल स्वभावसे प्रकाशमान [illegible] अधिगमके (जाननेवाले) उपाय जो प्रमाण, नय, निक्षेप हैं [illegible] निश्चयसे अभूतार्थ हैं। नयाश्रित ज्ञानमें भेद भी [illegible] से अभूतार्थ है, उसमें भी आत्मा एक ही भूतार्थ है। [illegible] निश्चय करनेके विकल्प तो एकके बाद [illegible] भेद किया हो तो पहले भी, आगे, [illegible] ज्ञात किया जाता है कि वे ऐसे हैं और [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] विकल्प करते रहते हैं, किन्तु [illegible] है।

समय (खाली समय) उसकोतो निराला और तराजू नाप इत्यादिके विकल्प नहीं रहते। इसीप्रकार भगवान आत्मा प्रमाण ज्ञायक है, उसे पहले अविरोधीरूपसे निश्चित करनेके लिये प्रमाण* नय निक्षेपके भावसे सम्पूर्ण प्रमाणज्ञान करनेके लिये रुकना पड़ता है।

भगवान आत्मा अविकारी, अनन्त-ज्ञानानन्दमय, पूर्ण अखण्ड-शक्तिका पिंड है। देहादिरूपी संयोगोंसे भिन्न अरूपी ज्ञानघन है। उसे अखण्ड निर्मल स्वभावके पक्षसे जानना सो निश्चयनय है, वर्तमान अवस्थाके भेदको जानना सो व्यवहारनय है और दोनोंको मिलाकर सम्पूर्ण आत्माका ज्ञान करना सो प्रमाण है।

वस्तुके एकदेश (भाव)को जानने वाले ज्ञानको नय कहते हैं। प्रमाण तथा नयज्ञानके अनुसार जाने हुए पदार्थको नाममें, आकार-में, योग्यतामें, और किसी भावरूप अवस्थामें भेदरूपसे बतानेका व्यवहार करना सो निश्चय है।

निक्षेपके चार भेद हैं:—नाम निक्षेप, स्थापना निक्षेप, द्रव्य निक्षेप और भाव निक्षेप।

(१) नामनिक्षेपः—जिस पदार्थमें जो गुण नहीं है उसे उस नामसे कहना सो नामनिक्षेप है। जैसे किसीको दीनानाथ कहते हैं किन्तु उसमें दीनानाथके गुण अथवा लक्षण नहीं हैं, या किसीको चतुर्भुजके नामसे बुलाते हैं, किन्तु उसके चार भुजायें नहीं होतीं, वह तो नाममात्र है।

(२) स्थापनानिक्षेपः—यह वह है, इसप्रकार अन्य वस्तुमें अन्य वस्तुका प्रतिनिधित्व स्थापित करना सो स्थापना निक्षेप है। जैसे भगवान महावीरकी तदाकार मूर्तिमें भगवान महावीरकी स्थापना करना, उसे तदाकार स्थापना कहते हैं। दूसरी अतदाकार स्थापना भी

* प्रमाण (प्र = विशेष करके+मान=माप) = जो सच्चा माप करता है सो सम्यग्ज्ञान है। यहाँ प्रमाणका विकल्प अभूतार्थ है, यह कहा है।

होती है; जैसे शतरंजकी गोटोंमें ऊँट, घोड़ा और हाथीका आकार न होने पर भी इनमें ऊँट, घोड़ा और हाथीकी स्थापना कर ली जाती है।

(३) द्रव्यनिक्षेप:—वर्तमानसे भिन्न अर्थात् अतीत या अनागत पर्यायकी अपेक्षासे वस्तुको वर्तमानमें कहना। जैसे भविष्यमें होने वाले राजाको (राजकुमारको) वर्तमानमें ही राजा साहब कहना; अथवा जो वकालतका काम छोड़ चुका है उसे वर्तमानमें भी वकील कहना।

(४) भावनिक्षेप:—वर्तमान पर्यायसंयुक्त वस्तुको भाव निक्षेप कहते हैं। जैसे साक्षात् केवलज्ञानी भगवानको भावजिन कहना अथवा पूजा करते समय ही किसी व्यक्तिको पुजारी कहना।

आत्माको यथार्थ समझनेके लिये प्रमाण, नय, निक्षेपरूप शुभ-विकल्पका व्यवहार बीचमें आये बिना नहीं रहता किन्तु आत्माके एकत्वके अनुभवके समय वह विकल्प छूट जाता है, इसलिये वह अभूतार्थ है, आत्माके लिये सहायक नहीं है। वस्तुतः [illegible] निर्णय करते हुए और उसमें एकाकाररूपसे स्थिर होते हुए बीचमें [illegible] तथा नय-प्रमाण इत्यादिके मर्यादित विकल्प आये बिना नहीं रहते किन्तु उनसे अभेदमें नहीं आया जाता। [illegible] ही घरके भीतर जाया जाता है, इसीप्रकार [illegible] छोड़ने पर ही स्वभावरूपी घरमें जाया जाता है।

कोई कहता है कि इतनी सूक्ष्म बातोंसे [illegible] है? एकान्त [illegible] [illegible] कहते हैं कि [illegible] [illegible] दूर नहीं होसकता, [illegible] इसीप्रकार तो [illegible] है, [illegible] है, किन्तु [illegible] नहीं होसकता।

जैसे राजाको भलीभाँति पहिचानकर यदि उसे योग्य विधिसे बुलाया जाये तो ही राजा उत्तर देता है और यदि उसकी सेवा करे तो धन देता है; इसीप्रकार आत्माको जिस विधिसे परिपूर्णतया समझना चाहिये उसीप्रकार सत्समागमसे जानकर उसमें एकाग्रता करे तो भगवान आत्मा प्रसन्न हो, उत्तर दे और उसमें विशेष लीनता करे तो अनन्त मोक्षसुख दे। जिसकी रुचि हो उसका पूर्ण प्रेम करके परिचय करना चाहिये।

आत्मा अनंत गुणोंका अविनाशी पिंड है, देहादि संयोग और संयोगाधीन होने वाला पुण्य-पापका भाव क्षणिक है। अनादिकालसे अपनी विस्मृति और दूसरेका सारा अभ्यास चला आ रहा है; यदि वास्तविक हित करना हो तो उसे पहले यथार्थ निर्णय करनेके लिये सत्समागमका परिचय करके, पात्र होकर वीतराग भगवानने जैसा स्वतंत्र आत्मा बताया है वैसा ही उसकी विधिसे समझना होगा। लोकोत्तर अरूपी सूक्ष्म धर्म लोगोंके द्वारा बाहरसे मानी गई प्रत्येक कल्पनासे बिल्कुल भिन्न है। जगतमें धर्मके नाम पर अन्धश्रद्धा और अनेक मतमतांतर चल रहे हैं।

कोई कहता है कि ईश्वर हमें सुधारता-बिगाड़ता है, सुखी-दुखी करता है, कोई कहता है कि पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म बनाते-बिगाड़ते हैं, सुखी-दुखी करते हैं; कोई कहता है कि सब मिलकर एक आत्मा है, कोई कहता है कि देहादिक जड़की क्रिया आत्मा कर सकता है, दूसरे का कर्त्ता-भोक्ता होसकता है। कोई एकान्तपक्षसे आत्माको वर्तमान दशामें भी बिल्कुल शुद्ध मानता है, कोई आत्माको अकेला बंधन वाला और पाप-पुण्य वाला मानता है. कोई यह मानता है कि शुभराग-के विकारसे धीरे-धीरे गुण-लाभ होगा, कोई यह मानता है कि निमित्त-की सहायतासे अथवा आशीर्वादसे पार हो जाऊँगा; इत्यादि विविध प्रकारसे वस्तुको अन्यथा मानते हैं। जगतका यह समस्त भ्रम दूर करनेके लिये सर्वज्ञ वीतरागके न्यायानुसार तत्त्वका रहस्य जाननेके

लिये सत्समागम प्राप्त करके, यथार्थ श्रवण-मनन और अभ्यास करना चाहिये।

यथार्थ श्रद्धा होनेके बाद स्वभावके निर्णय सम्बन्धी विकल्प नहीं रहते, और पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण जितना राग रहता है उसका ज्ञानीको आदर नहीं है, उसका कर्तृत्व नहीं है। ज्ञानकी विशेष निर्मलताके लिये और अशुभसे बचनेके लिये शास्त्रज्ञानसे, प्रमाण, नय, निक्षेप, नवतत्त्व इत्यादिसे तत्त्वविचारमें लगने पर शुभराग होता है, किन्तु उस रागमिश्रित विचारको ज्ञानी गुणकारी नहीं मानता। वह स्थिरताके द्वारा उन समस्त विकल्पोंको तोड़ना चाहता है। साधकदशा होनेसे पूर्व ऐसा अभिप्राय करके पूर्ण वीतरागताको ही उपादेय मानना चाहिये।

आत्माको जाननेके लिये पहले निमित्तरूपसे रागमिश्रित ज्ञानका व्यवहार आता है। आत्माका यथार्थ स्वरूप जाने बिना [illegible] अतीन्द्रिय भगवान आत्माकी सच्ची श्रद्धा नहीं होती और अन्तरङ्ग एकाकार स्थिरताका आनंद नहीं आता, तथा [illegible] बिना वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट नहीं होता।

आत्माको जाननेका उपाय प्रमाण ज्ञान है। [illegible] और वर्तमान अवस्था दोनोंको एकसाथ सम्पूर्ण [illegible] वो प्रमाण ज्ञान है। जो स्व-परको जानता है [illegible] परवस्तु निमित्त है उसे दोनोंको देखो [illegible] ज्ञानका स्वभाव स्व-परप्रकाशक है।

यहाँ ठीक शब्दोंसे ही जानता है [illegible] और [illegible] [illegible] है। [illegible] नहीं [illegible]

किन्तु आत्माके स्वरूपमें पर आत्मा परका कोई भेद नहीं है। ब्रह्म-ज्ञान जानने पर कहीं जीव ब्रह्म-ज्ञान नहीं होजाता। एकके दुःखसे दूसरा दुःखी नहीं होजाता, एक व्यक्तिके शांति रखनेसे किसको शांति नही होजाती, क्योंकि सब भिन्न-भिन्न हैं। कोई कहता है कि 'यहां पर भले ही आत्मा अलग हो, किन्तु मोक्षमें जाने पर जोतमें जोत समा जाती है;' किन्तु यह बात भी मिथ्या है, क्योंकि यहां दुःख भोगनेमें तथा राग-द्वेषमें तो अकेला है और राग-द्वेषका नाश करके अनंत पुरुषार्थसे पवित्र निरुपाधिकदशा प्रगट की तब किसी पर-सत्तामें मिलकर पराधीन होजाये तो अपनेमें स्वाधीन सुख भोक्ता ही नहीं रहा, अर्थात् अपना ही नाश होगया; तो ऐसा कौन चाहेगा।

स्वतंत्र वस्तुका जैसा यथार्थ स्वरूप केवलज्ञानी सर्वज्ञ वीतरागने दिव्यध्वनिमें कहा है वैसा ही पूर्वापर विरोधरहित कहने वाले सर्वज्ञके शास्त्र हैं। उनके अर्थको गुरु-ज्ञानसे समझे और अपने भावमें यथार्थतया निश्चित् करे तब शास्त्र निमित्त कहलाते हैं। यदि शास्त्रसे तर सकते हों तो शास्त्रके पन्नोंका भी मोक्ष होजाना चाहिये। शास्त्रको पहले भी जीव अनंतबार बाह्यदृष्टिसे पढ़ चुका है। यहां तो ज्ञानमें यथार्थ वस्तुको स्वीकार करनेकी बात है। आत्माको देहसे पृथक् जानने पर ज्ञानीको यह स्पष्ट प्रतीत होजाता है कि देव, गुरु पर हैं, निमित्त हैं।

मति-श्रुतज्ञान हैं, उसमें मन और इन्द्रियाँ निमित्त हैं, इसप्रकार ज्ञानसे ज्ञानमें जानता है, निमित्तसे ज्ञान नहीं होता। जबतक वर्तमानमें ज्ञान हीन है तबतक दूसरेको जाननेके लिये मन और इंद्रियाँ निमित्त हैं। भीतर स्वलक्ष्यमें मन और इंद्रियाँ निमित्त नहीं हैं। जीव उससे अंशतः अलग होता है तब स्वतंत्र तत्त्वका ज्ञान करके उसमें स्थिर होसकता है।

इंद्रियाँ तो एक-एक प्रकारको ही जाननेमें निमित्त हैं। इन्द्रियाँ नहीं जानती। यदि कान, आँख इत्यादि इन्द्रियोंकी ओरका लक्ष्य बन्द

स्वतंत्र होता है उसे पराश्रयकी आवश्यक्ता नहीं होती, मेरा अस्तित्व सदा मुझसे ही है, देहादिके संयोगसे मेरा अस्तित्व नहीं है, मैं असंयोगी ज्ञातास्वरूप हूँ. किसीके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है. मेरा ज्ञान सदा एकरूप रहता है, मेरे ज्ञानकी शक्तिमें ज्ञात होने वाले अनेक प्रकारके ज्ञेय मुझसे भिन्न-भिन्न हैं और वे वैसे ही प्रतीत होते हैं, मैं परसे नहीं जानता, मैं ऐसा प्रतिबन्ध वाला नहीं है कि अमुक क्षेत्र, काल, संयोग और राग-द्वेषमें रत होऊँ तो जान सकूँ. ज्ञानमें विकार नहीं है, ज्ञानका अटकनेका स्वभाव नहीं है. अटकना तो परोन्मुख होने वाली क्षणिक अवस्थासे होता है जोकि रागका कार्य है, स्वभाव तो रागका नाशक और अनंत गुणाधार है।

सम्पूर्ण पुरुष नहीं रह सकता। यदि ऐसा माने कि मैं वर्तमान अवस्था तक ही सीमित हूँ तो ध्रुव-स्थायी वस्तुके बिना पर्याय किसके अधार-से होगी? जीव निरंतर विचार बदलता रहता है किन्तु उन विचारोंको बदलाने वाला तो नित्य एकरूप स्थायी रहता है। इसप्रकार एक वस्तुमें नित्य और अनित्यरूप दो दृष्टियां हैं।

कोई चाहे जितना नास्तिक हो किन्तु यदि कोई उसके लड़केके टुकड़े करना चाहे तो वह उसे ठीक नहीं मानेगा, और वह बुरा कर्म नहीं होने देगा। वह यह स्वीकार करता है कि लड़केको दुःख न हो ऐसी अनुकूल परिस्थिति रखनी चाहिये। इसका अप्रगट अर्थ यह हुआ कि बुराईसे रहित भलाई उपादेय है और भलाईको रखने वाला नित्य स्थिर रह सकता है। बुरी अवस्थाके छोड़नेकी स्वीकृतिमें पवित्रता और भलेपनसे स्थायित्व स्वीकार किया है; इसप्रकार नास्तिकमें दो दृष्टियाँ माननेकी आस्तिकता उपस्थित होती है। उसे सत्यकी प्रतीति नहीं है तथापि बुरी अवस्थाके समय यदि सज्जनताका अप्रगट सद्भाव न हो तो भले-बुरेका ध्यान कहाँसे आये? राग-द्वेष और भूल रूप विकारके समय भी अविकारी स्वभाव शक्तिरूपसे है। जैसे दिया-सलाईमें शक्तिरूपसे अग्नि विद्यमान है, वही प्रगट होती है। इसलिये प्रत्येक वस्तुमें सदा स्थायीरूपसे शक्ति और बदलनेरूपसे प्रगट अवस्था इसप्रकार दो पहलुओंको देखनेकी दृष्टिकी आवश्यक्ता है।

भगवान आत्मा सदा एकरूपसे रहने वाली वस्तु है और वर्तमान प्रगट अवस्थामें राग-द्वेष विकार है जोकि एकसमय मात्रके लिये होता है। उस अवस्थाके पीछे उसी समय विकार नाशकके रूपमें अविकारी स्वभाव है; इसलिये मैं अवगुणरूप नहीं हूँ किन्तु नित्य निर्दोष गुणरूप हूँ यह जानकर त्रिकाल एकरूप निर्मल स्वभावकी अखण्डता-की दृष्टिसे देखना सो द्रव्यार्थिकनय है, अवस्थाको देखना सो पर्याया-र्थिकनय है; और दोनों दृष्टिसे सम्पूर्ण वस्तुको जानना सो प्रमाण है। प्रमाणज्ञानमें गौण-मुख्यका क्रम नहीं है।

आत्माको जो एकान्त पक्षसे नित्य ही मानता है उसके यहाँ रागको दूर करके आनन्दको प्रगट करना अथवा पुरुषार्थ करके अवस्थाको बदल देना कैसे होसकता है? इसलिये यह मानना होगा कि प्रत्येक द्रव्यमें अवस्थाओंका बदलना होता रहता है। एक वस्तुमें एक ही साथ दो दृष्टियाँ हैं, उनका क्रमशः विचार होता है। नित्य अखण्डकी दृष्टिसे देखने पर खण्डरूप अवस्थाका लक्ष्य गौण होता है और अवस्थाके विचारको मुख्य करने पर नित्य अखण्डताका लक्ष्य गौण होता है। यद्यपि वस्तुस्थिति ऐसी है अवश्य, किन्तु जीव जबतक [illegible] विचारमें लगा रहता है तबतक मनके सम्बन्धसे रागकी उत्पत्ति होती रहती है, किन्तु निर्विकल्प अभेद स्वभावका लक्ष्य और शांतिका अनुभव नहीं होता। इसलिये उसके विचारोंको छोड़कर स्वरूपमें एकाग्रता प्रगट करनेको एकरूप स्वभावकी श्रद्धा करके अखण्ड स्वभावके बलसे अवस्थाके भेदका लक्ष्य गौण होकर (विकल्प टूटकर) निर्मल आनन्दका अनुभव होता है।

यद्यपि जीव चित्तशुद्धिके आँगनमें अनन्तबार आया है, किन्तु [illegible] एकरूप स्वभावका लक्ष्य कभी नहीं किया। इसलिये निर्विकल्प स्वभावको पहिचानकर, वस्तुकी महिमाको जानकर पूर्णकी ओरकी रुचि करना चाहिये। जब यथार्थ स्व-लक्ष्यके बलसे निर्विकल्प शांतिके अनुभवरूप अन्तरंग एकाग्रता होती है तब सम्यक्दर्शनकी निर्मल अवस्था प्रगट होती है और भ्रान्तिका नाश होता है। जैसे रोगके मिट जानेपर कुछ अशक्ति रह जाती है जिसकी स्थिति अधिक [illegible] नहीं होती, वह पथ्य सेवनसे दूर होजाती है; इसीप्रकार स्वभावके निर्विकल्प [illegible] भ्रान्तिका नाश करनेके बाद वर्तमान पुरुषार्थकी [illegible] अधिक समय तक नहीं रहती। विकारके नाशक स्वभावकी [illegible] एवं निरोग परमात्मदशा प्रगट होती है। [illegible] तो [illegible] होता है, किन्तु स्वतंत्रस्वभावमें अपना कार्य [illegible] है।

पहले आत्माका निर्णय करते समय तो नवोंका विचार आता है, जोकि उस कालमें यथार्थ है, किन्तु मैं उन विकल्परूप नहीं हूँ, इसप्रकार भेदका लक्ष छोड़कर एकरूप स्वभावका अनुभव करने पर वे विकल्प अभूतार्थ हैं। शुभविकल्पसे अभेद स्वभावका लक्ष और एकाग्रतारूप अनुभव नहीं होता। अन्तरंगके मार्गमें कोई परावलम्बन या व्रतादिका शुभराग भी सहायक नहीं है।

प्रश्नः—सभीके लिये इसीप्रकार है या कोई दूसरी रीति है?

उत्तरः—तीनलोक और तीनकालमें ऐसा ही है; किसीके लिये पृथक् मार्ग नहीं है। जहाँ शुद्धमें स्थिर नहीं हुआ जा सकता वहाँ अशुभमें न जानेके लिये व्रतादिके शुभभाव बीचमें होते हैं; किन्तु उनसे अविकारी स्थिरतारूप चारित्र नहीं होता। भीतर गुणोंकी शक्ति भरी हुई है, उसके बलसे निर्मल श्रद्धा, ज्ञान और चारित्रकी एकता होती है। पूर्वापर विरोधसे रहित ज्ञान किये बिना व्रतको उपचारसे भी व्रत नहीं कहा जा सकता। कोई कहता है कि "हमारा व्यवहार ही उड़ जायेगा," किन्तु बुरेका अभिमान भले ही उड़ जाये इसमें डर क्या है? वीतरागके द्वारा कहा गया व्यवहार नहीं उड़ता है। पुण्यभावको छोड़कर पापमें जानेके लिये ज्ञानी नहीं कहते हैं।

सम्यक्दर्शनके होने पर एकाकार शांतिका अनुपम अनुभव होता है और जब विशेषरूपसे ज्ञानमें स्थिरता करता है तब सिद्ध परमात्माके समान आँशिक आनन्दका स्वाद गृहस्थदशामें भी ज्ञानीके होता है। कोई चक्रवर्ती राजा हो तो भी वह अपनेमें एकाग्र होकर ज्ञानध्यानका आनन्द ले सकता है। अपनी अशक्तिके कारण वह स्त्री, पुत्र, महल इत्यादिके निकट गृहस्थदशाके रागमें विद्यमान दिखाई देता है तथापि वह किसी प्रवृत्ति या संयोगका स्वामी नहीं है; उसके ऐसी आंतरिक उदासीनता विद्यमान रहती है कि राग-द्वेषकी वृत्ति मेरा कार्य नहीं है। उसे निरंतर ऐसी प्रतीति रहती है कि मैं ज्ञानानंद हूँ।

करके यदि स्वभावके बलसे एकाग्र हो तो पूर्ण मुक्त-स्वभावकी अपूर्व श्रद्धा अवश्य होगी। ज्ञानी धर्मात्मा गृहस्थदशामें हो और वहाँ यदि प्रसंग उपस्थित होने पर युद्धमें जाना पड़े तो युद्धक्षेत्रमें खड़ा रह-कर भी उसके अन्तरंगसे यह प्रतीति नहीं हटती कि मैं भिन्न हूँ, मैं किसी पर-प्रवृत्तिका स्वामी नहीं हूँ, विकल्प मात्रका कर्ता नहीं किन्तु साक्षी हूँ, और मुझे किसी प्रकारका राग इष्ट नहीं है।

है, जो भगवानकी स्थापना अपने शुद्ध स्वभावकी पुष्टिके लिये करना सो स्थापना निक्षेप है। जिसे पूर्ण वीतराग होजाने वालोंकी यथार्थ पहिचान है किन्तु अपनी पूर्णदशा प्रगट नहीं हुई है, उन्हें पूर्ण वीतरागता स्मरण करते करते पूर्ण निमित्तके प्रति गुणके बहुमान-रूपसे भक्ति उमड़ने लगती है। वीतराग भगवानकी प्रतिमाके प्रति एक तो वीतरागके शुभराग नहीं होता और दूसरे अज्ञानी मूढ़को नहीं होता; किन्तु जिसे यथार्थ आत्मस्वभावकी रुचि होगई है उसे संसार-की ओरका अशुभराग बदलकर वीतरागताके स्मरणका शुभराग हुए बिना नहीं रहता, ऐसा त्रिकाल नियम है। ऐसी वस्तुस्थिति बीचकी दशामें होती है, ऐसा जो नहीं जानता उसे व्यवहारशुद्धिके प्रकारोंके सम्बन्धमें कुछ ज्ञान नहीं है; अर्थात् अपने परिणाम सुधारते हुए बीचमें शुभरागमें क्या निमित्त होता है इसकी खबर नहीं होती और इसप्रकार वह अज्ञानभावसे सत्का अनादर किया करता है।

देव, गुरु, शास्त्र, नवतत्त्व तथा अपूर्ण ज्ञानमें इन्द्रियाँ इत्यादि निमित्त हैं, उसे ज्ञान बराबर जानता है; उपादान-निमित्तकी स्वतंत्रताको यथावत् जानता है; वह यह नहीं मानता कि निमित्तसे काम होता है या किसीकी सहायता आवश्यक है। निमित्ताधीन दृष्टि वाले तो इसप्रकार निमित्त पर भार देते हैं कि जब निमित्त मिलता है तब काम होता है। उन्हें यह खबर नहीं होती कि स्वतंत्र स्वभावमें पूर्ण शक्ति है।

अरूपी वस्तु रूपी पदार्थमें कोई प्रेरणा नहीं कर सकती और परवस्तु आत्मामें कोई असर नहीं कर सकती; क्योंकि प्रत्येक वस्तु परसे भिन्न और स्वतंत्र है। जो इतना नहीं मानता वह दो तत्त्वोंको पृथक् नहीं मानता।

नाम, स्थापना और द्रव्य यह तीनों निक्षेप द्रव्यार्थिक नयके विषय हैं; भाव निक्षेप पर्यायार्थिकनयका विषय है। नाम और स्थापना दोनों निक्षेप निमित्तको संज्ञासे तथा आकारकी स्थापनासे पहिचाननेके व्यवहारके लिये प्रयोजनवान हैं यदि द्रव्य निक्षेप अपनेमें घटायें तो

मनमें श्रद्धा हो गई है उसे वीतरागकी प्रतिमा पर परमात्मापनकी स्थापना करनेका भक्तिभाव उल्लसित हुए बिना नहीं रहता ।

"जिन प्रतिमा जिन सारखी, भाखी आगम माहिं"

अपना साधकभाव अपूर्ण है इसलिये पूर्ण साध्यभावका बहुमान उछालकर उसमें पूर्ण निर्मलभावकी स्थापना की है, और उसका आरोप शांत वीतरागकी मूर्ति पर करता है । जिसे पूर्णकी पहिचान है वह गुणोंके स्मरणके लिये भक्ति-भावको छलकाता है । निमित्तके लिये गुण नहीं किन्तु गुणके लिये निमित्त है । उसमें जो राग रह गया है सो वह गुणकारी नहीं है किन्तु भीतर जो वीतराग-स्वभावकी रुचिका झुकाव है सो गुणकर है । भक्तिके बहाने अपनी रुचिमें एकाग्रता बढ़ाता है । भक्ति-स्तुतिमें रागका भाग रहता है, किन्तु राग मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो रागका नाशक हूँ । राग सहायक नहीं किन्तु पूर्ण वीतराग स्वभावकी रुचि सहायक है; इस-प्रकारके स्वभावका जिसे निर्णय नहीं है वह भगवानके पास जाकर क्या स्मरण करेगा ? किसकी पूजा-भक्ति करेगा ? वह तो रागकी ही पूजा-भक्ति करेगा ।

सर्वज्ञ भगवान पूर्ण वीतराग ज्ञानानंदसे परिपूर्ण हैं । वे यहां नहीं आते । अपूर्ण भूमिकामें साधकको अनेकप्रकारका राग रहता है, इसलिये रागके निमित्तका अवलम्बन भी अनेक प्रकारसे होता है । किसीके शास्त्र-स्वाध्यायकी मुख्यता होती है किसीके वीत-रागकी पूजा-भक्ति होती है, तो किसीके ध्यान, संयम इत्यादिकी मुख्यता होती है । ऐसी स्थिति साधकदशामें होती है, इसप्रकार जो नहीं जानता उसे यह ज्ञात नहीं होता कि निम्न भूमिकामें शुभरागके कौनसे निमित्त होते हैं; और इसलिये ज्ञानमें भूल होती है । सम्यक्ज्ञान चौथे गुणस्थानसे ही होता है तथापि पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं हुई है इसलिये उसे पूर्ण वीतरागका बहुमान रहता है, और

"कहत बनारसी अलप भवथिति जाकी,
सोई जिन प्रतिमा प्रवांने जिन सारखी॥"

(समयसार नाटक अधिकार १३)

जिसके अंतरंग निर्मल ज्ञानमें जिनेन्द्र भगवानके न्यायका प्रवेश है वह जीव संसार-सागरको पार करके किनारे पर आ गया है। वीतरागदृष्टिमें भवका अभाव है। ऐसा सुयोग्य जीव जिन-प्रतिमामें साक्षात् जिनेन्द्र परमात्माका आरोपण करता है, उसका नाम स्थापना-निक्षेप है। उसमें वास्तवमें सत्‌का बहुमान है। जो भगवान हो चुके हैं उन्हें पहिचानकर भगवानका सेवक पुरुषार्थके द्वारा अपनी हीनता-को मिटाकर भगवान होजाता है। परमात्माको पहिचानने वाला परमार्थसे परमात्मासे अपूर्ण नहीं होता। उस व्यवस्थित पूर्ण गुणको बढ़ाकर उसमें उत्साह लाकर, पूर्ण पवित्र स्वभावका स्मरण करके बहुमानके द्वारा इष्ट-निमित्त (प्रतिमा)में साक्षात् परमात्मपनका आरोप करता है। व्यवहारसे ऐसा कहा जाता है कि वह निमित्तका बहुमान करता है किन्तु अपनी अपूर्ण अवस्थाको गौण करके अपने आत्मामें पूर्ण परमात्मदशाकी स्थापना करता है। कोई जीव वास्तवमें परद्रव्यकी भक्ति नहीं करता। धनवानको पहिचानकर, धनवानकी प्रशंसा करने वाला उस व्यक्तिके गुण नहीं गाता, किन्तु अपनेको लक्ष्मीकी रुचि है इसलिये उस रुचिकी प्रशंसा लक्ष्मीके रागके लिये करता है। दृष्टान्त एकदेशीय होता है। पुण्य हो तो लक्ष्मी मिलती है किन्तु यहाँ पवित्रताका लाभ अवश्य होता है।

परमार्थसे आत्मा निरावलम्बी असंयोगी है। निमित्ताधीन किसी-के गुण नहीं होता, ऐसे स्वाधीन स्वरूपको स्वीकार करके, धर्मात्मा अपने शुद्ध उपयोगमें नहीं टिक सकता तब तीव्र कषायमेंसे बचनेके लिये सत् निमित्तका बहुमान करता है; उसमें जो रागका अंश है सो उसका निषेध होता है। जिसे वीतरागका राग होता है उसे रागका

होती है। जब गुण प्रगट होता है तब निमित्तको उपकारी कहा जाता है यह लोकोत्तर विनय है। व्यवहारसे यह कहा जाता है कि निमित्त उपकारी है, किन्तु निश्चयसे तो अपना उपादान ही स्वयं अपना उपकार करता है।

वीतरागकी मूर्ति अस्त्र, वस्त्र, माला, अलंकार और परिग्रह इन पाँच दोषोंसे रहित होती है। वह नग्न सुंदर शांत गम्भीर और पवित्र वीतरागका ही ध्यान दिलाती है। जो तदाकर वीतराग भगवानका प्रतिनिधित्व व्यक्त करती है वही प्रतिमा निर्दोष वीतरागकी (जिनमुद्रा-वाली) प्रतिमा कहलाती है।

माया मिथ्या और निदान–इन तीनों शल्योंसे रहित पवित्र वीतराग स्वरूपकी जिसे रुचि है और जिसे राग-द्वेष अज्ञान रहित केवल वीतराग स्वभावके प्रति ही प्रेम है उसे सर्वोत्कृष्ट, पवित्र निमित्त परम उपकारी निर्दोष देव-गुरु-धर्मके प्रति तथा धर्मात्माके प्रति अमुक भूमिका तक धर्मानुराग रहता है। छट्ठे गुणस्थान तक वीतरागका राग रहता है।

जिसे दृष्टिमें राग हेय होता है उसे वीतरागकी रुचि होती है। जहाँ यह प्रतीति है कि जो राग है सो मैं नहीं हूँ, वहाँ वीत-रागकी भक्ति आदिका शुभराग होता है, किन्तु वह रागको बन्धन मानता है। जिसके रागका निषेध विद्यमान है ऐसे जीवके अकषायपनके लक्ष्यसे रागका ह्रास और शुद्धताकी वृद्धि होती है। स्वभावके बलसे जितना राग दूर होता है उतना वह गुण मानता है और शेषको हेय मानता है।

मैं स्वाधीन स्वरूपसे पूर्णानन्द अभेद वीतराग हूँ, इसप्रकार सत्की रुचिको बढ़ाकर वीतरागकी प्रतिमाको निमित्त बनाकर पर-मात्माका स्वरूप सम्हालकर, पूर्ण वीतरागभावकी अपने ज्ञानमें स्थापना करता है और प्रगट गुणके द्वारा पूर्णका आदर करता है; यह वीतराग

आत्माके लिये सहायक मानता है, जोकि त्रिकाल मिथ्या है। विकार-रूप कारणका अधिक सेवन करूँ तो अधिक गुण-लाभ होगा, इस-प्रकार वह विषको अमृतरूपसे मानता-मनवाता है।

जन्म-मरणकी उपाधिको नाश करनेवाला सर्वप्रथम उपाय सम्यक्ज्ञान है। जिसे जिसकी आवश्यक्ता प्रतीत होती है उसमें उसका पुरुषार्थ हुए बिना नहीं रहता। वस्तुकी कीमत होने पर उसकी महिमा आये बिना नहीं रहती और परिपूर्ण स्वतंत्र सत्को बताने वाले निमित्त ऐसे पूर्ण वीतराग ही होते हैं, इसप्रकार स्वीकार करने वाले अपने भावमें पूर्णकी महिमा गाये बिना नहीं रहते। जैसे पूर्ण वीतराग सिद्ध परमात्मा हैं वैसा ही मैं हूँ, इसप्रकार पूर्णताका यथार्थ आदर होने पर संसार-पक्षमें तुच्छता ज्ञात हुऐ बिना नहीं रहती। देहादिक अनित्य संयोगमें पुण्य-पाप, प्रतिष्ठा, पैसा इत्यादिमें जो शोभा मानता था, परमें अच्छा-बुरा मानता था वह भूल थी; यह जानकर स्वभावकी महिमा लाकर परके ओरकी रुचिको दूर करके पुण्यादिक संयोग को सड़े हुए तृणके समान मानता है, और पुण्यकी मिठास छूट जाती है। जो बाह्य संयोगोंका अभिमान करता था, शुभाशुभका स्वामी बनता था, पुण्य, देह और इन्द्रियोंमें सुख मानता था, उसमें तुच्छता और मात्र वीतरागी पूर्ण स्वभावकी महिमा होने पर दृष्टिमें उसी क्षण, परका आदर छूटकर सम्पूर्ण संसार-पक्षके त्यागका अनुभव होता है। अर्थात् परमें कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित पृथक् अविकारी ज्ञायक ही हूँ ऐसा अनुभव साक्षात् प्रगट होता है।

पुण्य-पापकी प्रवृत्ति मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो उसका नाशक हूँ, ऐसा जानने पर भी उसी समय जीव सम्पूर्ण रागको दूर नहीं कर सकता। श्रद्धामें परवस्तुके रागका त्याग किया, परमें कर्तृत्वका त्याग किया तथापि वर्तमान पुरुषार्थकी अशक्तिसे पुण्य-पापमें लग जाता है और अशुभसे बचनेके लिये शुद्धताके लक्ष्यको स्थिर करके व्रत संयमादि शुभभावमें युक्त होता है; किन्तु रुचिमें कोई राग

ऐसी श्रद्धाके साथ वीतरागी स्वभावके लक्ष्यमें स्थिर होकर, विकल्प रहित जितनी निरावलम्बी स्थिरता बढ़ाई उतना चारित्र है—ऐसा जानना सो सद्भूत व्यवहार है। जो व्रतादिका शुभराग रह गया सो वह सहायक नहीं है, आदरणीय नहीं है, मेरा स्वरूप नहीं है; इसप्रकार जानना सो असद्भूत व्यवहार है। राग मेरी अशक्तिसे निमित्ताधीनरूपसे युक्त होनेसे होता है; उस राग और रागके निमित्तको यथावत् जानना सो असद्भूत व्यवहार है। भूमिकाके अनुसार जो राग और रागके निमित्त हैं उन्हें न माने तो व्यवहारका लोप हो जाये, और व्रतादिके शुभरागसे गुणका प्रगट होना माने तो वह व्यवहाराभास है; उसे तो जो रागरूप व्यवहार है सो वही गुणरूप निश्चय हो गया है; वह विपरीत मान्यता है।

श्रद्धाके एकरूप लक्ष्यमें संसार, मोक्ष और मोक्षमार्गके भेदका स्वीकार नहीं है। निरपेक्ष अखण्ड पूर्ण स्वभावभावका लक्ष्य करना सो शुद्ध दृष्टिका और श्रद्धाका विषय है। ज्ञानमें त्रिकाल स्वभाव, वर्तमान अवस्था तथा निमित्तको जानता है, किन्तु श्रद्धामें कोई दृष्टिभेद नहीं है। अविकारी एकरूप ध्रुवस्वभावकी महिमा पूर्वक स्वरूपमें एकाग्र होने पर अपूर्व शांतिका अनुभव होता है। उस समय प्रमाण, नय इत्यादिके कोई विचार बुद्धिपूर्वक नहीं होते।

दूसरी अवस्थामें प्रमाणादिके अवलम्बन द्वारा विशेष ज्ञान होता है, और राग-द्वेष-मोहकर्मके सर्वथा अभावरूप यथाख्यात चारित्र प्रगट होता है; जिससे केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है। केवलज्ञान होनेके बाद प्रमाणादिका अवलम्बन नहीं रहता। तत्पश्चात् तीसरी साक्षात् सिद्ध अवस्था है, वहाँ भी कोई अवलम्बन नहीं है; इसप्रकार सिद्ध अवस्थामें प्रमाण, नय, निक्षेपका अभाव ही है।

अब इस अर्थका सूचक कलशरूप श्लोक कहते हैं:—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम् ।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्-
ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥ ९ ॥

भेद-अभेदका कारण नहीं होता, इसलिये जो शुद्धनय है सो अखण्ड ध्रुवस्वभावको एकरूप लक्ष्यमें लेकर अवस्थाके लक्ष्यको गौण करता है। जैसे द्वार तक आनेके बाद फिर द्वारको भीतर नहीं ले जाया जाता और मिष्टान खाते समय तराजू, बाँट पेटमें नहीं डाले जाते; इसीप्रकार नवतत्त्व, नय और प्रमाणके रागमिश्रित विचार मन-शुद्धिके भेद हैं किन्तु उन्हें साथमें लेकर शुद्धतामें नहीं पहुँचा जासकता।

आत्मा स्वयं त्रिकालस्थायी तत्त्व है, उसे भूलकर अपनेको वर्तमान अवस्था मात्रका मानता है। संसारमें जिसके इकलौता पुत्र होता है वह उसपर पूरे प्रेमसे देखता है, और वह यही भावना भाता है कि वह चिरकाल जीवित रहे तथा उसके विवाहादिके प्रसंग पर तत्सम्बन्धी रागमें ऐसा एकाग्र होजाता है कि अन्य समस्त विचार सहज ही गौण होजाते है। अंतरंगमें जो अविकारी नित्य स्वभाव है उसकी रुचिको बदलकर परमें महत्ता मानकर रागमें एकाग्र होता है और पुण्यादिक जड़में चमत्कार मानता है; किन्तु जड़ विचारे अन्ध हैं उन्हें कुछ खबर नहीं होती। जाननेकी शक्ति आत्मामें ही है। परमें तुच्छता जानकर पृथक्त्वका निश्चय करके, आन्तरिक चिदानन्द विभूति पर दृष्टि न डाले तो शाश्वत टंकोत्कीर्ण एकरूप चैतन्य भावनाका अनुभव नहीं हो सकेगा।

अनादिकालसे वर्तमान विकार पर दृष्टि स्थापित करके जीव अच्छा-बुरा करनेमें लगा हुआ है, यदि उससे अलग होकर स्वभावकी ओर उन्मुख हो तो वर्तमान अवस्था और पर-निमित्त तथा त्रिकाल स्वभावको यथावत् ज्ञानमें जाने; और फिर क्षणिक विकारी दृष्टिको गौण करके एकरूप ध्रुव स्वभावकी ओर उन्मुख होने पर शुद्धनयके अनुभवसे युक्त सम्यक्दर्शन प्रगट होता है वहाँ बुद्धिपूर्वकका विकल्प छूट जाता है, गौण हो जाता है। इसलिये कहा है कि शुद्ध अनुभवमें द्वित्व मालूम नहीं होता। रागमिश्रित विचाररूप नयोंकी लक्ष्मी उदयको प्राप्त नहीं होती; अर्थात् अत्यन्त गौण होजाती है।

कुलधर्ममें जो कुछ चला आया है उसीको स्वयं करता है और उसे ही स्वीकार करता है, इसप्रकार कोई धर्मकी ओटमें या बाहरसे त्यागी होजाता है तो यह मान बैठता है कि मैं त्यागी हूँ; और इसप्रकार बाह्यमें सब कुछ मानता है। इसप्रकार अनेक तरहसे अपनी कल्पनासे या शास्त्रके नाम पर मान लेता है; किन्तु यह नहीं मानता कि मैं रागका नाशक हूँ, राग मेरा सहायक नहीं है, मैं परके आश्रयसे रहित वर्तमानमें पूर्णशक्तिसे स्वतंत्र परमात्मा हूँ। जैसे पहला घड़ा उल्टा रख देनेसे उसपर जितने ही घड़े रखे जाते हैं वे सब उल्टे ही रखे जाते हैं; इसीप्रकार जहाँ पहली मान्यता विपरीत होती है वहाँ सारी मान्यताएँ विपरीत होती हैं।

स्वतंत्र चैतन्यकी जाति और उसके परम अद्भुत चमत्कारकी स्पष्ट बात करके आचार्य महाराजने समयसारमें केवलज्ञानका रहस्य उद्घाटित किया है। वर्तमानमें लोगोंमें धर्मके नाम पर बहुत अंतर होगया है। तीर्थंकर देवके द्वारा कथित सत्य बदल गया। काल बदल गया है। लोगोंकी योग्यता ही ऐसी है। सत्यको समझनेके लिये तैयारी कम है और साधन भी अल्प हैं, इसलिये पक्षका मोह सत्यको असत्य मनवाता है और असत्यको सत्य सिद्ध करनेका प्रयत्न करता है। अनादिकालसे ऐसी मान्यता चली आ रही है। अविकारी आत्माका धर्म रागका नाशक और निर्मलताका उत्पादक है। उसमें बाह्य साधन सहायक नहीं हैं। नय, प्रमाण, निक्षेप और नवतत्त्वकी विकल्परूप व्यवहारश्रद्धा परमार्थश्रद्धामें सहायक नहीं है। जबतक ऐसी दृढ़ता नहीं होती तबतक सम्यक्दर्शन तो हो ही नहीं सकता, किन्तु उसके यथार्थ आँगन तक भी नहीं पहुँचा जासकता।

यदि पहले गुरुज्ञानसे यथार्थताको विरोधरहित समझके मार्गसे जाने तो आत्मामें एकाग्र अनुभव हो। वहाँ बुद्धिग्राह्य रागमिश्रित विकल्प छूट जाते हैं। सूक्ष्म अव्यक्त विकल्पका ध्यान नहीं रहता। परम आनन्दका अनुभव होता है। जैसा सिद्ध परमात्माको आनन्द

केवल अपने परमार्थके लिये रात-दिन लगे रहनेसे बिना समझे द्वार नहीं खुलते। रुपया-पैसा, प्रतिष्ठा और महत्ता इत्यादिकी प्राप्ति होगई तो उससे आत्माको क्या लाभ है? परके अभिमानका बोझ बढ़ा हुआ है जिससे स्वभावकी दृढ़ताका लोप होता जारहा है। अपना स्वभाव पर-सम्बन्धसे रहित स्वाश्रित है, परके कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित स्वतंत्र है, उसका अनादर कर रहा है। जिसे बहुतसे लोग अच्छा कहते हों वह अच्छा ही हो ऐसा नियम नहीं है। बाह्य-प्रवृत्ति और देहकी क्रिया आत्माके आधीन नहीं है, किन्तु भीतर कर्मके निमित्ताधीन करने पर शुभभाव सहित आत्माके सच्चे ज्ञानके उपायका विचार किया जाये तो वह भी रागरूप होनेसे अभूतार्थ कहा गया है। श्रद्धाके अनुभवमें उसका अभाव होता है, इसलिये वह आत्माके साथ स्थायी न होनेसे असत्यार्थ है। यदि वह सहायक नहीं है तो फिर बाह्यमें कौनसा साधन सहायक होगा?

तेरी महिमा सर्वज्ञकी वाणी द्वारा भी परिपूर्णतया नहीं कही जा सकती, किन्तु वह तो मात्र ज्ञानमें ही आ सकती है। स्वभावकी पहिचान होते ही विश्वकी अनंत प्रतिकूलताओंको नहीं गिनता, और इन्द्रपद जैसे अनुकूल पुण्यको सड़े हुऐ तृणके समान मानता है। जो चैतन्य भगवानकी महत्ता और दृढ़ताको स्वयं अपनी ही उमंगसे नहीं समझता उसे कोई बलात् नहीं मनवा सकता।

कोई कहता है कि आपकी बात सच है, किन्तु परका कुछ अवलम्बन तो आवश्यक है ही? पुण्य आदिके आश्रयके बिना कैसे चल सकता है? इसप्रकार परमुखापेक्षी बना रहना चाहता है, यह चैतन्य भगवानकी हीनता है–उसका अपमान है। जो भला साहूकार होता है वह पौनेसोलह आने चुकानेमें भी लज्जाका अनुभव करता है। इसप्रकार तू प्रभु है, तेरी पूर्ण केवलज्ञानानंदकी शक्ति प्रतिसमय स्वाधीन है; तू उसे हीन कहे, परमुखापेक्षी माने, और यह कहे कि विकारकी सहायता आवश्यक है तो यह तुझे शोभा नहीं देता।

यहाँ विज्ञानाद्वैतवादी तथा वेदान्ती कहते हैं कि अन्तमें तो परमार्थरूप अद्वैतका ही अनुभव हुआ, द्वित्वकी भ्रान्तिका अभाव हुआ। यही हमारा मत है; आपने इसमें विशेष क्या कहा ?

समाधानः—आपके मतमें सर्वथा अभेदरूप एक वस्तु मानी जाती है। यदि सर्वथा अद्वैत माना जाये तो बाह्य वस्तुका अभाव ही होजाये, और ऐसा अभाव तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। हमारे (ज्ञानियोंके) मतमें अविरोधीदृष्टिसे कथन है कि अनन्त आत्मा त्रिकाल भिन्न हैं और जड़-पदार्थ भिन्न हैं। उसका भेदज्ञान करके, स्वभावका निर्णय करके, उसमें एकाग्रता होनेपर विकल्प टूट जाता है, उस अपेक्षासे शुद्ध अनुभवमें द्वैत ज्ञात नहीं होता—ऐसा कहा है। यदि बाह्य वस्तुका और अपनी वर्तमान अवस्थाका लोप किया जाये तो जानने वाला मिथ्या सिद्ध हो और शून्यवादका प्रसंग आजाये।

यदि एक ही तत्त्व हो तो एकमें भूल क्या ? दुःख क्या ? और दुःखको दूर करनेका उपाय भी क्यों किया जाये ? विश्वमें अनन्त वस्तुएं स्वतंत्र और अनादि-अनन्त हैं। द्वैत नहीं है यह कहनेका तात्पर्य यह है कि अपने स्वरूपमें पर नहीं है। यदि सब एक हों तो कोई यह नहीं मान सकता कि मैं अलग हूँ। जो तुझसे अलग हैं उन्हें यदि शून्यरूप कहे तो वे सब शून्य होंगे, उनकी वाणी शून्य होगी और तत्सम्बन्धी जो विचार जीव करता है वे भी शून्य होंगे तथा तेरी एकाग्रता भी शून्य होगी; इसप्रकार 'सर्वं शून्यं' सिद्ध हो जायेगा, इसलिये यह मान्यता मिथ्या है। हम तो अपेक्षादृष्टिसे कहते हैं कि प्रत्येक आत्मा अपनी अपेक्षासे सत् है और परकी अपेक्षासे त्रिकाल असत् है। पर अपनेरूप नहीं है और स्वयं पररूप नहीं है इसलिये पर अपना कुछ कर सकता है या स्वयं परका कुछ कर सकता है ऐसा मानना सो बहुत बड़ी भूल है।

'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र सत् है, किन्तु उसकी अवस्था (पर्याय) प्रतिक्षण बदलती रहती है, वह

प्रत्येक समयमें जो अनन्त पदार्थ विश्वमें हैं उन्हें और अपनेको एक· साथ ज्ञानमें जान ले, ऐसी अपार गम्भीर शक्ति ज्ञानगुणकी प्रत्येक अवस्थामें प्रगटरूपसे होती है; इससे निश्चित् होता है कि प्रस्तुत अनन्त पदार्थ ज्ञेयरूपसे भिन्न न हों और तेरा ज्ञान अनन्त भावरूपसे देह जितने क्षेत्रमें न हो तो एक स्थानमें रहकर अनन्त क्षेत्र-कालादिका विचार नहीं कर सकेगा।

परवस्तुमें अनन्त भाव हैं, उस अनन्तका ध्यान तेरे ज्ञानकी शक्तिमें आ जाता है; मात्र आकाशका अन्त नहीं। काल भी अनादि-अनन्त है। क्रमशः अनन्त काल भविष्यमेंसे भूतकालमें चला गया तथापि काल कम नहीं होसकता। उस अनन्तका एकक्षणमें विचार करने वाला स्वयं अनन्त ज्ञानस्वभावी अपनेरूपसे है, पररूपसे नहीं है। परवस्तु ज्ञानमें ज्ञेयरूप है, यदि उस परको अवस्तु माने तो अपना ज्ञान अवस्तुरूप मिथ्या सिद्ध होता है। जैसे दर्पणमें सामनेके समस्त पदार्थ दिखाई देते हैं, और इधर यह माना जाये कि वे हैं ही नहीं तो यह मिथ्या है; ऐसा मानने पर दर्पण और उसकी स्वच्छता दोनोंको मिथ्या मानना होगा; इसीप्रकार चैतन्य ज्ञानरूपी दर्पण है, उसके ज्ञानकी स्वच्छताकी सहज शक्ति ऐसी है कि अपने स्वच्छ ज्ञायकस्वभावके द्वारा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण इत्यादि पुद्गलके गुण तथा पर द्रव्य, क्षेत्र, काल इत्यादि सब सहज ज्ञात होते हैं। यदि उसे असत्य माने तो अपनेको और ज्ञानगुणको शून्य माननेका प्रसंग आयेगा।

यदि मात्र पवित्र वीतरागदशा माने तो वर्तमान अवस्थामें भी शुद्धता चाहिये। जो एकबार शुद्ध होजाता है वह फिर अशुद्ध नहीं होता। जैसे मक्खनका घी बन जाने पर वह फिर मक्खन नहीं बन सकता, उसीप्रकार सिद्ध होनेके बाद फिर संसारमें परिभ्रमण नहीं होता। अविनाशी स्वभावके लक्ष्यसे एकबार अमुक रागको दूर किया और फिर उतने रागको न आने दे तो पूर्ण पुरुषार्थसे सर्वथा राग दूर करके पूर्ण निर्मल दशा प्रगट करके वह फिर कभी संसारमें

किंचित् मात्र भी विपरीत नहीं जानता, किन्तु मनके अवलम्बन सहित जाननेके कारण परोक्ष-प्रत्यक्षका अन्तर होता है। किन्तु सर्वज्ञके ज्ञानसे विपरीत ज्ञातृत्व नहीं होता। यह मानना मिथ्या है कि ज्यों-ज्यों भूमिका बढ़ती है त्यों-त्यों अलग जानता है और जब केवलज्ञान होता है तब अलग जानता है।

दृष्टि तो पूर्ण स्वभावके लक्ष्यसे पहलेसे ही सम्यक् होती है, और तभी पूर्णकी अपेक्षासे अपूर्ण और पूर्ण परमात्मस्वरूप स्व-साध्यकी अपेक्षासे साधक कहलाता है। अपने पूर्ण एकत्वके लक्ष्यके बिना जीव विपरीत है, वह न साधक है और न शोधक ही है।

परद्रव्यका तथा आत्माका स्वभाव जैसा है वैसा पहलेसे ही परोक्षरूपसे निःसन्देह ज्ञात होता है। तीनकाल और तीनलोकमें स्थित समस्त पदार्थ ज्ञान-गुणकी प्रत्येक समयकी अवस्थामें सहज ही ज्ञात हों ऐसा सर्वज्ञत्व प्रत्येक जीवमें शक्तिरूपसे विद्यमान है। अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यसे पूर्ण प्रत्येक आत्मा परसे त्रिकाल भिन्न है। सर्वज्ञके न्यायानुसार सत्समागमसे स्वयं उसका निर्णय करके, अपने एकरूप स्वभावको मुख्य करके पूर्ण स्वाधीन स्वभावके लक्ष्यसे श्रद्धाकी स्थिरताके द्वारा सिद्ध परमात्मा होता है।

कुछ लोग समभावकी उल्टी परिभाषा करते हैं और कहते हैं कि यथार्थ-अयथार्थका निश्चय करनेमें राग-द्वेष होता है, इसलिये सबको समान मानों, किन्तु यह तो मूढ़ता है, अविवेक है। वस्तुको यथार्थरूपसे मानना, अन्यथा न मानना सो इसमें समभाव है। ज्ञानी बबूलको वर्तमान में चन्दन नहीं जानेगा, नीमके स्वादको कड़वा ही जानेगा, रोटीको रोटी ही जानेगा विष्टा नहीं जानेगा, हाँ, जब विष्टाकी अवस्था होगी तब उसे ऐसा जानेगा, क्रोध अवस्थावालेको क्रोधरूपमें देखेगा शांत नहीं देखेगा। मिथ्याको मिथ्या जानना स्वभाव है, द्वेष नहीं है, पक्षपात नहीं है प्रत्युत सत्का बहुमान है।

मानकर हठयोग द्वारा जड़ देहको निग्रहसे आत्माको पकड़ना चाहता है वह जीव विकारको रोककर शुद्धात्मा सम्यक् प्रगट करता है, और धर्मके नाम पर अज्ञानका सेवन करता है, वह भी दयाका पात्र है।

आत्माको ज्ञानभावसे स्व-क्षेत्रमें व्यापक न मानकर जो सर्व-क्षेत्रमें व्यापक मानता है उसकी दृष्टि स्थूल है। भीतर ज्ञानमें स्थिरता होनेपर अनन्तशक्तिका विकास होता है। उसमें तीनलोक और तीनकाल सहज ज्ञात होजाते हैं, इसप्रकार जिसे ज्ञानकी सूक्ष्म गम्भीरता नहीं जमी, वह बाह्य क्षेत्रमें स्थूलदृष्टिसे जीवको सर्वक्षेत्र व्यापक मानता है। इसप्रकार अनेकप्रकारके मिथ्याअभिप्राय वाले लोगोंने सर्वज्ञकथित अनेकान्त स्वरूपका विरोध अपने भावमें किया है, इसलिये उनने स्वाधीन वस्तुत्वका निषेध किया है। वस्तुभाव वैसा नहीं है इसलिये उनका अनुभव मिथ्या होता है। अतः जैसा सर्वज्ञ वीतराग-देव कहते हैं उसीप्रकार प्रत्येक शरीरमें पूर्ण आनन्दघन एक-एक आत्मा है, वह परसे भिन्न है, किन्तु वर्तमान अवस्थामें निमित्ताधीन विकार स्वयं करता है ऐसा निर्णय करके, अवस्थाको गौण करके शुद्धनयके द्वारा अखंडस्वभावके लक्ष्यसे अभेद अनुभव होसकता है। सत्समागम-से पहले समझकर स्वाधीन पूर्ण चिदानन्दस्वरूपमें स्थिर हुआ कि वह भगवान आत्मा ही अपनी संभाल करेगा, अर्थात् वह राग-द्वेष-अज्ञान-रूपी संसारमें गिरनेसे बचायेगा।

अब चौदहवीं गाथाकी सूचनाके रूपमें यह कहते हैं कि शुद्धनय कैसे प्रगट होता है। तेरहवीं गाथामें नवतत्त्व, नयादिके विकल्पसे भिन्न और अपने त्रिकाल स्वभावमें एकरूप आत्मा बताया है। यहाँ परसे भिन्न, क्षणिक संयोगाधीन विकारसे भिन्न आत्मा शुद्ध-नयसे माना है, सो कहते हैं।

त्रिकालमें भी आत्मामें पर-संयोग नहीं है। आत्मामें परमार्थ-से विकार भी नहीं है। जो क्षणिक अवस्थामात्रके लिये राग होता

अवस्थारूप होनेकी योग्यता है, किन्तु स्वभावमें विकार नहीं है। विकारी अवस्थाका अनुभव करने पर अभूतार्थ राग-द्वेषका भाव होता है वह भगवान आत्माका स्वभाव नहीं है। सत् स्वभावका अनादर करके परका आदर करे तो यह तेरे स्वभावके लिये कलंकरूप है।

जैसे पानीमें शीतलता भरी हुई है, उसीप्रकार तुझमें शाश्वत सुख भरा हुआ है। जैसे पानी मलिनताका नाशक है, उसीप्रकार तू राग-द्वेष-मोहका नाशक है। जैसे पानीमें मीठा स्वाद है, उसी प्रकार तुझमें अनुपम अनन्त आनन्दरस भरा हुआ है। इसप्रकारके अपने निजस्वभावकी ओर दृष्टि कर। जैसे कच्चे चनेमें अप्रगट मिठास भरी हुई है जोकि चनेके भुंजने पर प्रगट अनुभवमें आ जाती है, इसीप्रकार आत्मामें अतीन्द्रिय गुणोंकी अनन्त मिठास भरी हुई है जोकि स्वभावकी प्रतितिके द्वारा, उसमें एकाग्र होनेसे प्रगट अनुभवमें आ जाती है।

हे प्रभु ! एकबार स्वभावकी रुचि करके उसकी महिमा सुन। आचार्यदेव कहते हैं, कि हम अपनी आत्मानुभवकी बात तेरे हितके लिये तुझसे कह रहे हैं। तुझे भिन्नपदसे सम्बोधित करके कहा जारहा है कि प्रभु ! अपने शुद्ध पूर्णस्वभावको देख। तेरे स्वभावमें बाह्य विकार और संयोगका सर्वथा अभाव है। इसलिये उस ओरकी दृष्टि-को छोड़कर अपने नित्य एकरूप स्वभावको देख !

आत्मा अनन्त गुणस्वरूप अनादि-अनन्त स्वतंत्र वस्तु है। जिसे अपना हित करना हो उसे परसे भिन्न अपने स्वभावकी प्रतीति पहले करनी होगी। स्वभाव पूर्ण ज्ञानानन्द है, उसे शरीरादिक किसी बाह्य संयोगके साथ संबंध नहीं है।

जानने वाला स्वयं नित्य है, किन्तु निमित्ताधीन दृष्टिसे शरीर, मन और वाणीकी प्रवृत्ति जो ज्ञानमें जानने योग्य है, उस पृथक् तत्त्व-को अपना मानकर, परसंयोगसे अच्छा-बुरा मानकर उसमें राग-द्वेष करता है। परपदार्थसे लाभ-हानि माननेकी भ्रांति अनादिकालसे है।

ही प्रकारसे कोई अपूर्व वस्तु समझना शेष रह गई है; इस महत्वपूर्ण वातको गत अनन्तकालमें जीव एक क्षणभरको भी नहीं समझा है।

परमें अनुकूल-प्रतिकूल मानने कि दृष्टिसे जिसे अनुकूल माना है उसका आदर करके उसे रखना चाहता है और जिसे प्रतिकूल मान रखा है उसका अनादर करके उसे अलग कर देना चाहता है। इस-प्रकार परनिमित्ताधीन वाह्यदृष्टिसे तीनकाल और तीनलोकके अनन्त पदार्थोंके प्रति अनन्त राग और द्वेष कर रहा है।

संयोगीदृष्टिसे असंयोगी आत्मस्वभावमें जो शक्ति भरी हुई है उसकी प्रतीति नही होती। जव शरीरका संयोग छूटना होगा तव भलीभाँति श्वास भी नहीं लिया जायगा और इन्द्रियाँ शिथिल होजायेंगी, तव अनन्त खेद होगा। किन्तु यदि अपने स्वतंत्र स्वभावको इसप्रकार माने कि शरीरकी क्रिया आत्माधीन नहीं है; मैं निरावलम्व चिदानन्द ज्ञानमूर्ति हूँ; तो अनन्त परपदार्थोंके प्रति होने वाला अनन्त राग-द्वेष दूर होजाता है।

"सकल वस्तु जगमें असहाई,
वस्तु वस्तु सों मिले न काई ॥"

[नाटक—समयसार]

निश्चयनयसे जगतमें सर्व पदार्थ स्वाधीन हैं, कोई किसीकी अपेक्षा नहीं रखता, तथा कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थमें मिल नहीं जाता और न कोई किसीके आश्रित है; कोई किसीका न कारण है और न कार्य। कर्मोंके निमित्तका अपनेमें आरोप करके राग-द्वेष और सुख-दुःखका भेद करके उसमें एकाग्र होना, अर्थात् परवस्तुको अनुकूल-प्रतिकूल मानना ही अपने स्वाधीन स्वभावकी भ्रांति है, अज्ञान है; और इसीका नाम मोहसंयुक्तता है।

जैसे पानीमें वर्तमान अग्निके निमित्तसे उष्णता है, किन्तु पानीका स्वभाव उष्ण नहीं होगया है; इसीप्रकार भगवान आत्मा कर्मसंयोगमें अपनेको भूलकर परमें आदर-अनादररूपसे राग-द्वेषकी कल्पना करता है; वह विकार यद्यपि वर्तमान पर्याय तक ही है, किन्तु

ही प्रकारसे कोई अपूर्व वस्तु समझना शेष रह गई है; इस महत्वपूर्ण बातको गत अनन्तकालमें जीव एक क्षणभरको भी नहीं समझा है।

परमें अनुकूल-प्रतिकूल मानने कि दृष्टिसे जिसे अनुकूल माना है उसका आदर करके उसे रखना चाहता है और जिसे प्रतिकूल मान रखा है उसका अनादर करके उसे अलग कर देना चाहता है। इसप्रकार परनिमित्ताधीन बाह्यदृष्टिसे तीनकाल और तीनलोकके अनन्त पदार्थोंके प्रति अनन्त राग और द्वेष कर रहा है।

संयोगीदृष्टिसे असंयोगी आत्मस्वभावमें जो शक्ति भरी हुई है उसकी प्रतीति नही होती। जब शरीरका संयोग छूटना होगा तब भलीभाँति श्वास भो नहीं लिया जायगा और इन्द्रियाँ शिथिल होजायेंगी, तब अनन्त खेद होगा। किन्तु यदि अपने स्वतंत्र स्वभावको इसप्रकार माने कि शरीरकी क्रिया आत्माधीन नहीं है; मैं निरावलम्ब चिदानन्द ज्ञानमूर्ति हूँ; तो अनन्त परपदार्थोंके प्रति होने वाला अनन्त राग-द्वेष दूर होजाता है।

"सकल वस्तु जगमें असहाई,
वस्तु वस्तु सों मिले न काई॥"

[नाटक—समयसार]

निश्चयनयसे जगतमें सर्व पदार्थ स्वाधीन हैं, कोई किसीकी अपेक्षा नहीं रखता, तथा कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थमें मिल नहीं जाता और न कोई किसीके आश्रित है; कोई किसीका न कारण है और न कार्य। कर्मोंके निमित्तका अपनेमें आरोप करके राग-द्वेष और सुख-दुःखका भेद करके उसमें एकाग्र होना, अर्थात् परवस्तुको अनुकूल-प्रतिकूल मानना ही अपने स्वाधीन स्वभावकी भ्राँति है, अज्ञान है; और इसीका नाम मोहसंयुक्तता है।

जैसे पानीमें वर्तमान अग्निके निमित्तसे उष्णता है, किन्तु पानीका स्वभाव उष्ण नहीं होगया है; इसीप्रकार भगवान आत्मा कर्मसंयोगमें अपनेको भूलकर परमें आदर-अनादररूपसे राग-द्वेषकी कल्पना करता है; वह विकार यद्यपि वर्तमान पर्याय तक ही है, किन्तु

ही प्रकारसे कोई अपूर्व वस्तु समझना शेष रह गई है; इस महत्वपूर्ण बातको गत अनन्तकालमें जीव एक क्षणभरको भी नहीं समझा है।

परमें अनुकूल-प्रतिकूल मानने कि दृष्टिसे जिसे अनुकूल माना है उसका आदर करके उसे रखना चाहता है और जिसे प्रतिकूल मान रखा है उसका अनादर करके उसे अलग कर देना चाहता है। इस-प्रकार परनिमित्ताधीन बाह्यदृष्टिसे तीनकाल और तीनलोकके अनन्त पदार्थोंके प्रति अनन्त राग और द्वेष कर रहा है।

संयोगीदृष्टिसे असंयोगी आत्मस्वभावमें जो शक्ति भरी हुई है उसकी प्रतीति नही होती। जब शरीरका संयोग छूटना होगा तब भलीभाँति श्वास भी नहीं लिया जायगा और इन्द्रियाँ शिथिल होजायेंगी, तब अनन्त खेद होगा। किन्तु यदि अपने स्वतंत्र स्वभावको इसप्रकार माने कि शरीरकी क्रिया आत्माधीन नहीं है; मैं निरावलम्ब चिदानन्द ज्ञानमूर्ति हूँ; तो अनन्त परपदार्थोंके प्रति होने वाला अनन्त राग-द्वेष दूर होजाता है।

"सकल वस्तु जगमें असहाई,
वस्तु वस्तु सों मिले न काई॥"

[नाटक–समयसार]

निश्चयनयसे जगतमें सर्व पदार्थ स्वाधीन हैं, कोई किसीकी अपेक्षा नहीं रखता, तथा कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थमें मिल नहीं जाता और न कोई किसीके आश्रित है; कोई किसीका न कारण है और न कार्य। कर्मोंके निमित्तका अपनेमें आरोप करके राग-द्वेष और सुख-दुःखका भेद करके उसमें एकाग्र होना, अर्थात् परवस्तुको अनुकूल-प्रतिकूल मानना ही अपने स्वाधीन स्वभावकी भ्राँति है, अज्ञान है; और इसीका नाम मोहसंयुक्तता है।

जैसे पानीमें वर्तमान अग्निके निमित्तसे उष्णता है, किन्तु पानीका स्वभाव उष्ण नहीं होगया है; इसीप्रकार भगवान आत्मा कर्मसंयोगमें अपनेको भूलकर परमें आदर-अनादररूपसे राग-द्वेषकी कल्पना करता है; वह विकार यद्यपि वर्तमान पर्याय तक ही है, किन्तु

ही प्रकारसे कोई अपूर्व वस्तु समझना शेष रह गई है; इस महत्वपूर्ण बातको गत अनन्तकालमें जीव एक क्षणभरको भी नहीं समझा है।

परमें अनुकूल-प्रतिकूल मानने कि दृष्टिसे जिसे अनुकूल माना है उसका आदर करके उसे रखना चाहता है और जिसे प्रतिकूल मान रखा है उसका अनादर करके उसे अलग कर देना चाहता है। इस-प्रकार परनिमित्ताधीन बाह्यदृष्टिसे तीनकाल और तीनलोकके अनन्त पदार्थोंके प्रति अनन्त राग और द्वेष कर रहा है।

संयोगीदृष्टिसे असंयोगी आत्मस्वभावमें जो शक्ति भरी हुई है उसकी प्रतीति नहीं होती। जब शरीरका संयोग छूटना होगा तब भलीभाँति श्वास भी नहीं लिया जायगा और इन्द्रियाँ शिथिल होजायेंगी, तब अनन्त खेद होगा। किन्तु यदि अपने स्वतंत्र स्वभावको इसप्रकार माने कि शरीरकी क्रिया आत्माधीन नहीं है; मैं निरावलम्ब चिदानन्द ज्ञानमूर्ति हूँ; तो अनन्त परपदार्थोंके प्रति होने वाला अनन्त राग-द्वेष दूर होजाता है।

"सकल वस्तु जगमें असहाई,
वस्तु वस्तु सों मिले न काई॥"

[नाटक—समयसार]

निश्चयनयसे जगतमें सर्व पदार्थ स्वाधीन हैं, कोई किसीकी अपेक्षा नहीं रखता, तथा कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थमें मिल नहीं जाता और न कोई किसीके आश्रित है; कोई किसीका न कारण है और न कार्य। कर्मोंके निमित्तका अपनेमें आरोप करके राग-द्वेष और सुख-दुःखका भेद करके उसमें एकाग्र होना, अर्थात् परवस्तुको अनुकूल-प्रतिकूल मानना ही अपने स्वाधीन स्वभावकी भ्रांति है, अज्ञान है; और इसीका नाम मोहसंयुक्तता है।

जैसे पानीमें वर्तमान अग्निके निमित्तसे उष्णता है, किन्तु पानीका स्वभाव उष्ण नहीं होगया है; इसीप्रकार भगवान आत्मा कर्मसंयोगमें अपनेको भूलकर परमें आदर-अनादररूपसे राग-द्वेषकी कल्पना करता है; वह विकार यद्यपि वर्तमान पर्याय तक ही है, किन्तु

ही प्रकारसे कोई अपूर्व वस्तु समझना शेष रह गई है; इस महत्वपूर्ण बातको गत अनन्तकालमें जीव एक क्षणभरको भी नहीं समझा है।

परमें अनुकूल-प्रतिकूल मानने कि दृष्टिसे जिसे अनुकूल माना है उसका आदर करके उसे रखना चाहता है और जिसे प्रतिकूल मान रखा है उसका अनादर करके उसे अलग कर देना चाहता है। इस-प्रकार परनिमित्ताधीन बाह्यदृष्टिसे तीनकाल और तीनलोकके अनन्त पदार्थोंके प्रति अनन्त राग और द्वेष कर रहा है।

संयोगीदृष्टिसे असंयोगी आत्मस्वभावमें जो शक्ति भरी हुई है उसकी प्रतीति नही होती। जब शरीरका संयोग छूटना होगा तब भलीभाँति श्वास भी नहीं लिया जायगा और इन्द्रियाँ शिथिल होजायेंगी, तब अनन्त खेद होगा। किन्तु यदि अपने स्वतंत्र स्वभावको इसप्रकार माने कि शरीरकी क्रिया आत्माधीन नहीं है; मैं निरावलम्ब चिदानन्द ज्ञानमूर्ति हूँ; तो अनन्त परपदार्थोंके प्रति होने वाला अनन्त राग-द्वेष दूर होजाता है।

"सकल वस्तु जगमें असहाई,
वस्तु वस्तु सौं मिले न काई॥"

[नाटक-समयसार]

निश्चयनयसे जगतमें सर्व पदार्थ स्वाधीन हैं, कोई किसीकी अपेक्षा नहीं रखता, तथा कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थमें मिल नहीं जाता और न कोई किसीके आश्रित है; कोई किसीका न कारण है और न कार्य। कर्मोंके निमित्तका अपनेमें आरोप करके राग-द्वेष और सुख-दुःखका भेद करके उसमें एकाग्र होना, अर्थात् परवस्तुको अनुकूल-प्रतिकूल मानना ही अपने स्वाधीन स्वभावकी भ्रांति है, अज्ञान है; और इसीका नाम मोहसंयुक्तता है।

जैसे पानीमें वर्तमान अग्निके निमित्तसे उष्णता है, किन्तु पानीका स्वभाव उष्ण नहीं होगया है; इसीप्रकार भगवान आत्मा कर्मसंयोगमें अपनेको भूलकर परमें आदर-अनादररूपसे राग-द्वेषकी कल्पना करता है; वह विकार यद्यपि वर्तमान पर्याय तक ही है, किन्तु

ही प्रकारसे कोई अपूर्व वस्तु समझना शेष रह गई है; इस महत्वपूर्ण बातको गत अनन्तकालमें जीव एक क्षणभरको भी नहीं समझा है।

परमें अनुकूल-प्रतिकूल मानने कि दृष्टिसे जिसे अनुकूल माना है उसका आदर करके उसे रखना चाहता है और जिसे प्रतिकूल मान रखा है उसका अनादर करके उसे अलग कर देना चाहता है। इस-प्रकार परनिमित्ताधीन बाह्यदृष्टिसे तीनकाल और तीनलोकके अनन्त पदार्थोंके प्रति अनन्त राग और द्वेष कर रहा है।

संयोगीदृष्टिसे असंयोगी आत्मस्वभावमें जो शक्ति भरी हुई है उसकी प्रतीति नही होती। जब शरीरका संयोग छूटना होगा तब भलीभाँति श्वास भी नहीं लिया जायगा और इन्द्रियाँ शिथिल होजायेंगी, तब अनन्त खेद होगा। किन्तु यदि अपने स्वतंत्र स्वभावको इसप्रकार माने कि शरीरकी क्रिया आत्माधीन नही है; मैं निरावलम्ब चिदानन्द ज्ञानमूर्ति हूँ; तो अनन्त परपदार्थोंके प्रति होने वाला अनन्त राग-द्वेष दूर होजाता है।

"सकल वस्तु जगमें असहाई,
वस्तु वस्तु सौं मिले न काई॥"

[नाटक–समयसार]

निश्चयनयसे जगतमें सर्व पदार्थ स्वाधीन हैं, कोई किसीकी अपेक्षा नहीं रखता, तथा कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थमें मिल नहीं जाता और न कोई किसीके आश्रित है; कोई किसीका न कारण है और न कार्य। कर्मोंके निमित्तका अपनेमें आरोप करके राग-द्वेष और सुख-दुःखका भेद करके उसमें एकाग्र होना, अर्थात् परवस्तुको अनुकूल-प्रतिकूल मानना ही अपने स्वाधीन स्वभावकी भ्राँति है, अज्ञान है; और इसीका नाम मोहसंयुक्तता है।

जैसे पानीमें वर्तमान अग्निके निमित्तसे उष्णता है, किन्तु पानीका स्वभाव उष्ण नहीं होगया है; इसीप्रकार भगवान आत्मा कर्मसंयोगमें अपनेको भूलकर परमें आदर-अनादररूपसे राग-द्वेषकी कल्पना करता है; वह विकार यद्यपि वर्तमान पर्याय तक ही है, किन्तु

ही प्रकारसे कोई अपूर्व वस्तु समझना शेष रह गई है; इस महत्वपूर्ण बातको गत अनन्तकालमें जीव एक क्षणभरको भी नहीं समझा है।

परमें अनुकूल-प्रतिकूल मानने कि दृष्टिसे जिसे अनुकूल माना है उसका आदर करके उसे रखना चाहता है और जिसे प्रतिकूल मान रखा है उसका अनादर करके उसे अलग कर देना चाहता है। इस-प्रकार परनिमित्ताधीन बाह्यदृष्टिसे तीनकाल और तीनलोकके अनन्त पदार्थोंके प्रति अनन्त राग और द्वेष कर रहा है।

संयोगीदृष्टिसे असंयोगी आत्मस्वभावमें जो शक्ति भरी हुई है उसकी प्रतीति नही होती। जब शरीरका संयोग छूटना होगा तब भलीभाँति श्वास भी नहीं लिया जायगा और इन्द्रियाँ शिथिल होजायेंगी, तब अनन्त खेद होगा। किन्तु यदि अपने स्वतंत्र स्वभावको इसप्रकार माने कि शरीरकी क्रिया आत्माधीन नहीं है; मैं निरावलम्ब चिदानन्द ज्ञानमूर्ति हूँ; तो अनन्त परपदार्थोंके प्रति होने वाला अनन्त राग-द्वेष दूर होजाता है।

"सकल वस्तु जगमें असहाई,
वस्तु वस्तु सौं मिले न काई ॥"

[नाटक—समयसार]

निश्चयनयसे जगतमें सर्व पदार्थ स्वाधीन हैं, कोई किसीकी अपेक्षा नहीं रखता, तथा कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थमें मिल नहीं जाता और न कोई किसीके आश्रित है; कोई किसीका न कारण है और न कार्य। कर्मोके निमित्तका अपनेमें आरोप करके राग-द्वेष और सुख-दुःखका भेद करके उसमें एकाग्र होना, अर्थात् परवस्तुको अनुकूल-प्रतिकूल मानना ही अपने स्वाधीन स्वभावकी भ्रांति है, अज्ञान है; और इसीका नाम मोहसंयुक्तता है।

जैसे पानीमें वर्तमान अग्निके निमित्तसे उष्णता है, किन्तु पानीका स्वभाव उष्ण नहीं होगया है; इसीप्रकार भगवान आत्मा कर्मसंयोगमें अपनेको भूलकर परमें आदर-अनादररूपसे राग-द्वेषकी कल्पना करता है; वह विकार यद्यपि वर्तमान पर्याय तक ही है, किन्तु

ही प्रकारसे कोई अपूर्व वस्तु समझना शेष रह गई है; इस महत्वपूर्ण बातको गत अनन्तकालमें जीव एक क्षणभरको भी नहीं समझा है।

परमें अनुकूल-प्रतिकूल मानने कि दृष्टिसे जिसे अनुकूल माना है उसका आदर करके उसे रखना चाहता है और जिसे प्रतिकूल मान रखा है उसका अनादर करके उसे अलग कर देना चाहता है। इस-प्रकार परनिमित्ताधीन बाह्यदृष्टिसे तीनकाल और तीनलोकके अनन्त पदार्थोंके प्रति अनन्त राग और द्वेष कर रहा है।

संयोगीदृष्टिसे असंयोगी आत्मस्वभावमें जो शक्ति भरी हुई है उसकी प्रतीति नही होती। जब शरीरका संयोग छूटना होगा तब भलीभाँति श्वास भी नहीं लिया जायगा और इन्द्रियाँ शिथिल होजायेंगी, तब अनन्त खेद होगा। किन्तु यदि अपने स्वतंत्र स्वभावको इसप्रकार माने कि शरीरकी क्रिया आत्माधीन नहीं है; मैं निरावलम्ब चिदानन्द ज्ञानमूर्ति हूँ; तो अनन्त परपदार्थोंके प्रति होने वाला अनन्त राग-द्वेष दूर होजाता है।

"सकल वस्तु जगमें असहाई,
वस्तु वस्तु सों मिले न काई ॥"

[नाटक-समयसार]

निश्चयनयसे जगतमें सर्व पदार्थ स्वाधीन हैं, कोई किसीकी अपेक्षा नहीं रखता, तथा कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थमें मिल नहीं जाता और न कोई किसीके आश्रित है; कोई किसीका न कारण है और न कार्य। कर्मोंके निमित्तका अपनेमें आरोप करके राग-द्वेष और सुख-दुःखका भेद करके उसमें एकाग्र होना, अर्थात् परवस्तुको अनुकूल-प्रतिकूल मानना ही अपने स्वाधीन स्वभावकी भ्रांति है, अज्ञान है; और इसीका नाम मोहसंयुक्तता है।

जैसे पानीमें वर्तमान अग्निके निमित्तसे उष्णता है, किन्तु पानीका स्वभाव उष्ण नहीं होगया है; इसीप्रकार भगवान आत्मा कर्मसंयोगमें अपनेको भूलकर परमें आदर-अनादररूपसे राग-द्वेषकी कल्पना करता है; वह विकार यद्यपि वर्तमान पर्याय तक ही है, किन्तु

ही प्रकारसे कोई अपूर्व वस्तु समझना शेष रह गई है; इस महत्वपूर्ण बातको गत अनन्तकालमें जीव एक क्षणभरको भी नहीं समझा है।

परमें अनुकूल-प्रतिकूल मानने कि दृष्टिसे जिसे अनुकूल माना है उसका आदर करके उसे रखना चाहता है और जिसे प्रतिकूल मान रखा है उसका अनादर करके उसे अलग कर देना चाहता है। इस-प्रकार परनिमित्ताधीन बाह्यदृष्टिसे तीनकाल और तीनलोकके अनन्त पदार्थोंके प्रति अनन्त राग और द्वेष कर रहा है।

संयोगीदृष्टिसे असंयोगी आत्मस्वभावमें जो शक्ति भरी हुई है उसकी प्रतीति नही होती। जब शरीरका संयोग छूटना होगा तब भलीभाँति श्वास भी नहीं लिया जायगा और इन्द्रियाँ शिथिल होजायेंगी, तब अनन्त खेद होगा। किन्तु यदि अपने स्वतंत्र स्वभावको इसप्रकार माने कि शरीरकी क्रिया आत्माधीन नहीं है; मैं निरावलम्ब चिदानन्द ज्ञानमूर्ति हूँ; तो अनन्त परपदार्थोंके प्रति होने वाला अनन्त राग-द्वेष दूर होजाता है।

"सकल वस्तु जगमें असहाई,
वस्तु वस्तु सौं मिले न काई॥"

[नाटक-समयसार]

निश्चयनयसे जगतमें सर्व पदार्थ स्वाधीन हैं, कोई किसीकी अपेक्षा नहीं रखता, तथा कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थमें मिल नहीं जाता और न कोई किसीके आश्रित है; कोई किसीका न कारण है और न कार्य। कर्मोंके निमित्तका अपनेमें आरोप करके राग-द्वेष और सुख-दुःखका भेद करके उसमें एकाग्र होना, अर्थात् परवस्तुको अनुकूल-प्रतिकूल मानना ही अपने स्वाधीन स्वभावकी भ्रांति है, अज्ञान है; और इसीका नाम मोहसंयुक्तता है।

जैसे पानीमें वर्तमान अग्निके निमित्तसे उष्णता है, किन्तु पानीका स्वभाव उष्ण नहीं होगया है; इसीप्रकार भगवान आत्मा कर्मसंयोगमें अपनेको भूलकर परमें आदर-अनादररूपसे राग-द्वेषकी कल्पना करता है; वह विकार यद्यपि वर्तमान पर्याय तक ही है, किन्तु

लगता है कि जीवके द्वारा किये बिना जड़-पुद्गलकी क्रिया नहीं होसकती। यह भी अनादिकालीन दृष्टिकी भूल है।

जड़ और चेतन दोनों तत्त्व बिलकुल भिन्न हैं, तीनोंकाल भिन्न हैं। कोई आत्मा परका कुछ भी नहीं कर सकता, और परसे कभी किसीको कोई हानि-लाभ नहीं हो सकता। सबका हिताहित अपने भावमें ही है। बाहरके चाहे जितने अनुकूल-प्रतिकूल संयोग आयें, किन्तु वे मेरे स्वभावमें कुछ भी नहीं कर सकते, क्योंकि मैं स्वतंत्र हूँ। इसप्रकार त्रिकाल स्वतंत्र वस्तुस्वभावकी घोषणा करनेसे अनन्त राग-द्वेष हेतुकी बाह्यवृत्तिको समेटकर आत्मस्वरूपके आंगनमें आ-खड़ा होता है। और जो आंगनमें आ-खड़ा हुआ है वह अपना कितना बुरा करेगा ?

यथार्थ समझके करनेमें अनन्त अनुकूल पुरुषार्थ चाहिये। अपने परिणामके लिये परके ऊपर दृष्टि नहीं रही, इसलिये अनन्त परद्रव्यो-के प्रतिका राग-द्वेष न करनेरूप अनन्त तपस्या आ गई। परकी इच्छा-का विरोध ही तप है, (इच्छानिरोधस्तपः) इसमें संवर भी अन्तर्हित है और यथार्थ मान्यताको स्थिर रखनेवाले अनन्तपुरुषार्थका भी समावेश होगया। यह सब ज्ञानकी क्रिया है। जो होसकता है वही कहा जाता है। लोग थोड़ीसी बाह्य प्रतिकूलता आ जानेसे आकुल व्याकुल होजाते हैं, किन्तु भगवान कहते हैं कि जब मुनि ध्यानमग्न हों तब कोई विरोधी देव (जिसे धर्मकी रुचि नहीं है) आकर उनका पैर पकड़कर सुमेरुपर्वत पर ऐसा दे पछाड़े जैसे धोबी कपड़ेको पत्थर पर पछाड़ता है, तो ऐसी घोर प्रतिकूलताके समय भी अनन्त मुनिवर्य स्वरूपमें एकाग्र रहकर मोक्ष गये हैं; अर्थात् किसी भी आत्माके अपारशक्तिरूप स्वभाव-भाव को रोकनेके लिये जगतमें कोई समर्थ नहीं है। शरीरको पर्वतके साथ पछाड़ देनेका मुनिको कोई दुःख नहीं होता। जिसे शरीरके प्रति मोह है उसे अपने रागके कारण शरीरमें तनिक सी प्रतिकूलता आने पर दुःख मालूम होता है—वह उसे दुःख मान लेता है। मुनिकी

क्रूर परिणाम होते हैं उसके नरकगतिकी आयुका वन्ध होता है। वैसे नरकके भयंकर प्रतिकूल संयोगोंमें भी आत्मप्रतीति की जासकती हैं। वाह्यमें दुःखके समय भी दुःखरहित स्वभावका विचार करने पर कोई जीव अन्तरंगमें एकाग्र होकर शुद्ध आत्माके निर्णयके द्वारा वोधवीज (सम्यग्दर्शन) को प्राप्त कर सकता है। उस क्षेत्रमें भी ज्ञान होसकता है कि मैंने पहले मुनिके निकट सदुपदेश सुना था, किन्तु उसकी परवाह नहीं की; और ऐसा विचार करते करते स्व-लक्ष्यसे आन्तरिक प्रतीति, या प्रकाश पा लेता है। इसमें किसी निमित्त-कारणकी आवश्यक्ता नहीं होती। ऐसा नहीं है कि वाह्य अनुकूलता हो तो भी ज्ञान हो। पापकी भाँति पुण्यके फलसे नववें ग्रैवेयकमें-सम्पूर्ण वाह्य अनुकूलतामें गया, किन्तु वहाँ वाह्य अनुकूलताओंके होते हुये भी निरावलम्वी स्वभावकी प्रतीति न करे तो कहीं वे वाह्यसंयोग आत्मप्रतीति नहीं करा देंगे !

किसी भी आत्मसंयोगसे न तो आत्माका धर्म होता है, और न धर्म रुकता ही है; इसप्रकार अपने स्वतंत्र स्वभावको मानना सो यथार्थदृष्टि है। देहादिका कोई संयोग मेरा स्वरूप नहीं है। किसीके पहलेका वैरभाव जागृत हुआ हो तो वह भले ही शरीरके टुकड़े कर डाले, किन्तु वह आत्माके लिये हानिकारक नहीं है। वह आत्माकी क्रिया नहीं किन्तु जड़-स्वभाव है। ऐसी श्रद्धा अनन्त स्वभावकी शक्ति प्रदान करती है। जो ऐसे स्वभावसे इन्कार करता है उसे पराधीनता अनुकूल मालूम होरही है। संयोगकी श्रद्धा समताभाव नहीं करा सकती। मेरे स्वभावको कोई हानि नहीं पहुँचा सकता, ऐसी श्रद्धाको वनाये रखनेमें अनन्त पुरुषार्थ है। ऐसी समझके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसीप्रकार ज्ञानपूर्वक समझ और समझ पूर्वक स्थिरतामें प्रत्याख्यान और तपस्या इत्यादि ज्ञानकी क्रिया आती है। जिसने स्वभाव-के लक्ष्यसे मिथ्या मान्यताका नाश किया है उसके अनन्त संसारका कारण मिथ्याभाव रुक गया है, और मिथ्याभावके रुकने पर मिथ्या-

निमित्ताधीन अशुद्धदृष्टिका पक्ष छोड़कर विकारी अवस्था तथा निमित्तके संयोगको यथावत् जानने वाले व्यवहारनयको गौण करके, एक असाधारण ज्ञायकभाव-चैतन्यमात्र आत्मा अभेद स्वभावग्रहण करके उसे शुद्धनयकी दृष्टिसे (१) सर्व परद्रव्योंसे भिन्न, (२) त्रैकालिक सर्व पर्यायोंमें अपने अरूपी, असंख्यप्रदेशके अखण्ड पिण्डरूपसे एकाकार, (३) वर्तमानमें विद्यमान पर्यायकी हीनाधिकताके भेदसे रहित, (४) अनेक गुणोंके विभिन्न भेदोंसे रहित, (५) निमित्तमें युक्तरूप विकारीभावसे रहित, अर्थात्, परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव और गुण-भेदसे रहित, निर्विकल्प सामान्य वस्तुरूपसे देखने पर समस्त परद्रव्य और परभावोंके अनेक भेदोंसे युक्त अवस्थाकी स्वभावमें नास्ति है। इसप्रकार निश्चयसम्यग्दर्शनका विषय कहा है।

प्रत्येक आत्मा तथा प्रत्येक जड़ वस्तुका स्वरूप अनन्त धर्मात्मक है, जोकि सर्वज्ञदेव कथित 'स्याद्वाद'से यथार्थ निश्चित् होता है। आत्मा भी अनन्त धर्मों वाला है। प्रत्येक आत्मामें जो धर्म (गुण) हैं वे कहीं वाहरसे नहीं आते। कर्मके निमित्तसे पुण्य-पापकी जो वृत्ति उठती है वह आत्मस्वभावकी नहीं है। आत्माका स्वभाव विकार नाशक नित्य ज्ञानस्वरूप है; पराश्रयसे रहित, कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित स्वाधीन है। उसे ऐसा न मानना सो मिथ्यात्व-मूढ़ता है; और जैसा है वैसा ही मानना सो सम्यग्दर्शन है। फिर स्वभावके बलसे अशुभरागको दूर करते-करते जो शुभराग रह जाता है उसमें व्रत, तप इत्यादि शुभभाव सहज ही होते हैं; और स्वलक्ष्यसे स्थिरतामें स्थित होनेपर जितना रागका नाश हुआ उतना चारित्र है; किन्तु सम्यग्दर्शनके विना व्यवहारसे भी व्रत चारित्रादि अंशमात्र भी सच्चे नहीं होते।

छह पदार्थ अनादि, अनन्त स्वयंसिद्ध, किसीके भी कार्य-कारणसे रहित, स्वतंत्र हैं; प्रतिसमय अपनी शक्तिसे परिपूर्ण हैं; इसप्रकार सर्वज्ञ भगवानने अपने ज्ञानमें प्रत्यक्ष देखा है। उसमें अनन्त आत्मा स्वतंत्र अरूपी ज्ञानमय हैं; अनन्त जड़-पुद्गलपरमाणु अचेतन हैं। और अन्य

से एक अंश भी कम नहीं होता। इसप्रकार शरीरके रजकण चैतन्य-को प्राप्त नहीं होसकते और आत्मा कभी शरीरके रजकणरूप जड़ता-को प्राप्त नहीं होता। न तो चैतन्यमें जड़ है और न जड़में चैतन्य। दोनों अनादिकालसे अलग थे और वर्तमानमें भी अलग ही हैं। अलग वस्तु कभी भी दूसरेमें नहीं मिल सकती। यदि आत्मा और शरीर एकमेक हों तो चैतन्य (आत्मा) के उड़ जाने पर जड़ शरीर भी उड़ जाना चाहिये, किन्तु ऐसा कदापि नहीं होता। जड़-चेतन दोनों द्रव्योंके स्वभाव त्रिकाल भिन्न हैं। जो वस्तु है उसका त्रिकालमें भी सर्वथा नाश नहीं होता, किन्तु मात्र पर्याय बदलती रहती है, जिसे लोग नाश कह देते हैं। जो वस्तु है ही नहीं वह कदापि नवीन उत्पन्न नहीं होसकती, किन्तु वस्तुकी पर्याय नई प्रगट होती है, जिसे लोग (अवस्था पर दृष्टि होनेसे) वस्तुका उत्पन्न होना मानते हैं।

सर्वज्ञकथित स्याद्वादन्यायसे अनन्त धर्मस्वरूप स्वतंत्र वस्तुस्वभाव-को भलीभाँति निश्चित् किया जासकता है। स्वतंत्र वस्तुके अनेक धर्मोंमेंसे जिस अपेक्षासे जो स्वभाव है उसे मुख्य करके कहना सो *स्याद्वाद है। प्रत्येक वस्तु अपनेपनसे त्रिकाल है, और पररूपसे एक समयमात्रको नहीं है। इसप्रकार अस्ति-नास्तिसे वस्तुके निश्चय-स्वरूपको जानना सो स्याद्वादकी सच्ची श्रद्धा है। आत्मा कभी तो परकी क्रिया करे और कभी न करे, ऐसा विपरीतवाद, विचित्रवाद सर्वज्ञदेवके शासनमें नहीं है।

प्रत्येक वस्तु त्रिकालस्थायी होनेकी अपेक्षासे नित्य है, और पर्यायपरिवर्तनकी दृष्टिसे अनित्य है। निश्चयदृष्टिसे-वस्तुदृष्टिसे नित्य अभिन्नता और पर्यायदृष्टिसे भिन्नता (अपेक्षादृष्टिसे) यथावत् कही जाती है। एकधर्मके कहने पर (स्वभाव या गुणके कहने पर) दूसरेको गौण कर दिया जाता है। जिस दृष्टिसे शुद्ध कहा, उसी दृष्टिसे अशुद्ध नहीं कहा जासकता। किन्तु अशुद्धको बताते समय

---

* स्यात् = अपेक्षा, वाद = कथन। अर्थात् अपेक्षादृष्टिसे कहना।

के द्वारा जीवको संसारकी प्राप्ति होती है। जीव आकुलताके कारण शुभाशुभभाव करता है और उसके फलस्वरूप संसारका सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदिको भोगता है।

आत्मा न तो परका कुछ कर सकता है और न परको किसी-प्रकारसे भोग ही सकता है। कर्मसंयोगसे जो भाव होते हैं वे अज्ञानी जीवके होते हैं। पुण्य-पापके भावोंका फल बाह्यमें संयोगदान करता है, और अज्ञानी जीव उसमें सुख-दुःखकी कल्पना करके थोड़े दुःख-को सुख मानता है और अधिक दुःखको दुःख मानता है; किन्तु वास्तवमें तो दोनों दुःखी ही हैं, उनमें कहीं किंचित् भी सुख नहीं है। देवपद, राजपद इत्यादि पुण्यके फलको अज्ञानी जीव सुख मानता है और नरक, निर्धनता आदिमें दुःख मानता है; किन्तु ज्ञानी पुण्य और पाप दोनोंके फलको दुःखरूप ही मानता है; उसे दुःख ही कहता है। बहुतसे धनिक व्यक्ति आत्मप्रतीतिके बिना देहबुद्धिके द्वारा चमारकुण्डमें मोहको प्राप्त हो रहे हैं, वे सब दुःखी ही हैं। उत्कृष्ट देवत्व भी मिल जाय तो भी उसे ज्ञानी दुःख ही मानते हैं। क्योंकि जब आत्मस्वभावको भूलकर विभावरूप शुभभाव किये तभी वह देवत्व मिला है, इसलिये वह दुःख ही है।

कई लोग रुपये-पैसेसे धर्म होना मान बैठे हैं। उन्हें सच्चे धर्म-की और सच्चे सुखकी ही खबर नहीं है। वे द्रव्य कमानेके लिये कई वर्ष परदेशमें रहते हैं, और कभी देशमें आकर मान बड़ाईके लिये पाँच-दस हजार रुपये धर्मके नामपर खर्च कर जाते हैं, तो उन्हें यह सुनाने वाले भी मिल जाते हैं कि अहो! आपने खूब धर्म किया, आप बड़े धर्मात्मा पुरुष हैं। और यह सुनकर रुपया-पैसा खर्च करनेवाला भी मान लेता है कि मैंने बहुत उत्तम कार्य किया, मैंने खूब धर्मकार्य किया है, मुझे धर्मकी प्राप्ति हुई है; इत्यादि। इसप्रकार विपरीतमान्यताके कारण यथार्थ वस्तुस्वभावको समझनेकी चिन्ता नहीं रहती।

राग करके, उनमें सुखकी विपरीत मान्यताके आग्रहसे भिन्न ज्ञायक-स्वभावकी विरोधरूप दृष्टिके बलसे अशुद्धपर्याय पर भार देते हैं। पर्यायके आश्रयसे एकान्त राग-द्वेष-मोहकी उत्पत्ति होती है। उस विपरीत मान्यताको पलटकर यथार्थ मान्यता करके उसके द्वारा पूर्ण-ज्ञानघन अविनाशी सम्पूर्णस्वभावको लक्ष्यमें लेना सो यही यथार्थदृष्टि है। उससे अशुद्धपर्यायमें अहंबुद्धि मिट जाती है, परमें कर्तृत्वभाव नहीं होता।

किसीको लड्डू खाते देखकर कोई दूसरा व्यक्ति उससे पूछता है कि क्यों! लड्डूका स्वाद आ रहा है? तो वह उत्तरमें कहता है कि हाँ, बहुत अच्छा मीठा स्वाद आ रहा है। इसप्रकार रागकी एकाग्रतारूप आकुलतामें जड़के स्वादका आरोप करके ऐसा मानता है कि जड़मेंसे स्वाद आ रहा है। उसे यह खबर नहीं है कि जड़के रसको जाननेवाला स्वयं जड़के स्वादसे भिन्न है और लड्डूके जो रजकण अभी स्वादिष्ट प्रतीत हो रहे हैं वे कुछ ही समय बाद मलरूप हो जायेंगे। उसे यह जानने-देखनेका धैर्य नहीं है, इसलिये ऐसा विपरीत निर्णय जम गया है कि परमें सुख है। वह लड्डूमें स्वाद मानता है, किन्तु यह नहीं जानता कि लड्डू या उसके स्वादको जाननेवाला स्वयं कैसा है? यदि कोई उससे यह कहे कि "तुझे जिस स्वादका अनुभव होरहा है वह लड्डूमेंसे नहीं आ रहा है, क्योंकि तू लड्डूके स्वादरूप–जड़ नहीं होगया है। मिठास जड़के रस-गुणकी पर्याय है; तेरा ज्ञान मीठा या कड़वा नहीं होता, तूने स्वाद नहीं लिया है, किन्तु स्वादमें राग किया है;" तो वह इस बातको माननेके लिये तैयार नहीं होगा। स्वादसे पृथक्त्वको स्वीकार करते हुये भारी कठिनाई मालूम होती है, क्योंकि अनादिकालसे परमें एकमेकता मान रखी है–परमें सुखबुद्धि मान रखी है।

अनादिकालीन विपरीतदृष्टिका बल बाह्यक्रिया या हठसे दूर नहीं होता; किन्तु परसे भिन्न–स्वतंत्रस्वभावको समझे और उसकी

(स्वभावके) नहीं हैं, यह जानकर अनेकताके भेदका लक्ष्य गौण करके, अखण्डस्वभावके वलसे स्वभावमें एकाग्र होकर नित्य, अखण्ड, ज्ञायक पूर्ण हूँ, इसप्रकार निश्चयरहित अनुभव करना सो सम्यक्दर्शन है। उसके वलसे परसे भिन्नत्वका अभ्यास निरंतर रहता है, इसलिये परद्रव्यके भावरूपसे आत्मा कभी परिणमित नहीं होता-परभावरूप नहीं होता, अज्ञानभावसे परमें कर्तृत्व नहीं मानता, इसलिये परमार्थसे कर्मरूपी आवरणका वन्धन नहीं होता। ऐसा समझ लेने पर श्रद्धा-ज्ञानके वलसे उसके विरोधरूप मिथ्याभावका नाश होनेसे उसमें कर्म फिरसे नहीं वँधते और क्रमशः संसारका, एवं चारित्रकी अस्थिरताका अंत होजाता है। ऐसा होनेसे भेदके आश्रित-पर्यायार्थिकरूप व्यवहार-नयको गौण करके उसे अभूतार्थ कहा है।

यथार्थ वस्तुस्वरूपकी प्राप्ति तथा उसमें यथार्थ श्रद्धा और ज्ञानका अनुभव प्राप्त होनेके वाद नयपक्षके विकल्पका अवलम्बन नहीं रहता। अर्थात् श्रद्धामें पूर्ण हूँ, कृतकृत्य परमात्मा हूँ—ऐसा वर्तमानमें ही पूर्णताका निस्सन्देह विश्वास होनेसे स्वरूपके निर्णय सम्बन्धी शका नहीं रहती और चारित्रमें पूर्ण होनेके वाद केवलज्ञानमें सूक्ष्म राग या विकल्पका अवलम्बन नहीं होता।

परनिमित्तके भेदसे रहित, शुभाशुभ विकल्परहित अखण्ड ज्ञायक-स्वभावकी प्रतीति होनेके वाद श्रद्धा सम्वन्धी रागरूप व्यवहारका भार छूट जाता है और त्रिकाल ज्ञानस्वभावके स्वामित्वके द्वारा शुभ या अशुभ रागरूप किसी भी प्रकारकी आकुलताके भावका स्वामित्व नहीं रहता। कोई आत्मा त्रिकालमें भी परका कर्ता नहीं है, किन्तु अज्ञानभावसे जो अपनेको राग-द्वेषका कर्ता मान रहा था और शुभरागको तथा पुण्यादि परवस्तुको सहायक मानता था, सो वह विपरीत मान्यता सच्ची दृष्टि होने पर छूट गई, इसलिये उसे पराश्रयरूप व्यवहार कहकर, स्वाश्रित लक्ष्यसहित श्रद्धाके वलसे गौण किया, और फिर चारित्रके वलसे उसका अभाव होता है, इसलिये भेदरूप

व्यवहारको अभूतार्थ कहा है, अर्थात् यह कहा है कि वह आत्माके साथ स्थिर रहनेवाला नहीं है। किन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि शुद्धनय सत्यार्थ है और व्यवहारनय खरगोशके सींगके समान सर्वथा असत् है।

सम्पूर्णस्वभावमें परनिमित्तका भेद नहीं है, किन्तु वर्तमान अवस्थामें जड़कर्मका संयोग और पुण्य-पापका विकार तथा देहादिका संयोग व्यवहारसे है। किन्तु वह संयोग है ही नहीं और अशुद्ध अवस्थामें भी नहीं है तथा पर्यायभेद भी नहीं है, ऐसा माननेसे तो जो संसारको सर्वथा अवस्तु (भ्रमरूप) मानता है ऐसे वेदान्तमतका एकान्तपक्ष आ जायेगा और उससे मिथ्यात्व आ जायेगा; इसप्रकार वह शुद्धनयका अवलम्बन भी वेदान्तियोंकी भाँति मिथ्यादृष्टित्वका कारण हो जायेगा। इसलिये सर्व नयोंकी कथंचित् सत्यार्थताका श्रद्धान करनेसे ही सम्यक्-दृष्टि होसकता है।

जगतमें अनन्त जीव और अनन्त जड़-परमाणु हैं। विकारी अवस्थामें संयोगभाव, राग-द्वेष और अज्ञान जिसे है उसके अशुद्धता व्यवहारसे सत्यार्थ है। उस अवस्थाके भेदको गौण करके अखंड-स्वभावमें द्रव्यदृष्टिसे देखने पर कोई आत्मा वकाररूप नहीं है, क्षणिक अवस्था जितना नहीं है। किन्तु यदि कोई एकान्त शुद्धनयका पक्ष लेकर वर्तमान अवस्थाको साक्षात् पूर्ण शुद्ध मान ले-पूर्णदशाके प्रगट न होने पर भी उसे प्रगट मान ले और अशुद्ध अवस्थाको न माने तो फिर रागको दूर करनेका पुरुषार्थ करनेकी बात ही कहाँ रही ? इसलिये 'तू दुःखसे मुक्त हो'-यह शास्त्रकथन ही मिथ्या सिद्ध होगा। इसलिये आत्मा निश्चयसे शुद्ध है और पर्यायसे अशुद्ध है, इसप्रकार दोनों अपेक्षाओंसे जानकर शुद्धस्वभावके लक्ष्यसे पर्यायकी अशुद्धताको दूर करनेका पुरुषार्थ करे तभी पूर्ण शुद्धता प्रगट हो।

जीवमें, पराश्रितभाव करनेसे प्रतिसमय राग-द्वेष-मोहरूप नवीन विकारी अवस्था उत्पन्न होती है और वह विकारी अवस्था ही संसार है।

वह विकार स्वभावमेंसे नहीं आता; और विकार स्वभावमेंसे आता हो तो कभी दूर नहीं होसकता। जब आत्मा कर्म [illegible] अर्थात् राग-द्वेष नहीं करता। जब [illegible] पर लक्ष्य करके उसमें शुभ अशुभ भावसे ([illegible]) जुड़ जाता तब उस भावका आरोप करके कर्मोंको राग-द्वेषका निमित्त कहा जाता है। और यदि रागादिभावोंमें युक्त न होकर स्वभावसे ज्ञान करे तो कर्म ज्ञानमें निमित्त कहा जाता है। किन्तु ऐसा नियम है कि जब जीव राग-द्वेष करता है तब सन्मुख परमाणु-कर्म अपने-अपने स्वतंत्र कारणसे उपस्थित होते हैं और उनमें युक्त होकर आत्मा स्वयं विकारीभाव करता है। परलक्ष्य किये बिना स्वलक्ष्यसे विकार नहीं होसकता। अखंड श्रद्धामें अवस्थाभेद नहीं हैं; किन्तु ज्ञानमें पूर्ण शुद्धस्वभाव और वर्तमान अपूर्ण अवस्था दोनोंको बराबर जानना चाहिये। विपरीत पुरुषार्थके कारण जीवमें विकारी अवस्था निजमें ही होती है और पूर्ण शुद्धस्वभावके लक्ष्यसे-पुरुषार्थसे वह दूर की जासकती है।

कोई कहता है कि—जागृत अवस्थामें कुछ और ही दिखाई देता है तथा स्वप्नावस्थामें कुछ अलग ही दिखाई देता है, इसलिये जो स्वप्नावस्थामें दिखाई देता है वह असत् है अर्थात् उसे माननेकी आवश्यक्ता नहीं है। किन्तु जो 'है' उसे जानना तो होगा ही न? असत, असत्के रूपमें भी है, ऐसा तो जानना ही पड़ेगा। यदि ऐसा माने कि स्वप्न कोई वस्तु ही नहीं है और उसका सर्वथा अभाव ही है, तो जो वस्तु नहीं है उसका ज्ञान कहाँसे आया? यदि स्वप्नदशाको न माने तो स्वप्नका ज्ञान करने वालेको भी नहीं माना जा सकेगा। स्वप्न एक अवस्था है और वह त्रिकालस्थायी किसी वस्तुके आधारसे ही होती है। इसप्रकार व्यवहार अवस्था सत्यार्थ है, उसका ज्ञान करना आवश्यक है। किन्तु वह अवस्था नित्य एकरूप रहनेवाली नहीं है, इस अपेक्षासे अभूतार्थ है।

वर्तमान अवस्था है, निमित्त है, उसका निषेध नहीं किया किन्तु अपनी अवस्था और बाह्य निमित्त जैसे हैं उन्हें वैसा ही जानना सो व्यवहार कहा गया है।

सर्वज्ञके स्याद्वादको समझकर जिनमतका सेवन करना चाहिये, मुख्य-गौण कथनको सुनकर सर्वथा एकान्तपक्षको नहीं पकड़ना चाहिये। जगतमें धर्म अनेक प्रकारसे माना जारहा है, किसीको एकान्त शुद्धनयका पक्ष है तो किसीको एकान्त अशुद्धनयका पक्ष है, उस सम्पूर्ण विरोधी मान्यताको दूर करके इस कथनमें टीकाकार आचार्यदेवने स्याद्वाद बताया है। परसे भिन्न और त्रिकाल पूर्ण शुद्धस्वभावके निर्णयके बिना विकारका नाश नहीं होगा, और यदि अपनेको विकारी अवस्था जितना बन्धवाला ही माने तो किस स्वभावके लक्ष्यसे अविकारीपन प्रगट करेगा? तात्पर्य यह है कि-यदि दोनों अपेक्षाओंको माने तो विकारी पर्यायका नाश करके शुद्ध अविकारी-स्वभावको प्रगट कर सकेगा।

यहाँ यह जानना चाहिये कि जो यह नय है सो श्रुतज्ञान-प्रमाण-का अंश है; श्रुतज्ञान वस्तुको परोक्ष बताता है, इसलिये यह नय भी परोक्ष ही बताता है। बिल्कुल स्पष्ट और पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान तो तेरहवें गुणस्थानमें होता है। जैसी श्रद्धा केवलज्ञानीको है वैसी ही सम्यक्-दृष्टिको भी है, मात्र अपूर्णज्ञानके कारण परोक्ष है, फिर भी अनुभवकी अपेक्षासे केवलीके समान ही अंशत: साक्षात् आनन्दका स्वाद लेता है। जैसे-कोई अन्धपुरुष मिश्री खाता है तो उसे उसका वैसा ही स्वाद आता है जैसा चक्षुष्मान पुरुषको मिश्रीका स्वाद आता है; अन्तर इतना ही है कि अन्धपुरुष मिश्रीको प्रत्यक्ष देख नहीं सकता। इसीप्रकार सम्यक्ज्ञानी और पूर्णज्ञानीको आत्माका अनुभव होता है किन्तु निम्नदशामें सम्यक्ज्ञानीको प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता।

शुद्धद्रव्यार्थिकनयका विषयभूत, बद्धस्पृष्ट आदि पांच भावोंसे रहित आत्मा चैतन्यशक्तिमात्र है। वह शक्ति आत्मामें परोक्षरूपसे

पूर्णस्वरूप शुद्ध आत्माके यथार्थ निर्णयके विना सच्ची श्रद्धा नहीं हो सकती और स्वरूपकी सच्ची श्रद्धाके विना यथार्थ चारित्र और केवलज्ञान नहीं हो सकता।

यहाँ कोई यह पूछ सकता है कि-ऐसा आत्मा प्रत्यक्ष तो दिखाई देता नहीं है, इसलिये बिना देखे ही श्रद्धान करना मिथ्याश्रद्धान है?

आचार्यदेव प्रश्नकारका समाधान करते हुए कहते हैं कि-कोई भी व्यक्ति जिज्ञासाभावसे समझनेके लिये प्रश्न पूछे और सत्यको सुननेके लिये उत्सुक हो तो उसे भी परसे भिन्न आत्माकी बात भली भाँति समझमें आ जाती है। पद्मनंदि आचार्य कहते हैं कि-जिस जीवने प्रसन्नचित्तसे चैतन्यस्वरूप आत्माकी बातको सुना है वह भव्यपुरुष भावी मुक्तिका भाजन अवश्य होता है। अंतरंगसे सत्‌का आदर करनेवाला पात्र जीव अल्पकालमें केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त करनेके लिये आरम्भिक पात्र है। सत्‌की स्वीकृतिके बाद समझनेके लिये आकांक्षा हो, बारम्बार सुने और समझमें न आये तो पूछे, उसमें अहंकार या आलस्य न लाये तो वह अवश्य समझमें आ जाता है।

जिज्ञासु जीवको समझनेके लिये ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है कि शुद्ध और पूर्ण आत्मा प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता तो हम उसे बिना देखे-जाने, यों ही कैसे मान लें?

उत्तर—बिना देखे ही श्रद्धान करना, सो तो मिथ्या [illegible]

की गोलियोंसे बुखार मिट गया यह दिखाई नहीं देता फिर भी उसे मानता है-इसप्रकार अरूपीभावका अनुभव प्रतिसमय हो रहा है।

वर्तमानमें पुण्य-पाप नहीं किया फिर भी धन इत्यादिका संयोग प्राप्त होता है, वह वर्तमान चतुराई अथवा सयान नहीं किन्तु पूर्वकृत पुण्यका फल है; वह पुण्य आँखोंसे दिखाई नहीं देता फिर भी बाह्यमें संयोग देखकर उस पुण्यकी मिठासका साक्षात् वेदन करता है। उससमय वह ऐसा विचार कभी नहीं करता कि उस अरूपी पुण्यभावको प्रत्यक्ष देखूँ तो ही मानूँ तथा उपरोक्त सभी बातोंको प्रत्यक्ष देखूँ तो ही मानूँगा।

यह किसने ज्ञात किया कि नीबू खट्टा है? क्या जीभने ज्ञात किया है? जीभ तो जड़ है उसने नहीं जाना, किन्तु उसी स्थान पर जीभसे भिन्न अरूपी ज्ञान विद्यमान है जिसने उसे जाना है। यदि जीभ इत्यादि इन्द्रियोंसे ज्ञान होता हो तो निर्जीव-मृत शरीरमें ज्ञान क्यों नहीं होता? सच बात तो यह है कि जाननेवाला (ज्ञाता आत्मा) शरीरसे भिन्न रहकर जानता रहता है।

जैनशासनमें प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ज्ञान प्रमाण माने गये हैं। उनमेंसे आगमप्रमाण परोक्ष है, उसका भेद शुद्धनय है। उस शुद्धनयकी दृष्टिसे शुद्धआत्माका श्रद्धान करना चाहिये। केवल व्यवहार-प्रत्यक्षका ही एकान्त नहीं करना चाहिये। पहले शास्त्रज्ञानके द्वारा जान ले, फिर अन्तरंगदृष्टिसे अनुमानप्रमाण करे कि-मैं नित्य ज्ञानस्वभावी हूँ। जिसका स्वभाव ही ज्ञान है वह हीन-अपूर्ण या पराधीन कैसे हो सकता है? जबकि मैं ज्ञायकस्वभावी हूँ तो किसे नहीं जानूँगा? इसप्रकार अपने पूर्ण सर्वज्ञस्वभावको परोक्षज्ञानसे पूर्ण-निश्चयरूपसे लक्ष्यमें लिया जासकता है।

यदि पिताजी किसी बहीमें यह लिख गये हों कि-सौ तोला सोना अमुक स्थानपर धरतीमें गड़ा हुआ है, तो वह सोना प्रत्यक्ष न होते हुए भी अपने पिताके विश्वासके आधार पर मान लिया जाता है। इसी-

फिर वह आये कहाँसे ? मैं परका कुछ कर सकता हूँ, मेरी प्रेरणासे देहकी क्रिया होती है, परद्रव्य मेरी सहायता करता है, परद्रव्यसे मुझे लाभ होता है, मैं पुण्य-पापका कर्ता हूँ, और मैं बन्धनयुक्त हूँ, इसप्रकारके रोगोंको दूर करनेके लिये पहले सर्वज्ञकथित निर्दोष-स्वभावका आश्रय ग्रहण कर। मुक्तदशा होनेसे पूर्व मुक्तभावका यथार्थ निर्णय होसकता है। पहलेसे ही स्वभावको पूर्ण और मुक्त माने बिना उसमें स्थिर होनेरूप चारित्र नहीं होसकेगा।

व्यावहारिक विषयोंमें भी प्रत्यक्ष नहीं दिखता, फिर भी लोग उन्हें मान रहे हैं। माता पुत्रीको रसोई बनानेकी विधि बतलाती है और पुत्री अपनी माताके कथन पर विश्वास करके उसीप्रकार आटा, दाल, चावल और मसाला इत्यादि लेकर अच्छी रसोई बना लेती है; इसीप्रकार सर्वज्ञकी आज्ञाका ज्ञान करके, अन्तरंगमें श्रद्धाके लक्ष्य पर भार देकर, स्वभावकी रुचिकी एकाग्रता होने पर केवलज्ञानरूपी पाक तैयार होजाता है। चैतन्य भगवान आत्मा निर्विकल्प ज्ञानानन्दरूपसे त्रिकाल ध्रुवस्वभावमें निश्चल होकर विराजमान है। यदि शुद्धदृष्टिसे देखा जाय तो उसमें पुण्य-पापकी वृत्तिरूप छिलके हैं ही नहीं, किन्तु पूर्णस्वभावको भूलकर, स्वलक्ष्यसे हटकर, पुण्य-पापरूप विकार मेरा है और मैं पुण्य-पापका कर्ता हूँ, इत्यादि निमित्ताधीन दृष्टिसे बाह्यलक्ष्य करके अटक जाता है और परका अभिमान करता है। उससे विपरीत, त्रिकाल पूर्ण ज्ञानघन स्वभावसे आत्मामें एकाकारताका निश्चय करे तो वह अपना स्वभाव होनेसे स्वयं पूर्णताकी निःसन्देह श्रद्धा कर सकता है। शुद्धनयको मुख्य करके और वर्तमान अवस्थाके अशुद्धनयको गौण करके चौदहवीं गाथाका साररूप कलश निम्नप्रकार कहा है:—

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरितरंतोप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम् ।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समंतात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ॥११॥

आचार्यदेव सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि—हे जगतके सर्व जीवो ! इस सम्यक्स्वभावका अनुभव करो जिसके द्वारा मिथ्यामान्यताका नाश करके यथार्थ श्रद्धासहित स्वभावमें एकाग्र हुआ जासके। और कहते हैं कि शुभाशुभ अशुद्धताका अनुभव न करो; शरीर, मन, वाणीकी प्रवृत्ति तुम्हारी नहीं है और तुम्हारे आत्मामें एकरूपसे सदा स्थिर रहनेवाली नहीं है। वह विकारीभाव तुम्हारे स्वरूपमें नहीं है इसलिये उससे रहित अपने शुद्धस्वभावकी श्रद्धा करो। जन्म-मरणकी उपाधिके नाशक अपने यथार्थ स्वतंत्र स्वभावको नहीं जानोगे तो स्वतंत्र कहाँसे होगे? उस स्वतंत्रताको प्रगट करनेकी बात यहाँ कही जा रही है, वही यथार्थ मुक्तिका मार्ग है।

तू अपनेमें अच्छा-बुरा भाव अथवा अच्छे-बुरे भावसे रहित वीतरागताके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं कर सकता। जीव परमें अपनेपनकी मान्यतारूप भाव करता है, किन्तु परको अपना कभी नहीं बना सकता। मात्र वह अज्ञानभावसे मानता है कि—यह मेरे द्वारा होता है और इसे मैं करता हूँ। उस विपरीत मान्यतारूप भूलको दूर करके आत्माको परसे भिन्न, पुण्य-पापके विकारसे भिन्न स्वभावरूप देखा जाये तो इस बन्धन और संयोगीभावको बताने वाले अशुद्ध व्यवहारके भाव स्पष्टतया—प्रगटरूपसे नित्य शुद्धस्वभावसे भिन्नरूपमें ऊपर ही दिखलाई देने लगते हैं, तथापि वे स्वभावमें प्रतिष्ठाको प्राप्त नहीं होते, अर्थात् उन्हें स्वभावमें आधार प्राप्त नहीं होता; इसलिये वे शोभा या स्थिरताको प्राप्त नहीं होते।

जैसे पानीके ऊपर तेलकी बूँद तैरती रहती है, वह पानीके भीतर नहीं जासकती, तेल और पानी अलग किये जासकते हैं; इसीप्रकार आत्मासे बाह्य वर्तमान प्रगट अवस्थामें कर्मके सम्बन्धसे अज्ञानभावसे किये जाने वाले राग-द्वेषभाव भीतरके शुद्ध ज्ञानघन स्वभावमें प्रवेशको प्राप्त नहीं होते। आत्माका स्वभाव अविकारी है, उसके लक्ष्यसे कभी भी राग-द्वेष नहीं होता। जब जीव परलक्ष्य करता है

तब वर्तमान प्रत्येक समयकी अवस्थामें शुभाशुभ विकारका भाव होता है, किन्तु वह स्वभावमें नहीं है। वह परलक्ष्यसे होता है इसलिये दूर किया जा सकता है, और स्वभाव नित्य रहनेवाला ध्रुव है।

यदि नित्यस्थायी अविकारी ध्रुव और अज्ञान अवस्थामें होनेवाले क्षणिक मलिन भाव एकमेक होगये हों तो मलिनभाव स्वभावसे अलग नहीं होसकते और स्वाभाविक निर्मल गुणोंका नाश होजायेगा। किन्तु स्वाभाविक निर्मल गुण कभी भी विकाररूप नहीं होते। गुण न तो दोपरूप हैं और न दोप गुणरूप हैं।

गुण:—आत्मामें त्रिकाल रहनेवाली शक्ति गुण है। अपनी-अपनी सम्पूर्ण शक्तिको लेकर अनन्तगुण हैं; उसमें परनिमित्तका भेद या उपचार नहीं है।

दोप:—वर्तमान अवस्थामें, जबतक पराश्रितदृष्टि रखे तबतक व्यवहारसे एक-एक समयकी अवस्था जितना जो राग-द्वेष-मोहरूपी नवीन विकार होता है सो दोप है। स्वभावमें विकार नहीं है।

जैसे सूर्यमें अन्धकार है ही नहीं इसलिये सूर्यका कार्य अन्धकारको उत्पन्न करना नहीं है, किन्तु सूर्यके स्वभावके बलसे अन्धकार स्वयं नाश होने योग्य है; इसीप्रकार चैतन्य आत्माके स्वरूपमें त्रिकालस्थायी अनन्तगुण अपनी पूर्ण निर्मलशक्तिसे भरे हुए हैं, उस स्वभावभावमेंसे राग-द्वेष अथवा मोहादिक विकारीभावोंका उत्थान नहीं होता, किन्तु जब स्वभावका लक्ष्य भूलकर, और कर्मके संयोगका निमित्त पाकर जीव बाह्यमें लक्ष्य करता है और उसमें भावोंको युक्त करता है तब वह अस्थिरताको लेकर राग-द्वेषके विकारी भाव करता है। परपदार्थमें कुछ लेन-देन करूँ, अथवा परमें अच्छे-बुरेकी वृत्ति जीव करता है वह अनादिकालसे परलक्ष्यसे समय-समय पर नवीन करता है तभी होती है; स्वलक्ष्यसे रागादिक विकल्प नहीं होते, क्योंकि आत्माके स्वभावमें दु:खरूप आकुलताकी शुभाशुभ लगन नहीं होती। स्वभावको पहिचानकर श्रद्धा किये बिना विकल्प नहीं टूटता।

चैतन्यसागररूप आत्मामेंसे निर्मल श्रद्धा और ज्ञानका प्रवाह आता है; वह स्वलक्ष्यमें स्थिर रहे और परमें लक्ष्य न जाये तो सामान्य एकरूप स्वभावमें ही मिल जाता है। किन्तु जब तीव्र-मन्द आकुलतारूप शुभाशुभभाव परलक्ष्यसे करता है तब अशुद्धता आती है। वह एक-एक समयमात्रकी होनेसे अविकारी स्वभावके लक्ष्यसे दूर की जासकती है।

त्रिकाल निर्मल शुद्धस्वभाव और वर्तमान अवस्था-दोनोंको यथार्थतया जानकर, अवस्थाकी ओरका लक्ष्य गौण करके, शुद्धनयको मुख्य करके, उसके द्वारा पूर्ण शुद्धात्माकी श्रद्धा करना, उसीका लक्ष्य करना और उसमें एकाग्र अनुभवरूप स्थिर होना सो यही चैतन्य स्वभावका कर्त्तव्य है, उसीमें चैतन्यकी शोभा है। विकारको, पुण्य-पापके भावोंको अपना मानकर उसका कर्ता होनेमें चैतन्यस्वरूपकी शोभा नहीं है, वह चैतन्यका कर्तव्य नहीं है।

यहाँ देहादिकी क्रिया करनेकी अथवा परकी सहायताकी बात तो है ही नहीं, किन्तु व्रत, तप इत्यादिके शुभभाव भी चैतन्यस्वरूपी वीतरागी स्वभावमें विरोधरूप हैं, विघ्न करने वाले हैं। नित्य ऐसा ही होनेसे ज्ञानीजन उस शुभभावका भी आदर नहीं करते। वे भाव अपने एकरूप स्वभावमें नहीं हैं इसलिये बाह्यमें लक्ष्य जाता है, स्वयं नित्य एकरूप ज्ञानभावसे अस्ति है, उसमें क्षणिक पुण्य-पापके भावोंकी नास्ति होनेमें उन भावोंको निश्चयसे अभूतार्थ मानना चाहिये।

वर्तमानमें प्रत्येक आत्माका ऐसा परमार्थस्वरूप है, किन्तु लोगोंको बाह्य लक्ष्य छोड़ना अच्छा नहीं लगता। स्वाश्रित पूर्णस्वरूपकी प्रतीति नहीं है इसलिये पराश्रयसे सुख मानते हैं, किन्तु पराश्रय तो वास्तवमें दुःखरूप ही है। चाहे जिस उपदेशकके उपदेशका निमित्त पाकर वैसी तत्परता वाले या उनके कथनानुसार आँखें बन्द करके कूद पड़ने वाले बहुतसे लोग हैं। इस जगतमें अन्धश्रद्धाको लेकर स्वतंत्रतापूर्वक भेड़ियाधसान चल रहा है। अपनी चिन्ता किये

विना स्वतंत्र सुखस्वरूप वस्तुस्वभाव नहीं समझा जा सकता; यथार्थ स्वरूपको सुननेका योग मिलना भी कठिन है। कोई किसीको समझ शक्ति नहीं दे सकता और स्वयं सर्वज्ञके न्यायानुसार स्वतंत्रको समझे विना अंशमात्र धर्म या धर्मका मार्ग नहीं है। आत्माका धर्म अन्तरंगमें ही है। वाह्यक्रियामें, किसी वेशमें, अथवा तिलक-छापमें अथवा किसी सम्प्रदायके पक्षमें आत्माका धर्म नहीं है, आत्माका धर्म आत्मामें और आत्मासे ही है। व्यवहार और निश्चय दोनों आत्मामें हैं। आत्माका व्यवहार भी वाहर नहीं है। इसप्रकार आत्मा स्वतंत्र, परिपूर्ण है, तथापि यदि कोई वाहरसे आत्माका धर्म मानता है तो भी वह स्वतंत्र है।

पंचमकालके जीव समझ सकें इसलिये आचार्यदेवने धर्मका स्वरूप कुछ प्रकारान्तरसे अथवा हलका करके नहीं कह दिया है, किन्तु अनन्त सर्वज्ञोंके द्वारा कथित एक ही मार्ग वताया है। लोगोंकी समझमें न आये इसलिये सत्यको कुछ वदल दिया जाये ऐसा कभी नहीं होसकता; सत्यका प्रकार त्रिकालमें एक ही होता है।

रागादिक-वाह्यभाव स्वरूपमें प्रतिष्ठाको प्राप्त नहीं होते, इसके दो अर्थ हैं:—

(१) अविकारी ध्रुवस्वभावमें वे आधारको प्राप्त नहीं करते, क्योंकि स्वभावमें गुण ही हैं और गुणमें राग-द्वेषरूप दोष कभी भी नही है।

(२) रागादिकभाव स्वरूपमें शोभाको प्राप्त नही होते क्योंकि चाहे जैसा शुभराग हो किन्तु वह वीतरागी स्वभावका विरोधीभाव है। जो वीतराग हुए हैं वे सव शुभ या अशुभ दोनों प्रकारके भावोंको नाश करनेके वाद ही हुए हैं। कोई भी रागको रखकर वीतराग नहीं हो सकता। मैं रागका नाशक हूँ, राग मेरा स्वभाव नही है, ऐसी गुणकी प्रतीतिके वलसे शुद्ध सम्यक्दर्शन-ज्ञान और आंशिक शुद्ध चारित्र प्रगट होता है। श्रद्धामें रागका नाश होनेके वाद क्रमशः रागको दूर करके पूर्ण वीतराग होता है।

क्रोधादिकभाव क्षणिक अवस्थामात्र तक ही होनेसे वे एकक्षणमें दूर होजाने योग्य हैं–दूर किये जा सकते हैं। पहले सच्ची श्रद्धाके बलसे उन भावोंको गौण करके–दृष्टिमें नाश करके, पश्चात् स्वभावमें एकाग्रतारूप चारित्रके बलसे उनका सम्पूर्ण नाश करता है। ऐसा त्रिकाल नियम होनेसे विकारके नाशक शुद्ध अविकारी त्रिकालस्थायी अखण्ड ज्ञानघनस्वभावमें उन क्रोधादि भावोंको आधार नहीं मिलता वे क्रोधादिभाव स्वभावमें नहीं हैं, इसलिये वे स्वभावमें शोभा नहीं पाते।

त्रिकाल ज्ञायकस्वभावमें विकारकी नास्ति होनेसे राग-द्वेषके किन्हीं भावोंको स्वभावमें स्थान नहीं मिलता और उस विकारके आधारसे आत्माका कोई गुण प्रगट नहीं होता। ऐसी प्रतीतिके बिना व्रत, पूजा, भक्त इत्यादिके चाहे जैसे शुभभाव करे तो भी उस रागसे वीतरागी स्वभावको कोई लाभ या सहायता नहीं मिलती। भीतर गुण भरे हुए हैं, उनकी एकाकार श्रद्धासे गुणमेंसे ही गुण प्रगट होते हैं-ऐसा त्रिकालनियम है।

पानीको उष्णताका आधार नहीं है। यदि ऐसा होता तो उष्णताका अभाव होनेपर पानीका शीतलस्वभाव नष्ट हो जाना चाहिये, किन्तु ऐसा त्रिकालमें भी नहीं होता। पानी अपने शीतलस्वभावके आधारसे है, उष्णताके आधारसे नहीं है। इसीप्रकार पूर्ण ज्ञानानन्द आत्मस्वभाव नित्य अविकारी है, वह क्षणिका राग-द्वेषका आधार नहीं रखता। और क्षणिक विकारको आत्माका आधार नहीं है। यदि परस्पर (विकारको अविकारका और अविकारी स्वभावको विकारका) आधारभाव माने तो विकार और आत्मा एक ही होजायें और विकारका नाश होनेपर आत्माका और उसके अनन्त गुणोंका नाश होजायेगा, ऐसा मानना पड़ेगा। विकार स्वभावमें नहीं है इसलिये विकारी भाव दूर होने योग्य है, और आत्माका स्वभाव त्रिकाल अवस्थायें रहनेवाला है।

पुण्य-पापकी वृत्ति अन्तरंग ध्रुवस्वभावसे बाहर दौड़ती है, इसलिये वह क्षणिक-उत्पन्नध्वंसी है। स्वभावके भावसे-नित्य अस्तिस्वभावकी प्रतीतिसे वे पुण्य-पापके विकारीभाव दूर होसकते हैं, इसलिये पहले श्रद्धामें शुद्धस्वभावकी निःसन्देहता करनी चाहिये, और ऐसा निश्चय करना चाहिये कि मैं पूर्णस्वभावी नित्य अविकारी हूँ।

ज्ञानस्वभाव नित्य एकरूप है, वह वर्तमान अवस्थामात्र तक नहीं है। जैसे सोनेकी अँगूठीके रूपमें बाह्य आकृति है, वह सोनेके स्वभावमें प्रविष्ट नहीं होगई है। यदि सोना स्वभावसे ही उस अँगूठीके रूपमें होगा तो फिर वह सोना कभी भी दूसरे आकारमें नहीं बदल सकेगा, अर्थात् उससे फिर कोई दूसरा आभूषण नहीं बन सकेगा, किन्तु ऐसा नहीं होता। इसीप्रकार आत्मा पर्यायभेद जितना ही नहीं है, संसार और और मोक्ष दोनों अपूर्ण और पूर्ण अवस्थाके भेद हैं, आत्मा उस भेदरूप-खण्डरूप नहीं होगया है। जबतक पर्यायभेद पर लक्ष्य रहता है तबतक विकल्प नहीं टूटते। पहले अखण्ड और खण्ड दोनोंका ज्ञान करके अखण्ड ध्रुवस्वभावको श्रद्धाके लक्ष्यमें रखे और पर्यायका भेदरूप लक्ष्य गौण करे तो स्वभावके बलसे क्रमशः विकल्प टूटकर शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होता है, और क्रमशः स्थिरतारूप चारित्र बढ़ता है तथा रागका नाश होकर पूर्ण केवलज्ञान प्रगट होता है इसलिये स्वाश्रित शुद्ध निश्चयनय पहलेसे ही आदरणीय है।

कोई कहे कि पहले व्यवहार करते-करते निश्चय प्रगट होता है, और तेरहवें गुणस्थानमें शुद्ध निश्चय होता है, तो ऐसा कहनेवाला व्यवहार और निश्चयको न जानकर ऐसी बात करता है। यदि चौथे गुणस्थानमें श्रद्धासे पूर्ण और आंशिक यथार्थ चारित्र न हो तो पूर्ण कहांसे होगा? नास्तिमेंसे अस्ति कहांसे आयेगी? पहलेसे ही निश्चयश्रद्धाके बिना यथार्थ धर्म अंशमात्र भी किसी को, कभी किसी भी प्रकारसे प्रगट नहीं हो सकता।

क्रोधादिकभाव क्षणिक अवस्थामात्र तक ही होनेसे वे एकक्षणमें दूर होजाने योग्य हैं–दूर किये जा सकते हैं। पहले सच्ची श्रद्धाके बलसे उन भावोंको गौण करके–दृष्टिमें नाश करके, पश्चात् स्वभावमें एकाग्रतारूप चारित्रके बलसे उनका सम्पूर्ण नाश करता है। ऐसा त्रिकाल नियम होनेसे विकारके नाशक शुद्ध अविकारी त्रिकालस्थायी अखण्ड ज्ञानघनस्वभावमें उन क्रोधादि भावोंको आधार नहीं मिलता वे क्रोधादिभाव स्वभावमें नहीं हैं, इसलिये वे स्वभावमें शोभा नहीं पाते।

त्रिकाल ज्ञायकस्वभावमें विकारकी नास्ति होनेसे राग-द्वेषके किन्हीं भावोंको स्वभावमें स्थान नहीं मिलता और उस विकारके आधारसे आत्माका कोई गुण प्रगट नहीं होता। ऐसी प्रतीतिके विना व्रत, पूजा, भक्ति इत्यादिके चाहे जैसे शुभभाव करे तो भी उस रागसे वीतरागी स्वभावको कोई लाभ या सहायता नहीं मिलती। भीतर गुण भरे हुए हैं, उनकी एकाकार श्रद्धासे गुणमेंसे ही गुण प्रगट होते हैं-ऐसा त्रिकालनियम है।

पानीको उष्णताका आधार नहीं है। यदि ऐसा होता तो उष्णताका अभाव होनेपर पानीका शीतलस्वभाव नष्ट हो जाना चाहिये, किन्तु ऐसा त्रिकालमें भी नहीं होता। पानी अपने शीतलस्वभावके आधारसे है, उष्णताके आधारसे नहीं है। इसीप्रकार पूर्ण ज्ञानानन्द आत्मस्वभाव नित्य अविकारी है, वह क्षणिका राग-द्वेपका आधार नहीं रखता। और क्षणिक विकारको आत्माका आधार नहीं है। यदि परस्पर (विकारको अविकारका और अविकारी स्वभावको विकारका) आधारभाव माने तो विकार और आत्मा एक ही होजायें और विकारका नाश होनेपर आत्माका और उसके अनन्त गुणोंका नाश होजायेगा, ऐसा मानना पड़ेगा। विकार स्वभावमें नहीं है इसलिये विकारी भाव दूर होने योग्य है, और आत्माका स्वभाव त्रिकाल अखण्डरूपसे रहनेवाला है।

पुण्य-पापकी वृत्ति अन्तरंग ध्रुवस्वभावसे बाहर दौड़ती है, इसलिये वह क्षणिक-उत्पन्नध्वंसी है। स्वभावके भावसे-नित्य अस्तिस्वभावकी प्रतीतिसे वे पुण्य-पापके विकारीभाव दूर होसकते हैं, इसलिये पहले श्रद्धामें शुद्धस्वभावकी निःसन्देहता करनी चाहिये, और ऐसा निश्चय करना चाहिये कि मैं पूर्णस्वभावी नित्य अविकारी हूँ।

ज्ञानस्वभाव नित्य एकरूप है, वह वर्तमान अवस्थामात्र तक नहीं है। जैसे सोनेकी अँगूठीके रूपमें बाह्य आकृति है, वह सोनेके स्वभावमें प्रविष्ट नहीं होगई है। यदि सोना स्वभावसे ही उस अँगूठीके रूपमें होगा तो फिर वह सोना कभी भी दूसरे आकारमें नहीं बदल सकेगा, अर्थात् उससे फिर कोई दूसरा आभूषण नहीं बन सकेगा, किन्तु ऐसा नहीं होता। इसीप्रकार आत्मा पर्यायभेद जितना ही नहीं है, संसार और और मोक्ष दोनों अपूर्ण और पूर्ण अवस्थाके भेद हैं, आत्मा उस भेदरूप-खण्डरूप नहीं होगया है। जबतक पर्यायभेद पर लक्ष्य रहता है तबतक विकल्प नहीं टूटते। पहले अखण्ड और खण्ड दोनोंका ज्ञान करके अखण्ड ध्रुवस्वभावको श्रद्धाके लक्ष्यमें रखे और पर्यायका भेदरूप लक्ष्य गौण करे तो स्वभावके बलसे क्रमशः विकल्प टूटकर शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होता है, और क्रमशः स्थिरतारूप चारित्र बढ़ता है तथा रागका नाश होकर पूर्ण केवलज्ञान प्रगट होता है इसलिये स्वाश्रित शुद्ध निश्चयनय पहलेसे ही आदरणीय है।

कोई कहे कि पहले व्यवहार करते-करते निश्चय प्रगट होता है, और तेरहवे गुणस्थानमें शुद्ध निश्चय होता है, तो ऐसा कहनेवाला व्यवहार और निश्चयको न जानकर ऐसी बात करता है। यदि चौथे गुणस्थानमें श्रद्धासे पूर्ण और आंशिक यथार्थ चारित्र न हो तो पूर्ण कहांसे होगा? नास्तिमेंसे अस्ति कहांसे आयेगी? पहलेसे ही निश्चयश्रद्धाके बिना यथार्थ धर्म अंशमात्र भी किसी को, कभी किसी भी प्रकारसे प्रगट नहीं हो सकता।

और फिर ज्ञानमें विकार है ही नहीं। युवावस्थामें अनेकप्रकारके तीव्र पाप किये हों, और उनका ज्ञान (स्मरण) वृद्धावस्थामें करे तो तब राग-द्वेषके तूफानके वैसे भाव उससमय ज्ञानके साथ नहीं उठते। विकारकी नई वासनाकी वृद्धि विपरीत पुरुषार्थके कारण होती है, ज्ञानके कारणसे नहीं। युवावस्थामें अभिमानमें चूर होकर जो अनेक कालेकृत्य किये थे, कपट, चोरी, दुराचार और हत्या इत्यादि महा दुष्कृत्य किये थे; इसप्रकार विकारभावका ज्ञान करना सो दोष नहीं है, इससे विचारवानको तो वैराग्य उत्पन्न होता है। बालक, युवक या वृद्ध—यह सब शरीरकी अवस्थाएँ हैं। उनके साथ विकारका कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु यहाँ तो विकारका ज्ञान विकारसे भिन्न है और बालक, युवक आदि शारीरिक अवस्थाओंसे भी भिन्न है, इसलिये पूर्व विकारी अवस्थाका ज्ञान करनेमें वे विकारी भाव अथवा उससमयकी अवस्था ज्ञानके साथ नहीं आती; इससे यह निश्चय हुआ कि ज्ञानगुणमें विकार नहीं होते।

नीतिमान जीव भले असत्य, कपट, चोरी इत्यादिका आदर नहीं करते। यदि अपने बड़े-बूढ़े या कुगुरु इत्यादि कोई अनीति करनेको कहें तो निर्भयतापूर्वक इन्कार करते हैं और दृढ़तापूर्वक कह देते हैं कि हमने अपना पुण्य कहीं बेच नहीं खाया है, अर्थात् यदि हमारा पुण्योदय होगा तो रुपये-पैसेका संयोग अवश्य मिलेगा, किन्तु हम उसे प्राप्त करनेके लिये अनीति नहीं करेंगे। व्यापार-रोजगार चाहे जैसा चले किन्तु उसमें कपट या किसी प्रकारकी अनीति नहीं करते। इसप्रकार लौकिक सज्जनपुरुष भी दुष्टभावका आदर नहीं करते, वे उसमें अपनी शोभा नहीं मानते; किन्तु नीति, सत्य, ब्रह्मचर्य इत्यादिमें अपनी शोभा मानते हैं। इसीप्रकार क्षणिक विकारी भाव बाह्यलक्ष्य करने पर होते हैं, वे स्वभावविरोधी कलंक होनेसे चैतन्यस्वभावमें शोभा या आदरको प्राप्त नहीं होते। उनकी स्थिति उत्पन्नध्वंसीरूपसे एकसमयमात्रकी होती है। पहले स्वाश्रित स्वभावमें उनका

लक्ष्य गौण करके, उनका स्वामित्व-कर्तृत्व छोड़कर, विकारको पर मानकर उनका चारित्रके बलसे नाश करता है, अर्थात् स्वभावमें उनकी नास्ति ही है। वह दूर होने योग्य हैं इसलिये वर्तमानमें भी मेरे नहीं हैं, यदि वह मेरे हों तो मुझसे अलग नहीं होसकते। त्रिकाल-में भी विकार मेरा नहीं है, ऐसा न मानकर जबतक विकारको अपना मानता है और अपनेको विकाररूप मानता है तबतक अनन्तसंसार-में परिभ्रमण करता है। चैतन्यस्वरूपकी अवस्थामें पुरुषार्थकी निर्बलताके कारण ज्ञानीके भी पुण्य-पापके क्षणिक विकार होते हैं, किन्तु स्वभावकी श्रद्धाकी प्रबलतामें उनका निषेध है। शुद्ध-दृष्टिसे देखनेपर चैतन्यमूर्ति सदा अखण्ड ज्ञानानंदघनरूप है। अशुद्ध दृष्टिसे वर्तमान प्रत्येक समयकी अवस्थाको लेकर विकार और विपरीत मान्यता अनन्तकालसे करता चला आ रहा है, फिर भी यदि त्रिकाल स्वतंत्र स्वभावको पहिचानकर यथार्थदृष्टि करे तो क्षण-भरमें वह भूल दूर हो जाती है, और वर्तमान पुरुषार्थकी निर्बलता-के कारण जो राग शेष रह गया है वह ऊपरी-बाह्यभावके निमित्ता-धीन है, स्वभावाधीन नहीं है, इसलिये दूर वह होसकता है। (बाह्य-निमित राग-द्वेष नहीं कराता किन्तु वह स्वयं उपरोक्त लक्ष्यसे जब राग या द्वेष करता है तब निमित्त कहलाता है)।

आचार्यदेव कहते हैं कि पुण्य-पाप के बन्धनरूप भावका कर्तव्य छोड़ो। यह तुम्हारा स्वभाव नहीं है, ऐसी प्रथम श्रद्धा करके सम्पूर्ण संसारका, त्रिकालके कर्मबन्धनका और विकारका त्याग करो। द्रव्य-स्वभाव तो नित्य शुद्ध ही है, सदा एकरूप रहनेवाला है, अखंड है, और क्षणिक अवस्थामात्रकी पुण्य-पापकी भावना अनेकरूपवाली भेदरूप है, इसलिये वह शरणभूत न होनेसे उस भेदरूप अशुद्ध अवस्थाका आश्रय छोड़कर नित्य शुद्ध स्वभावका आश्रय करो, तो तुम स्वयं ही भगवान आत्मा शाश्वत् शरण हो। तुम्हें किसी अन्यकी शरणकी आवश्यकता नहीं है।

तबतक स्वतंत्रस्वभावकी श्रद्धा, ज्ञान और उसका शुद्ध अनुभव नहीं होता, इसलिये शुद्ध आत्माका अनुभव करनेका उपदेश दिया है।

अब इसी अर्थका सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं, जिसमें यह कहा गया है कि ऐसा अनुभव करने पर आत्मदेव प्रगट प्रतिभासमान होता है:—

> भूतं भांतमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बंधं सुधी-
> र्यद्यंतः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
> आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
> नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥ १२ ॥

अर्थः—जो सुबुद्धि (सम्यक्‌दृष्टि, धर्मात्मा) व्यक्ति भूत, भविष्यत और वर्तमान–तीनोंकालके कर्मबन्धको (अपनी यथार्थ श्रद्धाके बलसे मनके अवलम्बनसे किंचित् अलग होकर) अपने आत्मासे तत्काल-शीघ्र भिन्न करके अर्थात् वह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं नित्य असंग ज्ञायक हूँ, पूर्ण निर्मल हूँ–ऐसी श्रद्धाके स्वाश्रित बलसे कर्मोदयके निमित्तसे उत्पन्न मिथ्यात्व (अज्ञान)को अपने बलसे (पुरुषार्थसे) रोककर अथवा नष्ट करके अंतरंगमें परसे भिन्न स्वभावका अभ्यास करे तो यह आत्मा अपने अनुभवसे ही जिसकी प्रगट महिमा जानने योग्य है ऐसा अनुभव-गोचर, निश्चल शाश्वत नित्य कर्मकलंक-कर्दमसे रहित एकरूप, शुद्धस्व-भावी, ऐसा स्वयं ही स्तुति करने योग्य देव अंतरंगमें विराजमान है।

एकवार उपरोक्त कथनानुसार यथार्थ स्वरूपको श्रद्धाके लक्ष्यमें लेकर उसमें एकाग्र होकर शुद्धस्वभावका एकाकार भावसे अनुभव करो। जैसे कोई डिबिया और उसके संयोगमें रहनेवाला हीरा एक नहीं है, यद्यपि यह लक्ष्यमें है कि वर्तमान हीरा डिबियाके संयोगमें विद्यमान है तथापि यदि हीरे पर ही लक्ष्य करके देखा जाय तो वह अलग ही है; इसीप्रकार चैतन्य ज्ञानमूर्ति आत्मा वर्तमान अवस्थामें देहादिके संयोगमें रहता हुआ भी असंयोगी स्वभावकी दृष्टिसे देखने पर अलग

ही है। भगवान आत्मा वर्तमान शरीरके संयोगसे एकक्षेत्रमें रह रहा है तथापि वह देहादिक जड़की अवस्थासे अलग ही है, और परमार्थसे पराश्रयके द्वारा होनेवाले विकारी भावोंसे भी भिन्न है।

यद्यपि ऐसा ही है! यथार्थदृष्टिसे देखने पर आत्मा त्रिकाल परसे तथा विकारी भावसे भिन्न है, तथापि अज्ञानी जीव मिथ्यादृष्टिसे परके साथ एकमेक होना मानता है। यहाँ शुद्धनयके द्वारा पर्यायको गौण करके सम्पूर्ण स्वभावको माननेकी रीत बताई है। जो यथार्थ रीति है उसे यदि कठिन माने तो दूसरे मार्गसे स्वभावको नहीं जाना जासकेगा। सत्के मार्गसे ही सत् स्वभाव आता है, असत्का मार्ग सरल मानकर यदि उसीपर चला जायेगा तो सत् अधिक दूर होता जायेगा। जैसे देहलीसे अहमदाबाद जाना हो किन्तु वह बहुत दूर है इसलिये यदि कोई मुरादाबादकी तरफ चल दे तो उससे अहमदाबाद और अधिक दूर होता चला जायेगा, तथा वह कभी भी अहमदाबादको प्राप्त नहीं कर सकेगा। इसीप्रकार यद्यपि आत्माका अंतरंग मार्ग बिल्कुल सीधा ही है, किन्तु अनभ्यासके कारण कठिन प्रतीत होता है। अनादिकालीन विपरीतमान्यताके कारण वह मार्ग पहले कठिन प्रतीत होता है इसलिये बाह्यमें सरलमार्गको धर्म मान ले तो अंशमात्र भी अज्ञान-मिथ्याभिमान दूर नहीं होगा, और वह स्वभावसे दूर ही दूर रहेगा।

आचार्यदेवने स्वभावकी दृढ़ताके द्वारा एक समयमात्रमें मिथ्यामान्यताके नाश करनेका उपाय बताया है। मिथ्यामान्यताके द्वारा और अशुद्धताके आश्रयसे एक-एक समयकी अवस्थाको लेकर अज्ञान और अशुद्धतामें ही अनन्तकाल व्यतीत हुआ है, तथापि वह अज्ञान और अशुद्धताकी स्थिति एकसमयमात्रकी उत्पन्नध्वंसी है, इसलिये क्षणभरमें उसका नाश होसकता है। वह अनादिकालीन है, इसलिये उसके लिये (क्षयके लिये) अधिक समयकी आवश्यकता हो-ऐसी बात नहीं है।

[illegible] पर वर्तमान [illegible] प्रगट करनेके लिये और [illegible] स्थिरता करनेके लिये [illegible] करना चाहिये। स्वाधीन स्वभावके पुरुषार्थका साधन जड़कर्मके आधीन नहीं है, पुरुषार्थ धर्मको पुण्य जागृत नहीं कर सकता [illegible] पुण्यसे धर्मका पुरुषार्थ जागृत नहीं होता। गुण प्रगट करनेके लिये अंतरंगमें पूर्ण स्वाधीन गुणकी श्रद्धासे युक्त पुरुषार्थ चाहिये। स्वाधीनस्वभावके लिये कोई काल, कोई क्षेत्र या किसी भी संयोगकी सहायता आवश्यक नहीं है।

"न जाने कब गुण प्रगट होगा? ऐसे विषम पंचमकालमें ऐसा धर्म मुझसे नहीं हो सकेगा" यों कहकर पुरुषार्थको मत रोको। भला आत्मस्वभावमें काल और कर्म बाधक हो सकते हैं? तू आत्मा है या नहीं? जड़-कर्म तो अन्ध हैं, ज्ञानरहित हैं, वे तेरा कुछ नहीं कर सकते; तथापि अपने पुरुषार्थकी निर्बलताका दोष दूसरे पर डालना अनीति और अधर्म है।

"अनुभवप्रकाशमें" कहा है कि "इसकालमें दूसरा सब कुछ करना सरल है, मात्र स्वरूपको समझना ही कठिन है, ऐसा कहनेवाले स्वरूपकी चाह-भावनाको मिटानेवाले, पुरुषार्थके मन्द करनेवाले बहिरात्मा, मिथ्यादृष्टि मूढ़ हैं।"

पृथक्त्वकी यथार्थ श्रद्धा करके स्वाधीन स्वभावकी भावना करनेको तू मँहगा कहता है, किन्तु तेरे पास ऐसे कौनसे बाह्य संयोग हैं कि जिससे तू मँहगा-मँहगा कह रहा है? भरत चक्रवर्तिके पास छियानवेहजार स्त्रियाँ थीं और सोलह हजार देव उनकी सेवा करतेथे, छह खण्डका राज्य था; ऐसे संयोगोंके बीच रहते हुए भी वे महान धर्मात्मा थे, सम्यक्‌दृष्टि थे, उनके अंतरंगमें पृथक्त्वकी प्रतीति विद्यमान थी, और तेरे घरपर तो छियानवे हजार नलियाँ भी नहीं हैं, फिर भी

परसंयोगका दोष निकालकर आत्मधर्मको समझना मुश्किल कहकर ज्ञानमें विघ्न डालकर समझनेका द्वारा ही बन्द कर देता है, तब उसकी समझमें कहांसे आ सकता है? उसे संसारके प्रति प्रेम है।

और फिर कई लोग यह कहकर कि 'अध्यात्मवस्तुका समझना कठिन एवं मँहगा है,' तत्त्वज्ञानको समझनेकी चिंता ही नहीं करते; वे स्वाधीन ज्ञानस्वभावकी हत्या करनेवाले हैं। निठल्ला बैठा हुआ मानव सांसारिक क्रियामें उत्साह माना करता है; वह निरंतर यह पूछता रहता है और जानना चाहता है कि अखबारमें क्या नवीन समाचार आये हैं? और रेडियो पर कौनसे नवीनतम समाचार कहे गये हैं? इसप्रकार वारम्वार पूछता रहता है, किन्तु अपने आत्माके समाचार -आत्मा क्या कहता है, तथा भयंकर भावमरण कैसे मिट सकते हैं, यह समझनेके लिये कभी भी नही पूछता। जिसे वाह्यमें परकी रुचि है वह परसम्वन्धी रागके लिये समय निकालकर सब कुछ करता है, रागकी वस्तुको अच्छी रखनेका प्रयत्न करता है; परवस्तुमें राग-द्वेष-के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। जिससे जन्म-मरणके अनन्त दुःख दूर होकर शाश्वत सुख प्रगट होता है उसकी रुचि नहीं है, उसके प्रति आदर नहीं है, उसका परिचय नहीं है; तो आत्मस्वभाव ऐसी कोई मुफ्तकी वस्तु नहीं है जो पुरुषार्थके बिना ही अपने आप प्रगट हो जाये।

आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मस्वभावको शीघ्र समझनेके लिये पात्रताके द्वारा सत्समागम प्राप्त करके उसका अभ्यास करे, रुचि पूर्वक पुरुषार्थ करे तो इसकालमें भी आत्मस्वभावको समझना सुलभ है, किन्तु परको अपना मानकर, पुण्यादि संयोगोंको अपना बनाकर रखना चाहता है; किन्तु कभी पुण्य-पाप किसीके एक-समान स्थिर नहीं रह सके हैं, इसलिये वह एकान्त अशक्य है, क्योंकि आत्मा परमें कुछ भी करनेके लिये कदापि समर्थ नहीं है, और स्वभावमें सब कुछ करनेके लिये सर्वकालमें समर्थ है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि पर [illegible] निमित्त है और [illegible] [illegible]का निमित्तकर्ता होता है, किन्तु परवस्तु तो मात्र ज्ञेय है [illegible] ज्ञानमें जाननेका निषेध नहीं है। श्रद्धाके विषय (ज्ञानका विषय यथार्थ [illegible] स्वपरके विवेकमें ज्योंका त्यों निमित्तको जानता है। श्रद्धामें अखंड ध्रुव सामान्य स्वभाव लक्ष्यमें आनेके बाद अवस्था भेदको और ज्ञान खुलता है, वह सम्यक्प्रकारसे हुआ ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है इसलिये वर्तमान अपूर्ण अवस्थाको जानने पर संयोगरूप निमित्तकी उपस्थितिको भी ज्योंका त्यों जानता है, और त्रिकालस्थायी असंयोगी ध्रुवस्वभावको भी जानता है। किन्तु ज्ञान निमित्तके आधार पर अवलम्बित नहीं है, और निमित्त अर्थात् बाह्यसंयोगकी उपस्थितिका निषेध ज्ञान नहीं कर सकता।

सम्यक्श्रद्धाके विषयमें पूर्ण निर्मल पर्याय और अपूर्ण पर्यायके भी भेद नही हैं। अनादि-अनन्त पूर्णरूप एकाकार वस्तुस्वभाव श्रद्धाके लक्ष्यमें लिया कि उसमें पूर्ण ध्रुवस्वभावकी अस्ति और वर्तमान अवस्थाके किसी भी भेदकी नास्ति है; श्रद्धाका विषय तो अखंड वस्तु है।

ज्ञानमें स्ववस्तु और पर्यायके भेद जानने पर ज्ञेयरूप परवस्तु भी जाननेका विषय बन जाती है, वह (ज्ञान करना) भी वास्तवमें स्व-विषय है, क्योंकि परमें जानना नहीं होता और परसे जानना नहीं होता, फिर भी परवस्तु है अवश्य जोकि ज्ञानमें परज्ञेय होनेमें निमित्त है, इसप्रकार ज्ञानी परवस्तुके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं; तब अज्ञानी विपरीत ही ग्रहण करता है कि परज्ञेयसे — निमित्तसे ज्ञान होता है। और इसप्रकार निमित्तका अपनेमें अस्तित्व मानता है। ज्ञानी निमित्तको अपनेमें नास्तिरूपसे ज्ञेयरूप जानता है, और स्व-परका विवेक करता है।

निमित्त, निमित्तरूपसे है, अपनेरूपसे नहीं है; स्वयं निजरूपसे है निमित्तरूपसे नहीं है। समस्त लोक परज्ञेयमें (निमित्त) है,

किन्तु ज्ञानमें सहायक नहीं है। निमित्त किसी कार्यमें कुछ नहीं करता, मात्र उसकी उपस्थिति होती है; तथापि निमित्ताधीन दृष्टिवालेके अंतरंगमें स्वतंत्र वस्तु समझमें नहीं आई है, इसलिये वह यह सुनकर कि 'परका कुछ नहीं कर सकता' यदि विरोध न करेगा तो दूसरा कौन विरोध करेगा ? अज्ञानी समझके दोषसे असत्यका स्वीकार करके सत्यका विरोध करे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

जो सम्यक्‌दृष्टि त्रिकालके कर्मबन्धको अपने आत्मासे भिन्न जानकर भिन्न अनुभव करके मिथ्यात्व मोह और अज्ञानको अपने पुरुषार्थसे रोककर अथवा नाश करके अंतरंगमें पृथक्त्वका अभ्यास करता है, वह अपनेको अपनेमें ही स्पष्टतया-असंगरूप देखता है; इसलिये यह आत्मा अपने अनुभवसे ही ज्ञेययोग्य जिसकी प्रगट महिमा है-ऐसा व्यक्त (अनुभवगोचर) अंतरंगमें विराजमान है। उसे शुद्धनयके द्वारा भलीभाँति जाना जासकता है।

शुद्धस्वभावको परसे भिन्नरूप अनुभव करनेका अभ्यास अनादिकालसे कभी नहीं किया और कभी यह नहीं माना कि शुद्धभावके द्वारा भीतर देखने पर मैं विकारका नाशक त्रिकाल ज्ञानरूप असंयोगी हूँ; किन्तु अपनेको वर्तमान अशुद्ध पर्यायरूप तथा होनेवाले पुण्य-पापके भावरूप माना है, किन्तु उस पर्यायदृष्टिसे कभी भी धर्मका विकास नहीं होसकता। पराधीन मान्यता और अशुद्धभावका नाश करनेवाले अपने स्वभावको भूलकर जबतक पराधीनताका सेवन करता है तबतक पराश्रयरूप विपरीत मान्यताका त्याग नहीं कर सकता। पूर्ण निर्मल स्वाधीन स्वरूप क्या है इसे पहले भलीभाँति जानकर पूर्ण स्वभावके आधीन होकर स्वाश्रित अखण्ड श्रद्धासे अपने स्वभाव पर भार देकर स्थिर हो तो-निजमें टिके तो नित्य ज्ञानानन्दरूप स्वाधीन स्वभाव होनेसे स्वरूपकी निर्मलता प्रगट होती है अर्थात् क्रमशः वर्तमान अवस्थामें साक्षात् निर्मलतारूप स्वाधीन शक्ति प्रगट होती है।

अंशतः निर्मलतारूप अपूर्व पुरुषार्थ उदित होता है; अस्थिरतामें जो अल्प निमित्ताधीन भाव होता है उसका स्वभावके बलमें स्वीकार नहीं है। इसप्रकार स्वभावके लक्ष्यसे पराश्रयका नाश करके जन्म-मरणको दूर करनेवाली सम्यक्‌श्रद्धा हो सकती है।

जाननेका तो मेरा स्वभाव ही है, स्वभावमें परकी सहायता कैसी ? इसप्रकार स्वतंत्र स्वभावको माननेवाला आत्मा अपने त्रिकाल-ज्ञानस्वभावकी स्वानुभवरूप क्रियाका कर्ता हुआ; अपने ज्ञान-स्वभावका ही स्वामी हुआ, अर्थात् पुण्य-पाप विकारका कर्तृत्व और स्वामित्व रहा ही नहीं। इसमें अनन्त पुरुषार्थ और अनन्तज्ञानकी क्रिया आ जाती है।

आत्माका ज्ञानस्वभाव नित्य प्रगट है, वह कभी किसीसे रुका नहीं है, किसीसे दबा हुआ नहीं है अथवा किसीके साथ एकमेक नहीं होगया; ऐसा व्यक्तस्वभाव वाला स्वयं अपने ज्ञानके द्वारा जानने योग्य (स्वानुभवगोचर) सदा विराजमान है। भीतर स्वतंत्र गुणकी श्रद्धाके बाद यथार्थ ज्ञान स्व-परको भलीभांति जानता है तब जो बाह्य संयोग विद्यमान होता है वह निमित्त कहलाता है। देव, गुरु, शास्त्र इत्यादिसे ज्ञान नहीं होता, यदि निमित्तसे ज्ञान हो तो सबको एक-सा ज्ञान होना चाहिये। निमित्ताधीन दृष्टि ही स्वाधीन सत्‌की हत्या करनेवाली है। बाह्य साधनके बिना मेरा काम नहीं चल सकता-ऐसी विपरीत मान्यता अनादिकालसे बनाये चला आ रहा है, उसका जो जीव स्वावलम्बी स्वभावके लक्ष्यसे प्रथम श्रद्धामें नाश करता है वह क्रमशः स्वभावमें स्थिर होनेपर पराश्रयको छोड़ता जाता है।

लोगोंको स्वाधीनस्वभावकी श्रद्धा करते हुए कपकपी उठती है कि—अरे! मैं किसीके अवलम्बनके बिना कैसे रह सकूँगा; उसे अपनी ही श्रद्धा नहीं है इसलिये पराश्रयकी श्रद्धा जम गई है, किन्तु एकबार स्वाश्रित अखंडस्वभावके बलसे पराश्रयका निषेध करे तो स्वतंत्रताका बल प्रगटे और नित्य ज्ञाता-दृष्टारूप ही अपनेको देखे।

आत्मा कैसा है? नित्य निश्चल है; जिसमें चार गतियोंके भ्रमणका स्वभाव नहीं है। आत्मा शाश्वत है, वस्तुस्वरूपमें त्रिकाल-स्थायी स्वानुभवरूप है, अपने अनुभवसे कभी अलग नही है और कभी अलग नहीं होता; इसलिये यदि कोई कहे कि 'इसकालमें आत्मानुभव नहीं होसकता,' तो उसकी यह वात मिथ्या है, आत्मा नित्य कर्मकलंकसे अलग है। यदि वर्तमानमें कर्मोंसे अलग न हो तो फिर अलग नहीं होसकता। आत्मा हीन, विकारी या पराधीन नही है, क्योंकि नित्य गुणस्वरूपमें दोष नहीं होसकता।

जो अवस्थाके भेद हैं सो व्यवहार है। स्वभाव तो वर्तमानमें भी परमार्थसे पूर्ण निर्मल है, असंग है। उस स्वभावका लक्ष्य करते ही प्रगट प्रतीतिरूप विशुद्ध चैतन्य भगवान अंतरंगमें नित्य विराजमान हैं और वैसा ही अपने द्वारा नित्य ज्ञात होरहा है, अनुभव किया जारहा है। ऐसे आत्माकी प्रतीति सम्यक्दर्शनके होनेपर होती है, भवकी भ्रान्तिका नाश करके साक्षात् अपने परमात्मस्वरूपका वर्तमानमें ही दर्शन हो-ऐसा उत्तम धर्म कहा जाता है।

अनादिकालीन परमुखापेक्षिताका नाश करनेवाला अविनाशी स्वभाव आत्मा नित्य गुणस्वरूप है, पुण्य-पापके बन्धन भावकी उत्पत्तिके बन्धनभावको रोकने वाला है, उसे भूलकर पर्यायका [illegible] और विकारी अवस्थाको ही स्वभाव मान ले तो विकारकी ही उत्पत्ति होती है। जो विकारके अवलम्बनकी दृष्टिको [illegible] हुआ है वह संसारका इच्छुक है, और जिसने विकारके [illegible] अविकारी स्व-भाव पर दृष्टि की है वह संसारमें रहता हुआ भी [illegible] है, वह स्वभावमें परमात्मारूपसे विद्यमान है। अंतरंग [illegible] करके एकबार स्वावलम्बी स्वभावका आदर करे तो [illegible] मोहका शीघ्र नाश होता है।

भावार्थ :—अवस्थाके लक्ष्यको गौण करके त्रिकाल निर्मल ध्रुव स्वभावको देखने वाली शुद्धनयकी दृष्टिसे अंतरंगमें [illegible]

कर्मोंके संयोगसे रहित पूर्ण ज्ञानानंदमूर्ति और अविनाशी भगवान आत्मा स्वयं निजस्वभावसे विद्यमान है। देहादिक तथा रागादिक बाह्यदृष्टि वाले अंतरंगमें न देखकर बाहरसे ढूँढते हैं, यह उनका महा अज्ञान है। अंतरंग स्वभाव या कोई भी गुण बाहर नहीं किन्तु स्वभावमें ही सब कुछ विद्यमान है।

जिसे यह भ्रान्ति है कि पराश्रयको देखें, वह परको अपना स्वरूप मान रहा है, उसे पराधीनताकी रुचि है, और स्वाधीन गुणकी रुचि नहीं है। पहलेसे ही श्रद्धामें सर्व परावलम्बनका स्वलक्ष्यसे निषेध करके मैं पररूप नहीं हूँ, मुझे किसी भी बाह्य निमित्त या मनके अवलम्बनकी आवश्यकता नहीं है, मैं उस सबसे भिन्न हूँ; ऐसी निरावलम्ब श्रद्धाके लक्ष्यसे भीतरसे ही गुण प्रगट होता है; किन्तु जो यथार्थ श्रद्धा नहीं करता और बाह्यमें दौड़-धूप करता है– बाह्यमें ही दृष्टि रखता है तथा जो इसप्रकार पर-पदार्थसे गुण - लाभ मानता है कि पहले अधिकाधिक शुभराग करके पुण्य एकत्रित कर लूँ तो फिर धीरे-धीरे गुण प्रगट होंगे, वह उस मृगकी भाँति व्यर्थ ही बाहर दौड़ लगाता है जिसकी नाभिमें कस्तूरी भरी हुई है और वह उसकी सुगन्धिको अपने भीतर न समझकर उसके लिये बाहर दौड़ता फिरता है; गुण अपने ही भीतर विद्यमान हैं फिर भी अज्ञानी जीव उनके लिये बाहर भ्रमण करता रहता है। हिरन अपने अज्ञान और हीनताके कारण अपने भीतर विद्यमान सुगन्धिको जानने-देखनेका विचार ही नहीं करता, इसीप्रकार जिसकी दृष्टि अपनी हीनता पर है और जो बाह्यमें ही गुण मान बैठा है वह अपने भीतर विद्यमान वास्तविक गुणोंको नहीं देख पाता। यदि वह अपनेमें दृष्टि डाले तो अपनी शक्तिकी प्रतीति हो।

सर्वज्ञ भगवानने सभी आत्माओंको अपने ही समान स्वतंत्र घोषित किया है, सभीकी पूर्ण प्रभुता घोषित की है, किन्तु जिसे देहादिक पर पदार्थोंमें मूर्च्छा है, और जिसे पराधीनता अनुकूल मालूम होती है उसे

यह वात कहांसे रुच सकती है कि मैं पूर्ण परमात्मा हूँ ? जहां पान-बीड़ी और चायके विना एकदिन भी न चल सकता हो, थोड़ी सी निन्दा अथवा अपमान होनेपर भारी क्षोभ होजाता हो, और स्तुति या प्रशंसाको सुनकर हर्षोन्मत्त होकर अर्पित होजाता हो, साधारण तुच्छ वस्तुओंमें मुग्ध होजाता हो, पराश्रयके आगे किंचित्मात्र भी धीरज न रख सकता हो वह निरावलम्बी पूर्ण गुणका-अपनी प्रभुताका विश्वास कहांसे कर सकेगा ? किन्तु एकवार रुचिपूर्वक मैं पूर्ण हूँ, निरावलम्बी ज्ञायक हूँ, ऐसी श्रद्धासे स्वरूपका यथार्थ आदर करके स्वाश्रयके द्वारा स्वीकार करे तो पराश्रयकी पकड़ छूट जाती है।

अज्ञानी जीव सुख और सुखका उपाय वाह्यमें मानता है। शरीरमें रोग होजाता है तो उससे दुःख होता है, ऐसा मानकर (वास्तवमें वाहरसे दुःख नही आता, किन्तु अज्ञान ही दुःखका कारण है, ऐसा न जाननेसे) वाह्य संयोगोंसे छूटकर सुखी होऊं, इसप्रकार वाहरसे सुख मानता है और वाह्यमें ही प्रयत्न करता है।

लोगोंने ऐसा मान रखा है कि आत्मा अलख, अगोचर है और वह कहीं भी हाथ नहीं लग सकता, इसलिये उसकी वात सुनते ही भीतरसे उत्साह नहीं आता, और उसे समझना कठिन प्रतीत होता है। यदि कोई कहता है कि कन्दमूलका त्याग करो, हरी सागका त्याग करो, ऐसा करो और वैसा करो, तो ऐसी वाह्य क्रियाओंको करनेके लिये तत्पर होजाता है, क्योंकि वह सब आंखोंसे प्रत्यक्ष दिखाई देता है, इसलिये वह यों सन्तोष मान लेता है कि मैंने इतना त्याग किया है, किन्तु विना प्रतीतिके अथवा ज्ञानके विना धर्म नहीं होता। (स्मरण रहे कि यहां कन्दमूल खानेकी वात नहीं है, और न कन्द-मूल खानेका समर्थन किया जारहा है, किन्तु यहां विवेकका प्रश्न है।) अंतरंग गुणोंके लिये कोई वाह्य निमित्त किंचित्मात्र भी सहायक नहीं होता, धर्म तो स्वभावमेंसे ही होता है। स्वभावकी अप्रतीतिरूप अज्ञान ही अनादिकालीन संसारका कारण है।

स्वीकार नहीं करता। कोई उसकी निन्दा करे या स्तुति करे, कोई तलवारसे उसके शरीरको काटे या उसे चन्दनसे चर्चित करे, तो भी वह यह मानता है कि मैं तो मात्र अपने वीतरागी ज्ञानगुणके द्वारा जाननेवाला हूँ। चाहे जैसे संयोग क्षेत्र काल भाव हों तथापि उनमें अटके बिना अपने एकरूप ज्ञानगुणको जानता हूँ। वह स्वभावकी क्रिया हुई। सम्यक्दर्शनके द्वारा ज्ञानघन निश्चल हुआ है इसलिये मेरे ज्ञानमें कोई विरोधभाव नहीं करा सकता।

पांच सौ मुनियोंको (उनके शरीरको) घानीमें पेल डाला, फिर भी उनके आत्माकी अखण्ड ज्ञान-शांति भंग नहीं हुई। अंतरंग गुणमें अनंतशक्ति विद्यमान है, उसमें एकाग्र होकर कई मोक्ष गये और कोई एकावतारी हुए। अज्ञानी-बहिर्दृष्टि-मूढ़पुरुष कहते हैं कि जब वे मुनि धर्मात्मा थे तो उनमेंसे किसीने चमत्कार क्यों नहीं बताया? कोई देव उनकी सहायता करने क्यों नहीं आया? किन्तु ऐसा कहनेवालोंको आंतरिक ज्ञान नहीं है। वीतराग स्वभाव साक्षात् चैतन्यघन-देवाधिदेव प्रगट हो गया, यही सबसे बड़ा चमत्कार है।

कुछ लोग कहा करते हैं कि- अमुक भक्तका विष भी अमृत कैसे हो गया था? किन्तु वे यह नहीं जानते कि वह तो पुण्यका फल है, पुण्यका और आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है, दोनोंके मार्ग अलग हैं। शरीर रहे या न रहे, शरीर रोगी हो या निरोगी हो, वह सब जड़की पर्याय है, उसके साथ अरूपी आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है, उसके आधारसे आत्माको कोई हानि-लाभ नहीं है।

नाम और रूप, अरूपी ज्ञानस्वरूप आत्मामें नहीं हैं। जड़वस्तु उसकी क्रिया, अवस्था त्रिकालमें अपने स्वतंत्र आधारसे करती है। जड़ जड़की अवस्थाको बदलता है और चैतन्य आत्मा अपने रूपमें स्थिर रहकर अपनी अवस्थाको अपनेसे ही बदलता है-वह अपने अरूपीभाव करता है।

अब, ज्ञानको मुख्य करके कहेंगे कि-शुद्धनयका विषयस्वरूप आत्मा सदा सब ओर ज्ञान-शांतिरूपसे अपनेमें ही अनुभव किया जा रहा है ॥ १४ ॥

सम्यक्‌दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञान और आंशिक सम्यक्‌चारित्ररूप स्वरूपाचरण आ जाता है। अपूर्व पात्रता और सत्‌समागमके द्वारा अपने स्वाधीन स्वरूपको जानकर अवस्थाके भेदका लक्ष्य गौण करके विकारका नाशक हूं, अक्रिय, असंग, ज्ञानस्वरूप हूं, इसप्रकार स्वभावको लक्ष्यमें लेकर रागमिश्रित विचारको कुछ दूर करके त्रिकाल एकरूप पूर्णस्वभावको आत्मामें प्रतीत करना सो सम्यग्दर्शन है, उसमें पराश्रय नहीं है। निर्विकल्प अखंडानन्द ज्ञायक हूं, जब ऐसी यथार्थ प्रतीतिपूर्वक श्रद्धा करता है, तब मुक्तिकी ओर प्रयाण प्रारम्भ होता है।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससन्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥ १५॥

यः पश्यति आत्मानं अबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषम्।
अपदेशसान्तमध्यं पश्यति जिनशासनं सर्वम् ॥ १५ ॥

अर्थ:—जो पुरुष आत्माको अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष (तथा उपलक्षणसे नियत और असंयुक्त) देखता है वह सर्व जिनशासनको देखता है-जो जिनशासन बाह्य द्रव्यश्रुत तथा अभ्यन्तर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है।

यहाँ सम्यग्दृष्टि-सम्यग्ज्ञानी आत्माके स्वभावको किस प्रकार जानता है, सो कहा जारहा है; और जाननेके बाद स्वभावमें कैसे स्थिर होता है, तथा व्रत-प्रत्याख्यान-संयम आदि किसप्रकार होते हैं सो आगे सोलहवीं गाथामें कहा जायेगा।

शरीर, मन, वाणी इत्यादि परवस्तुकी क्रिया मैं कर सकता हूं, उसके कारण मुझे गुण-लाभ होता है, पुण्य करता हूं तो

शुभविकारसे गुण-लाभ होता है इसप्रकार जो मानता है सो वह वीतरागकथित जिनशासनका विरोधी है।

मैं अबन्ध, असंयोगी, अरागी हूँ, पराश्रित नहीं हूँ, मेरे गुण-लाभके लिये पराश्रयकी या दूसरेकी सहायताकी आवश्यकता नहीं होती; ऐसी स्वाश्रित भावकी श्रद्धा होनी चाहिये। जिसे जीतना है उससेमें विजित हो गया अर्थात् अपनेको रागादिरूप मान लिया अथवा पर क्रियाका कर्ता मान लिया, तब फिर उसमें रागादिको जीतनेकी बात कहाँ रही? मैं पराश्रयका नाशक हूँ; विकारको जीतनेवाला हूँ, बन्धनको तोड़नेवाला हूँ, कभी भी पररूप नहीं हूँ, त्रिकाल निजरूप ही हूँ, ऐसी जिनाज्ञाका स्वीकार किये बिना कभी भी राग-द्वेषको जीतकर स्वतंत्र नहीं हुआ जासकता।

अब, इस गाथाकी पाँच कंडिकाओंका वर्णन करते हैं:—

(१) अबद्धस्पृष्ट–मैं किसी परसंयोगसे बंधा हुआ नहीं हूँ, पराधीन नहीं हूँ, असंयोगी ज्ञायक हूँ।

(२) अनन्य–मैं पररूप नहीं हूँ, देहादिक मेरे साथ नहीं हैं, मैं उनका नहीं हूँ, परक्षेत्रका कोई सम्बन्ध मेरे साथ नहीं है, मैं सर्व वस्तुओंसे रहित स्वमें त्रिकाल अभेद हूँ।

(३) नियत–मैं एक-एक समयकी अवस्थाके भेद जितना नहीं, किन्तु त्रिकालस्थायी नित्य एकरूपस्वभाव हूँ।

(४) अविशेष–मैं गुणके भिन्न-भिन्न भेदरूप नहीं हूँ, किन्तु सामान्य एकाकार अनन्त गुणोंका पिंड अभेदस्वरूप हूँ।

(५) असंयुक्त–कर्मके सम्बन्धसे राग-द्वेष, हर्ष–शोक आदिक जो भेद होते हैं मैं उस भेदरूप अवस्थावाला नहीं हूँ, निमित्ताधीन होने वाले विकारोंका कर्ता नहीं हूँ, (क्षणिक अवस्थामें स्वयं विकार करता है, किन्तु स्वभावमें उसका स्वीकार नहीं है) मैं नित्य वभावाश्रित गुणोंकी निर्मलताका ही उत्पादक हूँ।

टीका:—जो उपरोक्त पाँच भावस्वरूप आत्माकी अनुभूति है सो निश्चयसे वास्तवमें समस्त जिनशासनकी अनुभूतिरूप सम्यग्ज्ञान है, क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है। इसलिये अविरोधी ज्ञानकी जो अनुभूति है सो आत्मा की ही अनुभूति है। एक जिनशासन देखे ऐसा न कहकर सकल (तीनोंकालके-भूत, भविष्यत, वर्तमानके समस्त) सर्वज्ञदेवोंकी आज्ञा-उपदेश एक ही प्रकारका है, वह जैसा है उसीप्रकार सम्यक्दृष्टि मानता है।

आत्माका स्वभाव उपरोक्त कथनानुसार अबन्ध असंयोगी ही है, किन्तु वर्तमानमें वैसी अवस्था प्रगट नहीं है; यदि वर्तमान बाह्य अवस्थामें भी बन्धरहित ही हो, तो तू बन्धरहित हो जा, विकार-रहितताको मान, ऐसा उपदेश देनेकी क्या आवश्यकता रहती? मैं पररूप या परमें कर्तारूपसे पराधीन नहीं हूँ, राग-द्वेष-मोहरूप नहीं हूँ, इससे स्पष्ट सूचित होता है कि-वर्तमानमें राग-द्वेष विकार है, किन्तु मैं उसे रखनेवाला नहीं; किन्तु मैं त्रिकाल निश्चल एकरूप सामान्य ज्ञानस्वभावको रखनेवाला नित्य एकरूप हूँ।

पन्द्रहवीं गाथामें आचार्यदेव कहते हैं कि तीनोंकालके सर्वज्ञ वीतरागदेवोंके द्वारा कथित, वीतराग होनेका सच्चा मार्ग इसीप्रकार है। लोग भगवानके नामपर दूसरेको वीतरागका मार्ग मान बैठते हैं और वीतरागके मार्गको अन्यरूपसे मान लेते हैं—इसे यथार्थ नहीं समझते; इसलिये प्रत्येक बात बहुत ही स्पष्टतासे सादा सरल भाषामें कही है।

आत्माको परसे अलग, निरावलम्ब, अविकारी और एकाकार-रूप जिसने जाना है, तथा स्वभावकी यथार्थ प्रतीतिसे निःसन्देह हुआ है (कि त्रिकालमें वस्तुका स्वभाव-आत्माका धर्म ऐसा ही है) उसने सर्वज्ञदेवके द्वारा कथित बारह अंग और चौदह पूर्वोंको यथार्थरीति भावपूर्वक जाना है; क्योंकि सर्वज्ञके सर्व आगम ज्ञानमें जो आशय था सो यही है।

से नहीं हूँ, परका कर्त्ता नहीं हूँ, मेरे गुण पराश्रयसे या शुभविकल्पसे प्रगट नहीं होसकते। अंतरंगमें गुणकी श्रद्धाके बलसे गुणसे गुण प्रगट होते हैं, ऐसा जानना सो सम्यक्ज्ञान है, और यही अनेकान्त धर्म है। पराधीनताको स्थापित करे या शुभाशुभरागको सहायक माने-मनाये और इसप्रकार अवगुणको पुष्ट करे, सो ऐसी वीतरागकी आज्ञा नहीं है। जो परमें कर्तृत्व माने, पुण्यकी क्रियाको मोक्षमार्ग कहे, और जीतने योग्य (नष्ट करने योग्य) शुभाशुभभावको कर्तव्य मानकर उनका आदर करे, तो समझना चाहिये कि उसे जिनशासनकी प्रतीति नहीं है और स्वभावकी खबर नहीं है।

जिनका अर्थ है गुणोंके द्वारा अवगुणोंको जीतनेवाला। मैं निमित्ताधीन होनेवाली अवस्था जितना नहीं हूँ, किन्तु विकारका नाशक अविकारी हूँ। क्षणिक विकार मेरे अविकारी अखंडस्वभावको हानि पहुँचानेवाले नहीं हैं, किन्तु मैं उनका नाश करनेवाला हूँ। जो परसे विजित होजाता था अर्थात् जो अपनेको पराश्रित मानता था उस भ्रमका स्वभावकी प्रतीतिमें रहकर नाश कर दिया सो उसका नाम सत्यधर्म-मोक्षमार्ग है। मैं परसे नित्य निरावलम्ब ज्ञानस्वरूप-से स्थिर रहनेवाला हूँ, ऐसी प्रतीति की सो वह सम्यक्श्रुतज्ञान स्वयं ही आत्मा है। अपनेमें नित्य अभेदरूपसे अपने ज्ञानको जाना सो वह श्रुतज्ञान भी आत्मा है, इसलिये श्रुतज्ञानकी जो अनुभूति है सो स्वरूप-ज्ञानकी एकाग्रतामें निरंतर आत्माकी अनुभूति है।

मैं परसे भिन्न हूँ-इसप्रकार वीतरागी स्वतंत्रस्वभावको जानने पर अन्यसे जानना मिट गया। मैं शरीरादि पररूप कभी नहीं था, जड़कर्मसे दबा हुआ नहीं था, एकाकार नित्य ज्ञानस्वरूप ही था, परनिमित्तके भेदसे रहित पराश्रयरहित अपने ज्ञानको [illegible] [illegible] परके स्वभावकी ओर एकाग्रता की सो निजको ही जानने-देखनेवाला हुआ, अपना ही कर्ता हुआ, इसलिये वह [illegible] उत्पादक नहीं रहा; यही जिनशासनका रहस्य है, यही आत्मधर्म है, और यही [illegible]

चैतन्य निर्मल ज्ञानरूपी दर्पण अपनी स्वच्छताको जाननेवाला है, उसमें जो पराश्रय राग-द्वेषकी क्षणिक अवस्था दिखाई देती है उसकी नास्ति है; ऐसा न मानकर अज्ञानीके ऐसे मिथ्याभाव होते हैं कि मैं परका कुछ कर दूँ, परसे मेरा कुछ कार्य होजाये, परकी प्रवृत्ति मेरे अधीन है इत्यादि; इसलिये वह परमें ही आसक्त है, अर्थात् वह मानता है कि-परसंयोगाधीनतासे अलग होना मुझे कैसे पुसा सकता है ? मैं निर्माल्य, पराश्रय विना क्योंकर टिक सकूँगा ?

मैं किसी परका कुछ कर दूँ, और कोई मेरी सहायता कर दे, ऐसा माननेवाला अपनेको और परको पराधीन-निर्माल्य मानता है। भगवानका स्मरण करके अपने गुणोंको बनाये रखूँ, वाह्य शुभरागकी प्रवृत्ति करूँ तो गुण प्रगट हों, मुझमें निरावलम्बनरूप स्वतंत्र गुण और पुरुषार्थकी शक्ति नहीं है, इसप्रकार जो मानता है वह गुणकी नहीं किन्तु रागकी भक्ति करता है। कहा भी है कि:—

दीन भयो प्रभुपद जपै, मुक्ति कहाँसे होय ?

नित्य जाननेवाला ज्ञान निरुपाधिक है, और वही मैं हूँ, इसप्रकार जानकर सामान्य एकरूप ज्ञानस्वभावमें स्थिर होना सो यही प्रगट धर्म है, उसमें परका कोई कर्तृत्व नहीं है, पराश्रय नहीं है। ऐसी श्रद्धासे पहले मूलधर्मकी दृढ़ता होती है, उस स्वभावकी दृढ़ताके बलसे चारित्र खिल उठता है और पूर्ण स्थिरता होनेपर मुक्तदशा प्रगट होती है।

जैसे आहारका लोलुपी शाकमें लीन होकर शाकको खाते हुए नमकके स्वादको ढँक देता है,-खारेपनका पृथक्त्व लक्ष्यमें नहीं लेता, इसीप्रकार अज्ञानी निमित्ताधीन दृष्टिके द्वारा अनेक प्रकारके पर-विषयोंमें रागके द्वारा एकाग्र होता है, वह अलग अरागी ज्ञानस्वभाव-को भूल जाता है, उसे मैं स्वतंत्र निरावलम्बी हूँ, इसप्रकार परसे पृथक्त्व की प्रतीति नहीं बैठती, क्योंकि उसने अपने को अपने-

रूपमें और परसे भिन्नरूपमें कभी भी प्रगटतया न तो जाना है, न अनुभव किया है और न माना है।

जिस जीवको परमें रुचि है वह परका आश्रय मानकर, उसके विचारमें रुक जाता है, किन्तु वह परका लक्ष्य बदलकर अपने ऊपर दृष्टि डाले और निश्चल स्वभावकी श्रद्धा करके अपनेहीमें लग जाये, तो उसे कोई नहीं रोक सकता, किन्तु परमें कर्तृत्व मान रखा है इसलिये पराश्रयकी श्रद्धा नहीं छूट सकती; ज्ञानस्वभावका निराकुल आनन्द नहीं आता, और जिनआज्ञा समझमें नहीं आती। ऐसा जीव परपदार्थमें अटककर अपनेको दबा हुआ मानकर ज्ञेयमिश्रित आकुलताके स्वादका अनुभव करता है।

मैं परपदार्थका कुछ करूँ और मैं परको भोगूँ-ऐसी मान्यता बिलकुल मिथ्या है। ज्ञानी जीव किसी भी परवस्तुका स्वाद नहीं लेते। अज्ञानी अविवेकके द्वारा उस परवस्तुको अपनी मानकर जड़के रसमें आकुल होकर, उसमें राग करके, यह मानता है कि उसमेंसे रस आता है, किन्तु वास्तवमें तो वह अपने रागको ही भोगता है।

ज्ञानके करनेमें कोई भी संयोग बाधक नहीं होते, [illegible] निरुपाधिक, निरावलम्बी है। कोई लाखों गालियाँ दे या [illegible] करे तो भी उसमें अटकना ज्ञानका स्वभाव नहीं है, ज्ञान तो मात्र [illegible] जानना है। जो परको जाननेमें अच्छा-बुरा मानकर उसमें [illegible] जाता है वह परमें आसक्त होकर, अपने ज्ञायकस्वभावको भूला हुआ है। [illegible] परमें रुका होनेसे परसे भिन्न स्वाश्रित ज्ञानानन्दका अनुभव नहीं ले सकता। जो परवस्तु ज्ञात होती है वही मैं हूँ, और [illegible] जानता हूँ, इसप्रकार परवस्तुमें जो आसक्त है उसे [illegible] नहीं है।

जैसे कोई स्वादका लोलुपी व्यक्ति, [illegible] [illegible] होकर यह मान बैठे कि इसमें [illegible] स्वाद है [illegible] नहीं, और

द्वेष, पुण्य-पापकी वृत्ति उत्पन्न होती है [illegible] पापकी वृत्ति उठती है उसमें जड़कर्मके संयोगका निमित्त है, [illegible] अवस्था-दृष्टिसे है और तब मैं अपनी रागादिको करता हूँ, कोई पर-निमित्त या कर्म मुझे राग-द्वेष नहीं कराते; दया, दान, पूजा, भक्ति इत्यादिके शुभभाव पुण्यबंधके कारण हैं, किन्तु धर्मके कारण नहीं हैं, वे धर्ममें सहायक नहीं हैं। स्वभावका पुरुषार्थ मेरे स्वरूपसे ही होसकता है, जब इतना निर्णय कर लेता है तब कहीं व्यवहारके आंगन तक पहुँचा कहलाता है। जब रागसे छूटकर स्वभावकी प्रतीति करके श्रद्धामें रागका निषेध करता है तब श्रद्धामात्र धर्म होता है, और चारित्रके बलसे रागका जितना अभाव करे उतनी निर्मल दशा प्रगट होती है।

शास्त्रसे या सत्‌समागमसे जिनशासनको जाने सो व्यवहार है। आंगन तक पहुँचे और निरावलम्बी, सामान्य एकरूप, निर्विकार स्वभाव-का एकाकार लक्ष्य करे वह निश्चयसे सर्व जिनशासनका ज्ञाता होता है। कर्मके सम्बन्धसे युक्त होनेसे अशक्तिके कारण जो पुण्य-पापकी क्षणिकवृत्ति उठती है उसरूप मैं नहीं हूँ, किन्तु मैं उस विकारका नाशक हूँ, निरावलम्बी, निर्विकार, ज्ञायक त्रिकाल अनन्तगुणसे पूर्ण हूँ, स्वभावके अतिरिक्त दूसरेका कुछ नहीं कर सकता, मेरा स्वभाव राग-द्वेषको उत्पन्न करनेवाला नहीं है, मैं कभी भी परका कर्त्ता-भोक्ता नहीं हूँ; जब ऐसी स्वाधीनता यथार्थ श्रद्धामें आती है तब कहा जाता है कि–उस जीवने वीतरागके कथनको जाना है।

(१) कर्मका संयोग है तथापि निश्चयसे अबन्ध-अस्पर्शी हूँ।

(२) शरीरके आकारका संयोग है, तथापि निश्चयसे असंयोगी शरीराकारसे रहित हूँ।

(३) हीनाधिक अवस्थारूप परिणमन होता है, तथापि निश्चयसे प्रतिसमय एकरूप हूँ।

(४) अनन्तगुण भिन्न-भिन्न शक्तिसहित हैं, किन्तु स्वभाव भेदरूप नहीं है, मैं नित्य एकरूप अभेद हूँ।

(५) राग-द्वेष, हर्ष-शोकके भाव निमित्ताधीन होते हैं, किन्तु मैं उसरूप नहीं होजाता।

इसप्रकार जब अपने यथार्थ स्वरूपको मानता है तब व्यवहारके आँगनमें-शुभरागमें पहुँचा कहलाता है, (ऐसी चित्तशुद्धि जीवने अनन्तबार की है किन्तु वह व्यवहार है) व्यवहारसे-शुभरागसे निश्चय अर्थात् स्वभावके गुण प्रगट नहीं होते, किन्तु शुभ अथवा अशुभ कोई भाव मैं नहीं हूँ, व्यवहारके समस्त भेदोंका अभेद स्वभावके बलसे प्रथम श्रद्धामें निषेध करे तो पराश्रयके बिना स्वलक्ष्यसे अंतरंगमें एकाग्रताका जोर देनेपर स्वाभाविक गुण खिल उठते हैं।

उपर्युक्त पाँच भावोंसे स्वतंत्र पूर्ण निर्मल स्वभावरूपसे आत्माको यथार्थ प्रतीतिमें माने, तब निर्मल श्रद्धारूप प्रारंभिक धर्म अर्थात् सम्यक्दर्शन होता है। जो इसे जान लेता है वही वास्तवमें जिन-शासनको जानता है।

देहादिक परवस्तुकी क्रियाको ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी नहीं कर सकता, इसलिये उसकी तो यहां बात ही नहीं है। आत्माके स्वभावमेंसे तो शुभाशुभ वृत्ति उत्पन्न नहीं होती, किन्तु स्वभावको भूलकर परलक्ष्यसे जब नवीन करता है तब होती है। ऊँचेसे ऊँचे उत्कृष्ट शुभभाव भी स्वभावके विरोधी हैं, जो उन्हें [illegible] मानता है, अथवा सहायक मानता है, वह स्वभावको नहीं मानता। ज्ञानीके पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण पुण्य-पापकी [illegible] होजाती है, तथापि उसमें स्वामित्व नहीं होता, [illegible] नहीं होता; वह जानता है कि यह मेरा स्वभाव नहीं है।

मेरा स्वभाव नित्य एकरूप सतत [illegible] है, इसमें [illegible] स्वभावके भेद नहीं हैं, मैं शुभाशुभका [illegible] नहीं हूँ [illegible] है, जिसने ऐसे आत्मस्वभावको यथार्थतया जान लिया, उसने ही जिन-शासनके रहस्यको जान लिया। [illegible]

विपरीत मान्यता और अस्थिरताका नाश करके जिसने आत्मस्वभाव-को ही प्राप्त किया है, उसने सर्व वीतरागके हृदयको जान लिया है।

भगवानकी वाणीमें पूर्ण ज्ञानभाव है। वह रागके कर्तृत्व-को स्थापित नहीं करती, और पराधीनताको आचरणीय-करने योग्य नहीं बतलाती। जिसने अपने निर्मल स्वाधीन स्वभावको जाना है, उसने वीतराग परमात्माको जान लिया है, उसने उनके उपदेशको जान लिया और यह भी जान लिया कि जीतने योग्य क्या है।

यह सब बातें आचार्यदेवने न्याय-प्रमाणसे कही हैं, यों ही अनाप-शनाप कुछ नहीं कह दिया है, किन्तु साक्षात् भगवान चिदानंद आत्माके स्वस्थानरूप शासनसे स्वलक्ष्यमें तीर्थंकर भगवानकी सही (हस्ताक्षर-प्रमाण) पूर्वक लिखा गया है-कहा गया है, और इसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यकी साक्षी है, यह बात त्रिकालमें भी नहीं बदल सकती।

जैसे शाकके गृद्धिवान पुरुषको शाकसे भिन्न नमकका स्वाद नहीं मालूम होता, और वह शाकको ही खारा मानता है। जो नमक का स्वाद है सो शाकका स्वाद नहीं है, फिर भी वह शाक और नमकके स्वादको भिन्न नहीं जानता, और यह कहता है कि 'शाक खारा।' यदि शाकादिके भेदसे रहित-संयोगसे रहित परमार्थसे नमकके सतत प्रगट खारेपनको देखा जाये तो जो खारेपनका प्रगट स्वाद शाकसे ज्ञात होता था वह खारापन सामान्य नमकका ही स्वाद था, वह शाकका स्वाद नहीं था। नमकको अकेला देखो या शाकके संयोगमें देखो किन्तु वह नित्य एकरूप सामान्य प्रगट खारेरूपमें है, वह (नमक) शाक इत्यादि किसी पर-वस्तुके स्वादरूप-से नहीं है, इसप्रकार जो अलुब्ध है वह जान सकता है। इसप्रकार नमकके दृष्टान्तसे परज्ञेयोंमें लुब्ध हुआ जो अज्ञानी है सो वह अनेक प्रकारके ज्ञेयाकारसे रागमिश्रित भावसे अकेले निरुपाधिक सामान्य-ज्ञानस्वभावको ढँककर और ज्ञेयविशेषके आविर्भावसे (प्रगटपनसे)

ज्ञानको खण्ड-खण्डरूप मानकर निमित्ताधीन आकुलताके स्वादका अनुभव करता है। द्रव्यकर्म, नोकर्म—शरीरादि किसी परवस्तुकी क्रिया तथा पुण्य-पापकी भावना वास्तवमें ज्ञानमें नहीं है, किन्तु वह सब परज्ञेय हैं। अज्ञानी अपने ज्ञानमें ज्ञात होनेवाले ज्ञेयोंसे अपने ज्ञानमें अच्छे-बुरेपनका भेद करता है, और परज्ञेयोंका अपनेमें आरोप करके, अपने ज्ञायकस्वभावको ढंकता है।

ज्ञेयमें सब कुछ आ गया है। देव, गुरु, शास्त्र और साक्षात् सिद्ध भगवान भी परज्ञेय हैं। उन्हें अपना माने और यह माने कि वे मेरा कुछ कर देंगे तो इसप्रकार वह अपनेको पराधीन मानता है। भगवान भी परज्ञेय हैं; उनकी भक्ति, स्तुति, पूजा की, इसलिये मुझे लाभ हुआ है, इसप्रकार जो वास्तवमें मानता है वह भगवानकी नहीं किन्तु अपने रागकी स्तुति करता है। परका अवलम्बन आवश्यक है जो मानकर रागयुक्त ज्ञान करके, परसे गुण-लाभ मानकर जो उसमें अटक गया है सो वास्तवमें अपने ज्ञानस्वभावको न जाननेवाला अज्ञानी है, वह अपने ज्ञानको परज्ञेयरूप करता हुआ अनादिकालसे परवस्तुमें लुब्धभावसे अटक रहा है।

मैं परसे भिन्न हूँ, यह भूलकर [illegible] नहीं है, स्वभावसे अपारमार्थिक भी हुई [illegible] और मात्र पुण्यके लिये ही राग-द्वेषादिरूप क्रियाओं [illegible] उसमें धर्म मानता है वह वास्तवमें अपने ज्ञायकस्वभावको [illegible] ही स्वाद लेता है, ऐसे अपने ज्ञायक [illegible] द्वारा शुभप्रवृत्तिमें [illegible] रागकी ही भक्ति करता है। वह अपने [illegible] ज्ञान-शांति-स्वरूपको नहीं जानता, [illegible] नहीं ले सकता।

अज्ञानीको [illegible] कुलझाको देखकर [illegible]

है और कहता कि अहो ! मैंने बहुत कुछ पुण्य किये हैं, उनकी क्रिया की है इसलिये अंतरंगमें गुण लाभ हुआ होगा, इसप्रकार पराश्रयसे गुणका मूल्य आँकता है, और अपनेको निर्माल्य पराधीन मानता है। वह सामान्य एकाकार प्रगट ज्ञानस्वभावका लक्ष नहीं करता जोकि सर्व परसे भिन्न है, और परसे पृथक्ताके बताये बिना पराश्रयसे अलग नहीं होसकता। "तू स्वतंत्र तत्त्व है इसलिये तेरा कोई सहायक नहीं है"—यह सुनते ही उसे घबराहट होजाती है कि मैं परावलम्बनके विना अकेला कैसे रह सकूँगा ? उसे अपने स्वतंत्र गुणका विश्वास नहीं है इसलिये भीतरसे समाधान नहीं होता। बाहरी मानी हुई प्रवृत्तिको देखे तो समाधान करे, कुछ करूँ तो ठीक हो, अन्यथा प्रमादी मूढ़के समान होजाऊँगा, इसप्रकार अपनी स्वतंत्रतामें शंकित रहता है। मात्र ज्ञान क्या है, और कहाँ स्थिर होना है, इसकी कोई खबर नहीं होती, इसलिये किसी दूसरी वस्तुको लक्ष्यमें लूँ तो विचार कर सकूँगा और गुणकी क्रिया की गई मानी जायेगी। इसप्रकार अनादिकालीन भ्रमसे अपनेको निर्माल्य मानकर स्वतंत्र स्वाश्रयकी श्रद्धाका अनादर करके स्वभावको ढँक देता है। पुण्यसे अपने गुणको टिका रखूँ, और अधिक शुभभाव करूँ तो गुण प्रगट हो—ऐसा मानता है सो भ्रम है।

यह त्रिकाल सत्य है, यदि कठिन मालूम हो तो भी चाहे जब इसे माने विना छुटकारा नहीं है, इसके अतिरिक्त धर्मका कोई दूसरा उपाय नहीं है। यदि कोई इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग माने तो वह उसके घरका बनाया हुआ स्वच्छंद मार्ग है, वीतरागका मार्ग नहीं है। इसमें बहुत गहन विचार विद्यमान हैं। अशुभसे बचनेके लिये शुभरागमें युक्त हो तो शुभरागके निमित्त देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि अनेक हैं किन्तु वे सब परवस्तु हैं और परवस्तुका जो अवलम्बन है सो राग है। परवस्तु और उसका राग रखूँ, शुभरागका अवलम्बन ग्रहण करूँ तो गुण प्रगट हो, इसप्रकार शुभभावसे या निमित्तसे गुणको मानने-

वाला स्वतंत्र सत्स्वभावकी हत्या करनेवाला है। भीतर जो गुण भरे हुए हैं उनकी तथा मैं अखण्ड गुणस्वरूप हूं, निरावलम्ब, निर्विकार और परवस्तुके संयोगसे रहित हूँ, ऐसे स्वभावके बलसे गुण प्रगट होते हैं और वे सब गुण वर्तमानमें स्वाश्रयके बलसे ही स्थिर हैं, इसकी उसे खबर नहीं है। आत्मा अपने अनन्त स्वतंत्र गुणोंसे नित्य भरा हुआ है, यदि वर्तमानमें पूर्ण गुण न हों तो बाहरसे नवीन नहीं आते। बाह्य लक्ष्यसे जो भाव होते हैं वे स्वभावके भाव नहीं हैं; मन, वाणी और देहकी क्रिया-जड़की अवस्था जड़के आधारसे होती है। मूढ़ जीव जड़की अवस्थाके परिवर्तन होनेका अभिमान करता है। देहकी क्रियाके लक्ष्यसे-किसी भी परवस्तुके लक्ष्यसे जो भाव प्रगट होते हैं वे निश्चयसे अधर्मभाव हैं, रागभाव हैं, स्वभावभाव नहीं हैं; क्योंकि वे अविकारी स्वभावसे विरोधीभाव हैं।

पहले श्रद्धामें सत्स्वभावको स्वीकार किये बिना, पूर्ण गुणके परिचयके बिना किसका पुरुषार्थ करेगा? और कहाँ स्थिर होगा? जो यह मानता है कि परलक्ष्यसे गुण प्रगट होते हैं, उसे सदा रागरूप आकुलताका अनुभव होता है। परनिमित्तसे रहित मेरा स्वतंत्र प्रगट ज्ञानस्वभाव नित्य अबन्ध है, उसकी प्रतीतिके बिना आत्माका स्वाद नहीं आता।

जो करने योग्य है और जो स्वाधीनतासे हो सकता है उसे अनंतकालमें न तो कभी माना है और न किया ही है, [illegible] जो करने योग्य नहीं है और जो स्वाधीनता पूर्वक हो ही नहीं सकता ऐसे परका कर्तृत्व मानता है, और अनादिकालसे [illegible] राग-द्वेष-मोहभावको करता आ रहा है।

ज्ञानगुणमें राग नहीं है, और कोई [illegible] नहीं करती; परको लेकर [illegible] नहीं है, [illegible] [illegible] [illegible]

स्वभावमें कोई अन्तर नहीं है, एकरूप ही है; किन्तु ज्ञेयोंमें आसक्त होकर अर्थात् भोग आदिकोंके विषयोंमें अपनी ज्ञान पर्यायकी वृत्तिमें अच्छा-बुरा मानकर उसमें ज्ञान करता है, परद्रव्योंमें राग-द्वेष, आदर-अनादर करता है इसलिये अपने ज्ञानस्वभावका ही विरोध करता है।

आत्मा निरन्तर ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानका स्वभाव पर-विषयमें अच्छे-बुरेरूपसे अटक जाना नहीं है। परपदार्थोंमें अटक जाना वह एक-एक समयकी स्थितिके राग-द्वेष-मोहका लक्षण है, वह विकाररूप होनेसे ज्ञानगुण नहीं है। गुणमें परगुणकी त्रिकाल नास्ति है। ज्ञान तो सामान्य अकेला निर्मल है, उसकी पर्याय भी निर्मल है, उसमें राग नहीं है। इसप्रकार ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंके सामान्य और विशेष रूपसे होनेवाला ज्ञान ज्ञानरूपसे तो त्रिकाल निर्मल ही है, किन्तु अज्ञानी उसमें रागसे अटकनेवाले विकल्पका भेद करता है; यदि स्वाश्रय स्वभावके लक्ष्यसे उस भेदको दूर कर दे तो रागरहित सामान्य एकाकार ज्ञान ज्ञान ही है। जैसे अन्य द्रव्यके संयोगका निषेध करके, मात्र नमकका ही अनुभव किया जाये तो सर्वतः निरंतर एक क्षाररसके कारण नामककी डली मात्र क्षाररूपसे ही स्वादमें आती है, इसीप्रकार परद्रव्यके संयोगका निषेध करके केवल निराकुल शान्त आत्माका ही अनुभव किया जाये तो सर्वतः सर्व गतियोंमें, सर्व क्षेत्रमें, सर्व कालमें और सर्व भावमें अपने एक विज्ञानघन स्वरूपके कारण यह आत्मा स्वयं ही सतत् ज्ञानरूपसे स्वादमें आता है।

शाक-पूड़ी, भजिया इत्यादि भोजनके भेदोंकी अपेक्षासे नमक अधिक खारा है या कम खारा है-ऐसे भेद होते हैं, किन्तु जिसकी दृष्टि भोजन पर नहीं है वह तो नमकको सतत खारेरूपमें प्रत्येक अवस्थामें प्रगटतया जानता है, परसंयोगका निषेध करके नमक नमक रूपसे खारा ही है, अन्यरूप नहीं है; इसप्रकार ज्ञानमें ज्ञेय-मात्रसे परद्रव्यका संयोग है, किन्तु उस संयोगसे ज्ञान भेदरूप

नहीं होता। मुझमें परसंयोग नहीं है, इसप्रकार परज्ञेयोंका निषेध करके-मेरा ज्ञान पराधीन नहीं है, पुण्य-पापके भाव भी पराश्रयसे ही होते हैं, परमार्थसे स्वभावमें विकार है ही नहीं, मैं विकारी अवस्था जितना ही नहीं हूँ, शुभाशुभ विकारका ज्ञायक हूँ उत्पादक नहीं, देहादिक-रागादिक किसी भी परसंयोगका मुझमें अभाव है, और निरंतर अनन्त गुण-स्वभाव ज्ञायकस्वरूपका ही अस्तित्व है, इसप्रकार स्व-परकी अस्ति-नास्ति जानकर त्रिकालस्थायी मात्र ज्ञानस्वभावका अनुभव करना ही सम्यक्ज्ञान है।

पहले श्रद्धामें ऐसी यथार्थ प्रतीति करनेपर अपने अखण्ड सामान्य-ज्ञानके लक्ष्यसे विशेषज्ञानकी आंशिक निर्मलता होनेपर निराकुल एकरूप स्वभावका स्वाद आता है। जिसने परसे भिन्न स्वतंत्र स्वभावको लक्ष्यमें लिया है उसके सर्वज्ञकथित स्वाधीन सुखरूप धर्म होता है; फिर पुरुषार्थकी अशक्तिसे, पराश्रयका लक्ष्य करनेसे होनेवाले क्षणिक विकारभावको वह परज्ञेयरूपसे जानता है, वह क्षणिक अशक्तिका स्वामी-कर्ता नहीं होता। [illegible] होते हैं, उन सभी व्यवहारके भेदोंका निषेध करके मैं [illegible] नित्य ज्ञानस्वभावी हूँ, इसप्रकार यथार्थ श्रद्धा [illegible] प्रथम धर्मकी शांतिको प्रगट करनेका उपाय है [illegible] स्वभावके बलसे स्थिरताको बढ़ाना सो [illegible] यथार्थतया समझकर सर्वज्ञ वीतराग [illegible] -स्वरूपका ही अभ्यास करना चाहिये।

प्रश्नः—क्या पहले गृहस्थाश्रम [illegible] नहीं होसकता है?

उत्तरः—[illegible]

[illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible] है। [illegible]
[illegible] है।
प्रारंभमें [illegible] कारणमें नैगम-
नयसे निरावलम्बी यथार्थताका अंश न हो तो, सम्यग्दर्शनरूप प्रगट कार्यमें प्रगट अंशसे निरावलम्बिता कहांसे आयेगी? सम्यग्दृष्टिकी श्रद्धामें पूर्ण निरावलम्बी सिद्ध परमात्मस्वभाव ही है और उसके बलसे ही पूर्णदशा प्रगट होसकती है।

पराश्रयरहित स्वाधीन आत्मस्वरूपकी अनुभूति ही समस्त जिनशासनकी अनुभूति है।

आत्मामें अवस्थारूपसे कर्मका तथा शरीरादिका सम्बन्ध है, ऐसा जानना कहना सो व्यवहार है। जहांतक परपदार्थ पर लक्ष्य है वहांतक पराधीनतारूप व्यवहार है, वह कहीं आत्माके लिये गुणका कारण नहीं है।

समयसारकी प्रत्येक गाथामें सर्वज्ञ भगवानने जिसप्रकार निश्चय-व्यवहार कहा है उसीप्रकार कहा जाता है। व्यवहारका अर्थ है परलक्ष्यसे भेदका आरोप। उस भेदरूप व्यवहारको सहायक माने, गुणकर माने और उसपर लक्ष्य रखकर उससे धर्म माने तथा पराश्रयरूप व्यवहारको ही जो निश्चय माने उसे वह मान्यता बन्धका कारण होती है।

मैं शुद्ध हूँ, असंग हूँ, ऐसी श्रद्धाके बलसे निर्मलता प्रगट होती है। पहले यथार्थ प्रतीतिमें पराश्रयरूप सर्व भेदका (व्यवहारका) निषेध है, फिर पृथक्त्वमें स्थिरता पर भार देना सो शुभाशुभ बन्धनभावरूप व्यवहारके नाश करनेका उपाय है। निमित्तरूप देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि सर्ववस्तुयें जानने योग्य हैं, अशुद्ध अवस्थामें जो कर्मका संयोग है उसका ज्ञान करानेके लिये व्यवहार है। अकेली वस्तुमें विकार

मैं परसे भिन्न निरावलम्बी वीतरागी स्वभावरूप हूँ; पुण्य-पाप रहित श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता ही मार्ग है, मैं मोक्षमार्गकी अपूर्ण अवस्था जितना नहीं हूँ; ऐसे आत्माके ध्रुवस्वभावकी जिसने श्रद्धा की है उसने निश्चयसे जिनशासनको जाना है। "वीतराग कथित जिनधर्ममें व्रत, तप, बाईस परीषह इत्यादि बहुत कठिन होते हैं; देव, गुरु, शास्त्र, ऐसे होते हैं, उनकी पूजा-भक्ति इसप्रकार होती है" यों बाह्य चिन्होंसे (परवस्तुमें) जिनशासनको मानना सो व्यवहार है, वह वीतराग कथित परमार्थ जिनशासन नहीं है। व्रतादिके भाव शुभराग हैं–आस्रव हैं, उन व्रतादिके बन्धनभावोंमें सच्चा जिनशासन नहीं है।

जिनशासनमें, 'जिन' शब्दका अर्थ जीतना है; और उसमें राग-द्वेष एवं अज्ञानको जीतकर (नष्ट करके) पराश्रयरहित ज्ञान-स्वभाव स्वतंत्र है, इसप्रकार जानना और श्रद्धा करना सो यही राग-द्वेष-मोह और पंचेन्द्रियके विषयोंकी वृत्तिको जीतना है। क्रियाकांडकी बाह्यवृत्तिसे आंतरिक स्वभावकी प्रतीति नहीं होती।

जो सम्यक्दर्शन सहित है उसे भी अशुभरागसे बचनेके लिये पूजा, भक्ति, दान, तप इत्यादि क्रियाकांडरूप जितना बाहरकी ओरका झुकाव है वह कहीं सच्चा जिनशासन नहीं है। शुभराग भी पुण्य-बंधका कारण है, जो अपनेको उसका कर्ता मानता है वह अपने गुणरूप स्वभावको नहीं मानता। ज्ञानीकी दृष्टिमें रागका त्याग है किन्तु वह पूर्ण वीतराग नहीं होसकता तबतक पापरूप अशुभभावमें न जानेके लिये पूजा, भक्ति, व्रत, तप सम्बन्धी पुण्यराग हुए बिना नहीं रहता। किसी भी प्रकारके शुभाशुभरागकी प्रवृत्तिका नाम व्यवहारनय नहीं है। कोई भी विकारीभाव गुणकारी नहीं है, किन्तु वह विरोधीभाव है, और जितनी हद तक स्वलक्ष्यमें टिका रहे उतना निर्मलभाव है; इसे जानना इसका नाम व्यवहारनय है। शुभाशुभ राग या मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिको जो जिनशासन या मोक्षमार्गका साधन माने अथवा मनवाये उसे वीतरागके उपदेशकी–स्वतंत्र

स्वभावकी खबर नहीं है। शुभरागसे ही धर्म नहीं होता। मात्र शुभराग चाहे जैसा हो तथापि वह व्यवहारनयसे-उपचारसे भी धर्म नहीं है।

लोगोंको यथार्थ धर्मका स्वरूप समझमें न आये इसलिये क्या अधर्मको धर्म माना या मनवाया जासकता है? 'इससमय समझमें नहीं आसकता' इसप्रकार निषेधकारक मिथ्याशल्यको दूर कर देना चाहिये। जिसे परमार्थ जिनदर्शनकी खबर नहीं है उसे व्यवहारकी भी सच्ची श्रद्धा नहीं होती, इसलिये उसके द्वारा माने गये या किये गये व्रत, तप, पूजा, भक्ति इत्यादि यथार्थ नहीं होते। पापसे बचनेके लिये शुभभाव करे तो पुण्यबन्ध होता है, इसका कौन निषेध करता है? किन्तु यदि उस पुण्यकी श्रद्धा करे, उसे अपने स्वरूपमें माने और यह माने कि उसके अवलम्बनके बिना पुरुषार्थ उदित नहीं होता-गुण प्रगट नहीं होता तो वह महा मिथ्यादृष्टि है, वह स्वाधीन [illegible] स्वभावकी प्रतिसमय हत्या करनेवाला है। यदि [illegible] सत्यासत्यका निर्णय करे, किन्तु [illegible] नहीं हो सकती।

सम्यक्दर्शन होनेसे पूर्व [illegible] इत्यादिके शुभभाव करता अवश्य है [illegible] उससे सम्यक्दर्शन होता है या [illegible] शुभभाव करता चला आरहा है [illegible] परिभ्रमण कर रहा है? लोगोंको [illegible] प्रतीत होते हैं इसलिये [illegible] स्वभावके अपूर्व पवित्र गुण प्रगट करता है [illegible] लौकिक नीतिकी भावना तो होती ही है [illegible] [illegible] होता ही है, उसके बिना सम्यग्दर्शनकी [illegible] नहीं होता है। यहाँ यह नहीं कहते हैं [illegible]

मिलना और अलग होना पुद्गलका स्वभाव ही है, और उसी क्रियाके अनुसार निमित्त (जीव इत्यादि) उसके कारणसे उपस्थित होते हैं।

देहके संयोगमें रहनेवाला और देहसे भिन्न आत्मा सदा अरूपी ज्ञानस्वभाव है। अनादिकालसे देहके संयोगमें रहनेपर भी कभी एक अंशमात्र भी चैतन्यस्वभाव मिटकर जड़रूप नहीं हुआ है और न जड़के साथ एकमेक ही हुआ है। वह जड़से सदा भिन्न है इसलिये जड़की क्रिया नहीं कर सकता। जिसने यह माना है कि मैं देहादिक जड़का कुछ कर सकता हूँ, उसने अनन्त पर पदार्थोंका कर्तृत्व स्वीकार किया है, अर्थात् अनन्त परवस्तुओंके साथ अपना सम्बन्ध मान रखा है, और इसप्रकार अपनेको और परको पराधीन माना है। बाह्यमें अपनी अनुकूलता-प्रतिकूलता मानकर उसमें निरंतर राग-द्वेष किया करता है, और राग-द्वेषको भी अपना मानता है-करने योग्य मानता है, और प्रगट या अप्रगटरूपसे अनन्त कषाय किया करता है, इसलिये एकान्त दुःखी है। मैं परका कुछ कर सकता हूँ, ऐसी मान्यता हो और फिर भी परमें अनासक्त रह सके—इसप्रकार परस्पर विरोधी दो बातें एकसाथ नहीं बन सकतीं।

पराधीन (निमित्त पर) दृष्टि रखने वाला जीव परका कर्तृत्व माने बिना नहीं रहता। भगवानकी स्तुति मैंने की है ऐसा माना कि वहाँ वाणीका कर्ता होगया, तथा शुभरागका स्वामी होकर उसे करने योग्य मान लिया। परमें एकाकार हुआ है इसलिये परका स्वामित्व और उसके कारणसे आकुलता होती है, जिसका वह वेदन करता है। अज्ञानी चाहे जैसी बाह्य क्रिया करे, उसमें अज्ञानता विद्यमान ही है। अज्ञानी सच बोले फिर भी वह उसमें-वाणी मेरे द्वारा बोली गई है इसप्रकार जड़की अवस्थाका स्वामित्व मानता है। मुझसे दूसरेको ज्ञान हुआ है, अथवा दूसरेने मुझे ज्ञान कराया है—ऐसा माननेसे वह जड़ शब्दोंका स्वामी होता है और ज्ञानको पराधीन

मानता है, वह असत्यका ही सेवन करता है। यदि पहला घड़ा उल्टा रख दिया जाता है तो फिर उसके बाद उसपर रखे जाने वाले सभी घड़े उल्टे ही रखे जाते हैं; इसीप्रकार जिसकी प्रथम श्रद्धा ही उल्टी होती है उसका ज्ञान और चारित्र दोनों उल्टे होते हैं।

जबतक जीव स्वतंत्र स्वभावको नहीं समझता तबतक उसे यह सब कठिन मालूम होगा। अज्ञानता कहीं कोई बचाव नहीं है। शरीर और इन्द्रियोंकी सहायतासे मैंने इतने कार्य किये हैं, यों अनेकप्रकार-से परका कर्तृत्व मानकर जिसने रागमिश्रित भावको अपना माना है, उसने अपने स्वभावको ही दोषरूप माना है। गुणरूप स्वभावमेंसे दोष नहीं आता किन्तु दोषमेंसे दोष आता है। पराश्रयकी श्रद्धाको छोड़कर स्वतंत्र स्वभावको जाननेके बाद वर्त-मान अवस्थामें पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण पराश्रयमें [illegible] है, उसे ज्ञानी जानता है, किन्तु उसमें वह परमार्थसे [illegible] या कर्तृत्व नहीं मानता; वह अवस्थाके [illegible] परमार्थ-दृष्टिमें स्वीकार नहीं करता, किन्तु [illegible] करता है।

मात्र स्वभावका ही आश्रय ले तो [illegible] आता। कोई जीव अपनी चैतन्य [illegible] करनेको समर्थ नहीं है। मात्र पुण्य-पापके [illegible] से कर सकता है; किन्तु परमें कुछ भी [illegible] ज्ञानी कोई समर्थ नहीं है। इसप्रकार [illegible] और परसे अकर्तृत्व जानकर [illegible] वह लगाये तो पुरुषार्थके अनुसार [illegible] पूर्णताकी प्राप्ति कर सकता है।

भावार्थ—यहाँ ज्ञानकी अनुभूति [illegible] मात्र ज्ञानकी अनुभूति कहा गया है। [illegible] जिनशासनके विषयमें ही [illegible] है।

दोनोंमें मात्र अन्तर आजाता है। शुभाशुभ वृत्ति या देव, गुरु, शास्त्र और साक्षात् जिन भगवान भी ज्ञेय हैं। वे मात्र ज्ञान-स्वभावसे आत्मामें ज्ञात होते हैं, क्योंकि वे सब आत्मामें जानने योग्य हैं। वे आत्माकी वस्तु नहीं हैं इसलिये आत्माके लिये सहायक नहीं हो सकते। ऐसी स्वतंत्र वस्तुकी जिसे खबर नहीं है वह परज्ञेयोंमें—देव, गुरु, शास्त्र इत्यादिमें तथा पुण्यादिमें लक्ष्य रखता है इसलिये उसे पराश्रयकी श्रद्धा है, जोकि मिथ्या श्रद्धा है। ज्ञानीका लक्ष्य निजमें है इसलिये वहाँ पराश्रयको स्थान नहीं है। इसप्रकार दोनोंके लक्ष्यमें अन्तर है। वस्तु तो ज्योंकी त्यों नित्य ही है। अज्ञानी जीव बाह्य पर लक्ष्य रखता है इसलिये यदि बाह्यमें उसकी मान्यतानुसार प्रवृत्ति दिखाई देती है तो वह संतोष मान लेता है कि चलो, यह मेरे द्वारा हुआ है। यदि शरीर स्वतः अनुकूल रहता है तो उसमें सुख मानकर स्वयं ही देहकी अवस्थाका कर्ता बनकर देहपर अपना स्वामित्व मानता है; तथा मैंने उपदेश सुना, मैंने पूजा की, मैंने मूर्तिके दर्शन किये, इसप्रकार परलक्ष्य करता है, जोकि सब रागका विषय है; वीतराग स्वभावके प्रगट करनेमें वह लाभकारक नहीं है, किन्तु अज्ञानी ऐसा नहीं मान सकता।

जिनशासन किसी बाह्यवस्तुमें नहीं है, कोई सम्प्रदाय जिन-शासन नहीं है, किन्तु पर-निमित्तके भेदसे रहित, निरावलम्बी आत्मामें और पराश्रयरहित श्रद्धा, ज्ञान एवं स्थिरतामें सच्चा जिनशासन है।

बाह्यमें शुभाशुभभावोंके अनुसार प्रवृत्ति देखकर मानों मैं उसरूप हो गया हूँ, इसप्रकार अपने ज्ञानमें जानने योग्य जो देहादिकी प्रवृत्ति है उसका जो जीव अपनेको कर्ता मान लेता है वह परको अपना मानता है, तथा परवस्तुमें अच्छे बुरेका भेद करके ज्ञानमें अनेकत्व-को मानता है, सो वह अज्ञानी है। किन्तु किसी भी ज्ञेयमें अच्छा-बुरा करनेका मेरे ज्ञानका स्वभाव नहीं है, ऐसा जाननेवाला ज्ञानी

समस्त परज्ञेयोंसे भिन्न, ज्ञायक स्वरूपका ही स्वाद लेता है, वह ज्ञेयमें नहीं अटकता।

अज्ञानीको सत्य-असत्यके भेदकी खबर नहीं होती, वह ज्ञेयको और ज्ञानको एक मान लेता है। यदि वह कभी यथार्थ सत्समागममें आया हो तभी तो वह धर्मको कुछ जान सकेगा? कोर्ट-कचहरीमें भी अजान व्यक्तिको जाते हुए डर लगता है, किन्तु सदा परिचितोंको कोई भय नहीं मालूम होता। इसीप्रकार जिसने कभी तत्त्वकी बात ही नहीं सुनी, कभी परिचय प्राप्त नहीं किया उसे यह सब कठिन मालूम होता है, किन्तु भाई! यह तो ऐसी स्वतंत्रताकी बात है कि जिससे जन्म-मरणके अनन्त दुःख दूर होसकते हैं। परको अपना बनाना महँगा होता है–अशक्य है, किन्तु मैं परसे भिन्न हूँ, अविकारी हूँ, इसप्रकार स्वभावकी श्रद्धा करना सस्ता है सरल है और सुशक्य है।

चाहे जैसा घोर अंधकार हो किन्तु [illegible] उपाय प्रकाशकी किरण है। अन्य किसी प्रकारसे [illegible] इत्यादिसे अन्धकार दूर नहीं होसकता। [illegible] चिमनीमें सारे कमरेका अन्धकार दूर [illegible] पहले ऐसी श्रद्धा करे तो दियासलाईको [illegible] और प्रकाशकी उत्पत्ति कर सकता है, [illegible] भी अन्धकारको दूर करनेके [illegible] भरा हुआ है उसकी श्रद्धा करो! [illegible] रूप नहीं है, इसमें कोई [illegible] प्राप्त नहीं होता, ऐसी [illegible] ऐसा कहे कि यह [illegible]

सर्वप्रथम श्रद्धा आवश्यक है। यदि श्रद्धा न करे और माने कि मैं पामर हूं, राग-द्वेषसे दब गया हूं, जड़कर्मोंका घनिष्ठ बन्ध है और मैं अपनेमें पूर्ण केवलज्ञानका बल कैसे मानूं? तो आत्माके गुण बाह्य प्रवृत्तिसे या परके आश्रयसे कभी प्रगट नहीं होंगे। जैसे दियासलाईको साधारणतया स्पर्श करनेसे उसमें गर्मी या प्रकाश नहीं मालूम होता, किन्तु जब उसे योग्यविधिसे घिसते हैं तब भीतर रहनेवाली अग्नि और प्रकाश प्रगट होता है; इसीप्रकार निरावलम्ब निर्मल ज्ञानस्वभावको पहिचानकर उसमें एकाग्र हो तो बाहरके अन्य कारणोंके बिना ही स्वभावमेंसे गुण प्रगट होते हैं। अज्ञानी इन्द्रियाधीन ज्ञानसे, रागसे तथा पर विषयोंसे अपने ज्ञानको अनेकप्रकारसे खण्डरूप करके, ज्ञेयाधीन होकर कर्तृत्व-ममत्वरूप आकुलताका ही वेदन करता है; और जो ज्ञानी हैं वे परज्ञेयोंमें आसक्त नहीं होते इसलिये जड़की क्रियामें या रागादिक किसी भी ज्ञेयपदार्थमें ज्ञेयपदार्थके आधारसे, अपने ज्ञानानुभवको नहीं मानते। मेरा ज्ञान किसी निमित्तके आधीन नहीं है, किसी रागादिक ज्ञेयके साथ मेरा ज्ञान एकमेक नहीं होगया है, ऐसा माननेसे ज्ञानी सर्व ज्ञेयोंसे भिन्न एकाकार स्वतंत्र ज्ञानस्वभावका ही निराकुल आस्वाद लेता है।

अवस्थामें जितना निरुपाधिक ज्ञानगुण प्रगट होता है वह आत्मा ही है, और जो आत्मा है सो ही ज्ञान है, दोनों वस्तुएँ

पृथक् नहीं है । इसप्रकार गुण-गुणीकी अभिन्नता लक्ष्यमें आनेपर मैं नित्य अभेद ज्ञानस्वरूप पूर्ण गुणोंसे भरा हुआ हूँ, और सर्व पर-द्रव्योंसे भिन्न, अपने गुणोंमें और गुणोंकी सर्व पर्यायोंमें एकरूप निश्चल हूँ; और पर निमित्ताधीनतासे उत्पन्न होने वाले रागादिक भावोंसे भिन्न अपना निर्मल स्वरूप-उसका एकाकार अनुभव अर्थात् स्वाश्रित सतत ज्ञानस्वभावका अनुभव (एकाग्रता) आत्माका ही अनुभव है । और ज्ञानस्वभावका अनुभव अंशतः निर्मल भावश्रुतज्ञानरूप जिनशासनका निश्चय अनुभव है ।

शुद्धनयके द्वारा दृष्टिमें रागका निषेध करके स्वभावपर दृष्टि करनेपर उसमें परसंयोगका या रागादिक पराश्रयका अनुभव नहीं होता, किन्तु त्रिकालके सर्वज्ञ देवोंके द्वारा कथित और स्वयं अनुभूत शुद्धात्माका अनुभव है । निश्चयनयसे-शुद्धदृष्टिसे उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है । जिसने ऐसा जाना उसने अपने स्वरूपको जान लिया ।

जिसे अपना हित करना है उसे प्रथम [illegible] स्व-भावकी श्रद्धा करनी होगी । मैं नित्य गुणरूप हूँ, [illegible] (शुभाशुभ वृत्ति) मेरा स्वरूप नहीं है किन्तु मैं उसका [illegible] असंग हूँ, ऐसे स्वभावके बलसे सर्व शुभाशुभ [illegible] करके, निर्मल स्वभाव प्रगट किया जासकता है ।

धर्मका अर्थ क्या है ? सो बतलाते हैं:—

(१) कर्मके निमित्ताधीन होनेसे (राग-द्वेष [illegible]) बंधनभावकी जो वृत्ति होती है सो मेरा स्वरूप नहीं है । [illegible] बलसे जो पराश्रयमें गिरनेसे बचाकर [illegible]

(२) मैं पराश्रित नहीं हूँ, निरावलम्बी [illegible] गंदसे पूर्ण हूँ; ऐसे निजस्वभावके [illegible] चारित्ररूप निर्मलभावोंको धारण कर [illegible]

निर्मल श्रद्धा, ज्ञान और चारित्रकी [illegible]

(पृथ्वी)

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहि-
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा-
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालम्बते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ॥ १४ ॥

अर्थः—आचार्यदेव कहते हैं कि वह उत्कृष्ट तेज-प्रकाश हमें प्राप्त हो जो तेज सदा चैतन्यके परिणमनसे भरा हुआ है। जैसे नमककी डली क्षाररससे सर्वथा परिपूर्ण है, उसीप्रकार जो तेज एक ज्ञानरसस्वरूप पर अवलम्बित है, और जो अखण्डित है-ज्ञेयोंके आकारसे खण्डित नहीं होता, जो अनाकुल है-जिसमें कर्मके निमित्तसे होने वाले रागादिसे उत्पन्न आकुलता नहीं है, जो अविनाशीरूपसे अंतरंगमें तो चैतन्यभावसे देदीप्यमान अनुभवमें आता है और बाह्यमें वचन कायकी क्रियासे प्रगट देदीप्यमान होता है-जाननेमें आता है, जो स्वभावसे ही हुआ है-जिसे किसीने नहीं रचा और सदा जिसका विलास उदयरूप है, जो एकरूप प्रतिभासमान है, वही उत्कृष्ट आत्म-स्वभाव हमें प्राप्त हो कि जिसका तेज सदा चैतन्य परिणमनसे परिपूर्ण है। जो वहिर्मुख तुच्छ पराश्रित वृत्ति उद्भूत होती है उसरूप न होनेवाला जो अविकारी चैतन्यस्वभाव है वही उत्कृष्ट भाव हमें प्राप्त हो! ऐसी भावना आचार्यदेवने इस कलशमें व्यक्त की है।

देहादि या रागादिका कोई सम्बन्ध आत्मामें भरा हुआ नहीं है। कर्मके निमित्ताधीन योगसे होनेवाली शुभाशुभ वृत्ति, नवीन

विकारभाव करनेसे होती है, वह स्वभावमें नहीं है। विकारसे सदा भिन्न और अपने निर्मल गुण-पर्यायसे त्रिकाल अभिन्न सदा जागृतरूपसे मैं नित्य, निजाकारमें चैतन्यके परिणमनसे भरा हुआ हूँ, और विकारका नाशक हूँ-ऐसा ज्ञानी जानते हैं। स्वाश्रयदृष्टिमें विकार है ही नहीं।

जैसे नमकका स्वभाव प्रगटरूपसे सतत खारेपनको ही बताता है, इसीप्रकार चैतन्यका निरावलम्बी स्वभाव प्रगटरूपसे सतत निरुपा-धिक ज्ञातृत्वको ही बताता है। वह पुण्य-पापमें रुकना या परा-श्रयताको नहीं बतलाता, क्योंकि स्वभावमें पराश्रितता है ही नहीं।

इसप्रकार धर्मी जीवकी भावना है, उसमें कर्तृत्वका नाश करने-वाली निर्मल श्रद्धा, ज्ञान और स्वरूपकी रमणता बढ़ानेकी भावना है, इसमें भूमिकानुसार अनन्त-पुरुषार्थ आजाता है।

यदि कोई कहे कि-श्रद्धा ज्ञान करके [illegible] उसकी बातें करनेसे क्या धर्म हो जाता है? [illegible] सच्चे तत्त्वका-स्वाधीन स्वभावका [illegible] नहीं है कि स्वभावमें ही धर्म भरा हुआ [illegible] है कि कुछ बाहर करना चाहिये। [illegible] विरोध है। यथार्थ स्वरूप समझे [illegible] वह ऐसा बलवान वस्तुका अनादर करता है [illegible] सकता है? हम तो कुछ मानते हैं [illegible] भीतर ही भरा हुआ है; वह तो [illegible] है!' जो बाह्य क्रियासे धर्म [illegible] व्यवहारसे शुभाशुभको भी [illegible]

ज्ञानी पुरुषोंने [illegible]

[illegible]

अर्थात् पुण्य-पापको [illegible]

रहित, परके कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित मात्र चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्माका ही अवलम्बन करता है।

शंकाः—आत्माको किसीका आधार है या नहीं? या मात्र निरावलम्बी ही कहते हो?

समाधानः—स्वरूपसे स्वयं नित्य है, पररूपसे कभी नहीं है; इसलिये पराश्रयकी मान्यताको छोड़कर चैतन्यस्वभावरूप अपार उत्कृष्ट सामर्थ्यका स्वामी होनेसे स्वाश्रयसे ही शोभाको प्राप्त होने वाली एकरूप ज्ञानकलाका ही अवलम्बन करता है। ज्ञानतेज सदा अखण्डित है, ज्ञेयोंके भेदरूप नहीं है, इन्द्रियोंके खण्ड जितना नहीं है, परविषयरूप नहीं है। मेरे ज्ञानमें जो शुभाशुभ रागकी भावना ज्ञात होती है सो वह मुझसे भिन्न है, उस अनेकको जानते हुए भी नित्य एकरूप ज्ञानस्वभावमें अनेकता नहीं आती; क्योंकि ज्ञाता-स्वभावमें परमें अटकना नहीं होता।

स्वाश्रिततामें शंका करनेवाला परमें अच्छे-बुरेपनकी कल्पना करके, उसमें राग-द्वेष करके आकुलताका वेदन करता है। शुद्धदृष्टिसे देखा जाये तो ज्ञानी या अज्ञानी प्रत्येकके स्वभावमेंसे तो निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रकी ही पर्याय प्रगट होती है। स्वभावकी शुद्ध पर्याय नित्य एकरूप प्रवाहित रहती है, किन्तु अज्ञानीको नित्य स्वाश्रयस्वभावकी प्रतीति नहीं है इसलिये वह प्रतिसमय नवीन राग-द्वेष-मोहरूप विकार करता आता है। वह पराश्रय करके रागमें युक्त होता है, इसलिये उसे शुद्धपर्यायका अनुभव नहीं होता। जैसे गुड़की मिठास ही गुड़ है, और गुड़ ही मिठास है, दोनों अलग नहीं हैं; इसीप्रकार आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञान ही आत्मा है; ज्ञान आत्मासे कदापि अलग नहीं है। ज्ञानस्वभावमें राग-द्वेष या मोह नहीं है; मात्र जानना ही है।

वास्तवमें आत्मा सदा स्वतंत्र पूर्ण गुणस्वरूप है। मात्र दृष्टिकी भूलसे संसार है और भूलके दूर होनेसे मुक्ति होती है। अशुद्ध-पर्यायरूप पराश्रित व्यवहारको पकड़कर जीव पर्यायमें अटक रहा

नहीं कर सकता [illegible] उसके निर्णयानुसार अनुमान हो सकता है। ज्ञानीको निर्विकल्प स्वभाव अनुभूत होगया है, आत्माकी निराकुलता प्रतीत हुई है, इसलिये ज्ञानीमें और अज्ञानीमें अन्तर तथा बाह्यमें बहुत बड़ा अंतर दिखाई देता है, पर यह व्यवहारकी अपेक्षासे कथन है। किसीको सत्की प्रतीति न हो किन्तु आसनमें स्थिर होकर ध्यानमें बैठता है—प्रायः ऐसा देखा जाता है; मैं परका कुछ करता हूँ, और पर-पदार्थ मेरा कुछ कर सकते हैं, इसप्रकार तीनोंकालके अनन्त पर-पदार्थोंके प्रति कर्तृत्व-ममत्व मानता है, इसलिये उसे अनन्त राग-द्वेष हुए बिना नहीं रहता। इसप्रकार बाहरसे ध्यानमग्न दिखाई दे किन्तु भीतर अनेक प्रकारके मिथ्या अभिप्रायोंकी शल्य रहती है। इस अपेक्षासे बाह्यप्रवृत्ति पर आंतरिक गुणोंका आधार नहीं है। अज्ञानी बाहरसे शांत बैठा हुआ दिखाई देता हो किन्तु अंतरंगमें ऐसे विचार उठते हैं कि यदि मैं कुछ करूँ और कुछ बोलूं तो दूसरोंसे अधिक महान होजाऊँ। और ज्ञानी बाह्यमें राज्य करता हो फिर भी उसके अंतरंगमें ऐसे विचार होते हैं कि मैं बाह्य लक्ष्यसे रहित स्वाश्रय स्वभावमें स्थिर होजाऊँ तो उसीमें मेरी महत्ता है। ज्ञानीको अज्ञानीकी भांति अधैर्य नहीं होता। यदि इकलौता जवान बेटा बीमार होगया हो तो ज्ञानी उसकी औषधि कराता है, उपचार करता है, सेवा करता है, किन्तु उसके अंतरंगमें आकुलता नहीं होती और वह अपने मनको समाधान करके यह सोचता है कि जो होना होगा सो होगा। यदि पुत्रका मरण होजाये तो कभी ऐसा भी होता है कि ज्ञानी रोता है और अज्ञानी नहीं रोता; किन्तु इसप्रकार बाह्य चेष्टासे ज्ञानी और अज्ञानीकी परीक्षा नहीं होसकती।

अब आगामी सोलहवीं गाथा की सूचना रूप कलश कहते हैं:—

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥ १५ ॥

स्थिरताकालको नष्ट करता है। इसप्रकार पर आनेवाली बहिर्मुख दृष्टिका त्याग करके उसका स्वभावके बलसे निरोध करके अब अपने स्वभावमें स्थिर हो जा।

दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधकभाव मोक्षमार्ग है और साधुओंको (इसमें श्रावक सम्यग्दृष्टि आदि सभी ज्ञानियोंका समावेश है) उनका सेवन करना चाहिये, यह बात आगेकी गाथामें कही जायेगी।

जैसे पिता अपने बड़े पुत्रसे घर-गृहस्थी और व्यापार सम्बन्धी बातें करता है, किन्तु वे मात्र उसीके लिये नहीं होतीं, मगर उसके सभी पुत्रोंके लिये होती है; इसीप्रकार सर्वज्ञ भगवानकी बातें उनके उत्तराधिकारी निर्ग्रंथ साधु, आर्यिका, श्रावक और श्राविका-चारों तीर्थके लिये हैं। दर्शन, ज्ञान और चारित्र मुख्यतः साधुओंको सेवन करनेके उद्देश्यसे कहा है, उसीप्रकार उपरोक्त चारों वर्गके लिये भी समझना चाहिये। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र तीनों एक आत्मामें ही होते हैं, तीन प्रकार अलग नहीं हैं। उन तीनों गुणोंकी अवस्थाका विचार करना सो राग है; किन्तु रागको दूर करनेका उपाय तो स्वाश्रय स्वभावकी श्रद्धाके बलसे स्वरूपमें एकाग्र होना ही है।

पुण्य-पापकी भावना जितना ही आत्मा नहीं है। पराश्रयसे-मनके अवलम्बनसे जो कुछ शुभाशुभभाव होते हैं सो सब विकारी भाव हैं, उनके आश्रयसे कभी भी आत्माकी सुख-शांति प्रगट नहीं होती, और उनके द्वारा सम्यक्दर्शन भी नहीं होसकता। यदि पुण्य-पापकी भावनासे रहित, निर्मल ज्ञायकस्वभावको यथार्थ श्रद्धाके द्वारा लक्ष्यमें लिया जाये तो ही स्वभावमें जो सुख-शांति भरी हुई है वह अवस्थामें प्रगट होती है।

जगतका प्रत्येक प्राणी स्वतंत्र-सुखी होना चाहता है, और प्रत्येक प्राणीने अपना सुख कहीं परपदार्थमें कल्पित कर रखा है। किन्तु पराश्रयसे कभी सुख नहीं मिलता, स्वतंत्रस्वभावकी प्रतीतिके बिना

मुक्तिका उपाय भी प्रगट नहीं होता। शुभ या अशुभ जो भाव होते हैं वह सब पराश्रयसे होनेवाला विकारभाव है, अधर्मभाव है, बन्धनभाव है। वह स्वाश्रयस्वभावमें कोई सहायता नहीं करता; इसप्रकार यदि स्वाश्रयस्वभावको माने तो उसके लिये उपाय करे। पराश्रयरूप अवस्थाका लक्ष्य छोड़कर, मनके योगसे किंचित् पृथक् होकर निजसे लक्ष्य किया कि फिर उसे दृष्टिमें संसार है ही नहीं।

यहाँ तो एक ही बात है—या तो संसार-परिभ्रमण या सिद्धत्व; —दोनों विपक्ष हैं, एकसाथ दोनों नहीं होसकते।

प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है। स्वतंत्र वस्तुको कोई पर—मन, वचन, कायकी क्रिया; देव, गुरु, शास्त्र, बाह्य अनुकूलता या प्रतिकूलता—लाभ या हानि किंचित्मात्र भी नहीं कर सकता। उनके आश्रयसे लाभ नहीं किन्तु बंधन है। इसलिये पराश्रयका त्याग करके स्वाश्रयस्वभावको लक्ष्यमें लेना ही प्रथम श्रद्धाका विषय है।

एक सूक्ष्म रजकण भी अपनी अनन्त शक्तिसे [illegible] वस्तु है, और अपने आधारसे [illegible] अवस्थाको बदलता रहता है। [illegible] जिसके साथ है फिर भी उसके गुण [illegible] परसे भिन्न ही है, उसका किसी दूसरे [illegible] कोई सम्बन्ध नहीं है।

अज्ञानभावको [illegible] जाता है—पराश्रयकी और [illegible] शुभभाव करता है [illegible] करके। जो भाव है सो सब [illegible] किन्तु एक समयमात्रकी [illegible] है। [illegible]

[illegible]

है, किन्तु आत्मपरिणामोंकी स्थिरता सामायिक है। अशुभसे बचनेके लिये शुभभाव करनेका निषेध नहीं है, किन्तु उसीको धर्म मान लिया जाये तो उसका निषेध है। जिसे ऊपर चढ़नेका उपदेश दे रहे हैं, उसे व्यवहारसे भी नीचे गिरनेको कैसे कहा जायेगा?

जैसे देवदत्तका ज्ञान, श्रद्धान और चारित्र देवदत्तके स्वभावका उल्लंघन नहीं करते, इसलिये वह देवदत्तके स्वरूपसे है, अन्यरूपसे नहीं है; इसीप्रकार आत्मामें भी परसे भिन्न, निरावलम्बी पूर्ण शुद्ध हूँ–ऐसी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसके अनुसार आचरण आत्माके स्वभावका उल्लंघन नहीं करते, अर्थात् उसमेंसे कोई गुण दूसरेका आश्रय नहीं लेता, इसलिये वह नित्य शुद्ध आत्माके आश्रय पर ही अवलम्बित है, अतः वे भी आत्मा ही हैं अन्य वस्तु नहीं।

यहाँ यह निश्चय हुआ कि पूर्ण निर्मल साध्यभाव भी आत्मा स्वयं है और निर्मल दर्शन ज्ञान चारित्ररूप साधकभाव-मोक्षमार्ग भी स्वयं ही

निमित्तके भेदसे रहित शुद्धात्माको सर्वप्रथम भलीभांति जानना
चाहिये। उसे जाने बिना अन्य जो कुछ जानना है सो सब व्यर्थ है।

निश्चयसे, जैसे धनका इच्छुक कोई पुरुष अत्यंत उद्यमपूर्वक
राजाको जानता है कि यह राजा है। यहाँ धनके इच्छुकको ही
लिया गया है, सभी धनके इच्छुक नहीं होते; कोई अन्य वस्तुओंके
इच्छुक भी हैं; जैसे-कोई स्त्रीका इच्छुक होता है, कोई [illegible]
इच्छुक होता है-इसप्रकार प्रत्येकमें एक वृत्ति मुख्यतासे होती है।
चौबीस घन्टेमेंसे चार घन्टे भी शांतिसे नहीं सो पाते और [illegible]
रुपये-पैसेकी वृत्ति लेकर उसीमें लगे रहते हैं।

यहाँ धनका इच्छुक पहले भिन्न लक्षणसे [illegible]
जाने कि यह सत्ताधारी, राज्यलक्ष्मीका स्वामी [illegible]
उसके अतिरिक्त दूसरा कोई राजा नहीं है, इसकी [illegible]
ही लक्ष्मीकी प्राप्ति होगी-इसप्रकार श्रद्धा करता है, [illegible]
अनुचरण करता है, अर्थात् उसीके अनुकूल [illegible]
उसीकी हाँ में हाँ और ना में ना [illegible]
अनुसार ही प्रवृत्ति करता है, उसकी आज्ञा [illegible]
प्रसन्न करनेका प्रयत्न करता है। इसीप्रकार [illegible]
आत्माकी पूर्ण निर्मल श्रद्धा [illegible]
आत्माकी ही सेवा करनी चाहिये।

[illegible]

पुण्यके संयोगकी इच्छा करता है। कोई देवपदका इच्छुक है तो कोई राजपदका आकांक्षी है, कोई मानार्थी है तो कोई रागार्थी है; इसप्रकार प्रत्येक पुरुष अपनी वृत्तिको पुष्ट करनेका इच्छुक होता है, किन्तु मोक्षमार्गमें ऐसा कुछ नहीं है। जिसे आत्माकी स्वतंत्रता, निर्मलता और परिपूर्णता चाहिये है उसे सर्वप्रथम आत्माको ही जानना चाहिये-अन्य कुछ नहीं। जबतक यह नहीं जान लेता कि स्वयं कौन है, तबतक देव गुरु शास्त्रको भलीभाँति नहीं जाना जासकता। वीतरागी देव-गुरु भी आत्मा ही हैं, और जो आत्माकी स्वतंत्र वीतरागताको बतलाते हैं वही सर्वज्ञ वीतरागकथित शास्त्र हैं।

प्रथम आत्माको जानना चाहिये-ऐसा कहा है, सो उसमें अखण्ड स्वाधीन वस्तुस्वरूपको लिया है। द्रव्य और गुण त्रिकाल हैं, वे नवीन उत्पन्न नहीं होते, गुण त्रिकाल एकरूप अखण्ड है। वर्तमान अवस्थामें पर निमित्तके अवलम्बनसे भेदरूप विकार और अपूर्णता दिखाई देती है, सो वह स्वभावमें नहीं है। जो विकारी अपूर्ण अवस्था है सो संसार है और निर्विकारी पूर्ण निर्मल अवस्था है सो मोक्ष है;—यह दोनों आत्माकी अवस्थायें हैं। निश्चयसे तो आत्मा एकरूप ही है। पहले उसीकी यथार्थ पहिचान करनी चाहिये और फिर उसीमें स्थिर होना चाहिये स्वानुभवमें लीन होना ही प्रगट आनन्दका उपाय है।

पराश्रयको नष्ट करनेवाला स्वाधीन स्वाश्रयस्वभाव क्या है, उसे अनन्तकालमें भी नहीं पहिचान पाया। दूसरेकी सहायतासे, पराश्रयसे पराधीनताका नाश नहीं होसकता, और स्वाधीनता प्रगट नहीं होसकती। प्रत्येक जीव और अजीव त्रिकालमें परसे भिन्न-स्वतंत्र हैं। कोई अपनी शक्तिमें अपूर्ण नहीं है, इसलिये पराधीन नहीं है। इतना निश्चित् कर ले तो, मैं परका कुछ नहीं करता और परसे मुझे कोई हानि-लाभ नहीं होसकता, इतनी स्वाश्रित श्रद्धामें स्थिर होनेमें भी परसे निवृत्तिरूप अनन्तक्रिया और अनन्तपुरुषार्थ आ जाता है। पराश्रित लक्ष्यसे छूटकर अन्तर्मुख दृष्टि करने पर, इसप्रकार अभेद

गुणका पिंड अपार शक्तिरूपसे हूँ, उसकी प्रतीति पर भार देनेपर निराकुल ज्ञान-शांतिका निःशंक पुरुषार्थ जागृत होता है और स्वरूपमें रुचि तथा सत्‌रूप सावधानी बढ़ती है।

"ज्यां शंका त्यां गण संताप,
ज्ञान तहां शंका नहि स्थाप।"

जो ऐसी शंका करता है कि अरे, मेरा क्या होगा? उसे भगवान आत्माकी यथार्थ श्रद्धा नहीं है। जिसे पुरुषार्थमें सन्देह होता है तथा भवकी शंका रहती है उसे अपने स्वभावकी ही शंका रहती है, उसने वीतरागस्वभावकी शरण ही नहीं ली है। सर्वप्रथम भगवान आत्मा स्वतंत्र है, पूर्ण पवित्र अनन्त सुखरूप है, उसकी प्रतीत कर, पर्यायदृष्टिका भार छोड़कर अखण्डस्वभाव पर भार दे, तो स्वतः विश्वास होगा कि अवश्य एक-दो भवमें पूर्ण होजाऊँगा। गुणोंकी दृढ़ता होने पर निःशंकता होजायेगी कि—मुझमें भय शंका दोष या दुःखका अभाव है, और स्वभावमें [illegible]

अटक जानेके राग (भावकर्म)की मेरे स्वभावमें नास्ति है। ऐसे रागरहित स्वभावकी प्रतीतिके बलसे और स्थिरतारूप चारित्रके बलसे सर्व विकारका नाश ही करूँगा। ऐसी स्वाधीन स्वभावकी दृढ़ता मोक्षका कारण है। यथार्थ स्वरूपको जाने बिना, उसकी श्रद्धा किये बिना, उसमें स्थिर होनेरूप चारित्र किसके बलसे होगा?

कोई कहता है कि 'आत्मा शुद्ध है, उसे मैंने जान लिया है, अब मुझे क्या करना चाहिये?" किन्तु जिसने परसे भिन्न यथार्थ स्वरूपको जान लिया है, उसके यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता कि—अब मुझे क्या करना चाहिये? अथवा मेरा क्या कर्तव्य है? या किस-प्रकार पुरुषार्थ करना चाहिये? स्वभावकी श्रद्धा करके उसका ज्ञान और फिर उसीका एकाग्रतारूपसे अनुभव करना चाहिये, इसमें कोई प्रश्न है ही नहीं।

अखण्ड स्वभावमें अभेद श्रद्धा और [illegible] विकल्पवृत्ति तोड़कर कुछ समयके लिये निर्विकल्प [illegible] सो चारित्र है, और सामान्य [illegible] की जितनी स्थिरताको बना [illegible] सतत प्रवृत्ति है। पहले [illegible] नहीं हुआ जा सकता।

[illegible]

निमित्त होते हैं उन्हें ज्ञानी भलीभांति जानते हैं, किन्तु वे उन्हें सहायक नहीं मानते ।

यह आत्माकी भलाके लिये क्या करना चाहिये, सो विशेषरूपसे समझाते हैं । आत्माके अनुभवमें (जाननेमें) आने पर जो अनेक पर्यायरूप भेदभाव (पराश्रयरूप राग) होते हैं उनके साथ समिश्रता होनेपर भी उसमें सर्वप्रकार भिन्नताका ज्ञान करनेवाला जो ज्ञायकभाव है सो उसमें रागभाव या पराश्रितता नहीं है, किन्तु परसे पृथक्त्वका अनुभव होता है ।

वर्तमान अवस्थामें परनिमित्तमें युक्त होता हुआ विकारीभाव है और स्वभाव त्रिकाल एकरूप है, इसप्रकार दोनोंकी मिश्रता है । इसप्रकार अवस्था और स्वभावको यथावत् जाना जाये तो स्वभावके लक्ष्यसे अवस्थामें जो विकार है सो वह दूर किया जासकता है ।

पानीका सतत प्रवाह चला जारहा हो और उसमें पेशावके (क्षाररूप) प्रवाहका कुछ भाग मिल जाये तो वह वर्तमान समयके लिये ही मिश्र होता है, किन्तु वह क्षाररूप क्षारपनसे है, जलकी मिठासरूपसे नहीं है, और मीठे जलका प्रवाह उसके मूलस्वभावसे स्वच्छ ही है; इसीप्रकार स्वभावके गुणका प्रवाह एकरूपसे है, उसमें पराश्रित शुभाशुभभावका वर्तमान क्षणिक अवस्थामें समिश्रण है; वह मिश्रता एक समयकी अवस्थापर्यंत है, तथापि स्वभावमें निश्चयसे मिश्रता नहीं है ।

आत्मा अनादि-अनंत गुणका पिंड है, उसमें बाहरसे गुण नहीं आते । अखण्डस्वभावकी ओर दृष्टि न करके मैं बाह्योन्मुखरूपसे हूँ, मुझे पराश्रय चाहिये–इत्यादि प्रकारसे अज्ञानी जीव अनादिकालसे परमें एकत्व मान रहा है । उस भ्रांतिरूप पराधीनताकी मान्यताको आत्माकी अपारशक्तिके द्वारा दूर करने पर, नित्य ज्ञायकरूपसे जो जाननेवाला है सो ही मैं हूँ, क्षणिक विकारी या पररूप नहीं हूँ, ऐसे शुद्धस्वभावकी श्रद्धा होती है ।

अपना स्वरूप मान ऐसा भी [illegible] नहीं है, [illegible] भ्रान्ति है। जहाँ भूल है वहीं उसको [illegible] भूल और विकार होजाता है, तथा जहाँ भूल और विकार है वहाँ [illegible] करनेका अधिकारी स्वभाव भीतर भरा हुआ ही है, मात्र उस स्वभाव पर दृष्टि जमाकर अतरङ्ग स्वानुभवमें निःशंकताका अनुभव करनेकी आवश्यकता है। आत्मामें ज्ञातारूप स्वभाव नित्य है, और पूर्ण गुण भी नित्य है। वस्तुकी अवस्था उससे अलग नहीं है तो उसमें दोष कैसे होसकता है? आत्मा गुण-स्वरूप है, उसके ज्ञानादि गुण सदा एकरूप निर्मल हैं, उसकी अवस्था भी निर्मलरूपसे ही होती है, किन्तु मात्र दृष्टिमें भूल है, उसे टालकर यदि स्वभाव पर देखें तो अपनेमें अपनेसे नित्य ज्ञानका ही अनुभव होता है।

ज्ञानगुण त्रिकाल एकरूप रहनेवाला है, वर्तमान विकारी अवस्था-पर्यंत ही नहीं है। स्वलक्ष्यका करनेवाला स्वयं है। अपनी ओर झुकता हूँ–ऐसा निश्चय करनेवाले ज्ञानस्वभावरूप ही मैं हूँ। अवस्थामें राग-का जो भेद होता है वह मैं नहीं हूँ, किन्तु जिस ओर झुकता है वह मैं हूँ; रागदिक–देहादिक परपदार्थ मुझे जाननेवाले नहीं हैं, मुझमें उनकी नास्ति है। जो क्षणिक शुभाशुभ वृत्ति होती है सो मेरा स्वरूप नहीं है; इसप्रकार भेदज्ञानमें प्रवीणतासे ऐसा स्वाश्रित ज्ञातृत्व नित्य ज्ञातारूपसे है सो वही मैं हूँ। जितना ज्ञान है उतना ही मैं हूँ–ऐसी प्रतीति होती है।

विपरीत–पराश्रित दृष्टिके कारण विकारको अपना मानता है किन्तु पराश्रयकी मान्यताको बदलकर जब नित्य गुणस्वरूपको अपना स्वरूप मानता है तब विकाररूप नहीं होता, पराश्रयरूप रुकनेवाला नहीं होता; ऐसे नित्य जागृत स्वरूपको (प्रगट अनुभूति स्वरूपको–ज्ञायकस्वरूपको) अपना मानता है, इसप्रकार स्वसत्ता ज्ञातास्वभावकी निःशंक प्रतीति जिसका लक्षण है–ऐसी नित्य अखण्ड स्वविषय करनेवाली श्रद्धा प्रगट होती है।

अनुभव सहित आत्माका यथार्थ लक्ष हुए विना निःसन्देहरूपसे स्वभावमें स्थिर होनेका पुरुषार्थ नहीं होसकता। किस ओर चलना चाहिये या क्या करना चाहिये, इसप्रकार स्वभावकी दिशासे अनादिकालसे अजान है, इसलिये आत्मामें गुणकी क्रियाकी प्रतीति नहीं है, किन्तु भेदज्ञान होनेके वाद निःशंक श्रद्धा होती है और मुख्य दिशाकी ओर अर्थात् मुख्य ज्ञायकस्वभावी शुद्ध आत्माकी ओर-ज्ञानगुणके अखंड खुले हुए द्वारकी ओर स्वाश्रयके बलसे स्वभावमें स्थिर होनेके लिये निःशंक चला जाता है; पुण्य-पापमें कहीं भी नहीं रुकता। स्वाश्रयकी श्रद्धा होते ही पराश्रयकी ओरका झुकाव छूट जाता है। स्वरूपमें स्थिर होनेरूप जो क्रिया है सो वही यथार्थ चारित्र है।

आत्माका चारित्र तो नित्य है ही, किन्तु यथार्थ श्रद्धाके द्वारा आत्माका ज्ञान करके जो अपनेमें स्थिर होजाता है वह मोक्षदशाको निकट लाता है। इसप्रकार आत्मामें श्रद्धा, ज्ञान और चारित्रके द्वारा साध्य आत्माकी सिद्धि होती है। अज्ञानदशामें जो आचरण परकी ओर करता था वह स्वाश्रयी तत्वकी श्रद्धा होनेके बाद नित्यस्वभावकी ओर आजाता है।

अनुभूतिस्वरूप-ज्ञानमय भगवान आत्मा ज्ञानमात्रका अनुभव करनेवाला है, और आबाल-वृद्ध अर्थात् बालकसे लेकर बूढ़े तक सभी आत्माओंको (जो अनुभव करना चाहते हैं उनको) सदा ज्ञानस्वरूपसे अनुभवमें आता है। आत्मस्वरूप किसीकी समझमें न आये ऐसा नहीं है। देहादिकी क्रियाको, सर्व परपदार्थोंको, और रागादिको जाननेवाला जो ज्ञान है सो उस ज्ञानको करनेवाला स्वयं ही ज्ञानस्वरूप है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ-पररूप नहीं हूँ, यह भूलकर अज्ञानीने परपदार्थ पर दृष्टि जमा रखी है इसलिये वह यह मानता है कि मैं परको ही जानता हूँ, किन्तु निश्चयसे तो वह भी अपनी स्व-परप्रकाशक ज्ञानशक्तिको ही जानता है; राग-द्वेष, मन, वाणी या इन्द्रियाँ आदि कुछ नहीं जानते।

ज्ञानसे सभी प्राणियोंको अपना निज ज्ञानमात्र ही अनुभवमें आता है, किन्तु भ्रान्तर होनेसे अज्ञानी यह मानता है कि-परसे ज्ञान होता है। यद्यपि अज्ञानी जीव यह मानता है कि मैं स्वतः नहीं जानता, किन्तु देह, इन्द्रियादिक परकी सहायतासे जानता हूँ, तथापि वह स्वतः ही अपनी अवस्थाको जानता है-परसे नहीं जानता; मात्र मान्यतामें ही उल्टा है, इसलिये मानता है।

प्रत्येक आत्माको वर्तमान विकासके अनुसार निर्मल ज्ञानमें निर्मलस्वभावका नित्य अनुभव होता है, तथापि अनादिकालसे पर [illegible] होकर (पराश्रितताले) [illegible] निर्णयके द्वारा ऐसी मान्यता हो गई है कि मैं [illegible] हूँ; किन्तु वास्तवमें आत्माका स्वभाव वैसा नहीं [illegible] है। [illegible] में अपना ज्ञानगुण नित्य [illegible] है, यदि उसके द्वारा अपना [illegible] गई है; किन्तु अपनी [illegible]

साध्य करने योग्य भगवान आत्माकी प्राप्ति तो निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-सहित स्थिरतासे ही होती है, अन्य प्रकारसे नहीं; क्योंकि पहले तो आत्माको स्वानुभवरूपसे जानता है कि देहादि-रागादिसे भिन्नरूप जो नित्य जाननेवाला प्रगट अनुभवमें आरहा है सो वह मैं हूँ, तत्पश्चात् निःशंकस्वभावकी दृढ़ताके बलसे आत्मामें निःशंक श्रद्धा होती है, फिर समस्त अन्यभावोंसे अलग होता है। मैं राग, द्वेष, मोहरूप नहीं हूँ, किन्तु रागका नाशक अखण्ड गुणरूप हूँ, इसप्रकार स्वाधीन ज्ञायक स्वभावका अपनेमें एकरूप निर्णय करके अपनेमें स्थिर हो तो वह साध्य ऐसे शुद्धात्माकी सिद्धि है। किन्तु जैसा सत्य है वैसा न जाने तो सच्ची श्रद्धा नहीं होसकती, और श्रद्धाके बिना स्थिरता कहाँ करेगा? इसलिये उपरोक्त कथनके अतिरिक्त अन्यप्रकारसे साध्यकी सिद्धि नहीं होसकती, ऐसा नियम है।

कोई कहे कि बहुत जानकर क्या काम है? बहुत अधिक सूक्ष्मरूपसे जानकर क्या लाभ होना है? यह सच है और यह मिथ्या है, ऐसा जाननेसे तो उल्टा राग-द्वेष होता है, इसलिये सच्चे-झूठेको जानना हमारा काम नहीं है; कुछ करेंगे तो पायेंगे; यों मानकर बाह्यप्रवृत्ति पर भार देता है और जिससे जन्म-मरण दूर होता है ऐसे तत्वज्ञानकी दरकार नहीं करता। आत्माको जाने बिना सत्य-असत्य क्या है, हित-अहित क्या है, यह नहीं जाना जासकता। अपनी दरकार करके अपूर्व रुचिसे समझनेका मार्ग ग्रहण न करे तो मुक्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं है।

(मालिनी)

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम् ।
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नं
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥ २० ॥

अविनाशी ज्ञानस्वभावसे नित्य हूँ। मैं पराश्रयरूप शुभाशुभ रागमें अटकनेवाला स्वभावसे नहीं हूँ। निर्मल ज्ञानस्वरूप हूँ, परसे भिन्न हूँ, ऐसी प्रतीतिपूर्वक चिदानन्द स्वभावमें जितना स्थिर होऊँ उतना मेरा स्वाधीन अमृतधर्म है। एकरूप निरुपाधिक ज्ञान-शांतिस्वरूप अखण्ड स्वभाव है उसीका मेरे अवलम्बन है, इसलिये जो कुछ परोन्मुखताके भेदरूप शुभाशुभ भाव होते हैं वे पवित्रस्वरूप धर्मभाव नहीं हैं।

पूर्ण स्वभावके एकाकार लक्ष्यके बलसे स्वरूपकी एकाग्रताके बिना अन्यप्रकारसे शुद्धात्माकी प्राप्ति नहीं होती। प्रथम ही माननेमें, जाननेमें और प्रवृत्तिमें भी यही प्रकार चाहिये।

वह आत्मज्योति कैसी है?

जिसने किसी प्रकारसे–व्यवहारसे दर्शन, ज्ञान, चारित्र अवस्थाको अंगीकार किया है, तथापि जो निश्चल एकस्वभावसे नहीं हटती और जो निर्मल ज्ञान-शांतिरूपसे नित्य प्रगट होकर ज्ञायकत्वको प्राप्त होरही है।

व्यवहारदृष्टिसे देखनेपर तीन गुण हैं। पूर्ण स्वभावकी प्रतीति करनेवाली श्रद्धा, परसे भिन्न नित्य ज्ञानस्वभावको जाननेवाला ज्ञान और स्वाश्रयके बलसे उसमें जो स्थिरता होती है सो चारित्र; इसप्रकार दर्शन ज्ञान चारित्र तीन गुणोंके भेद होनेपर भी एकरूप आत्मा कभी उन तीनरूप–भेदयुक्त नहीं होजाता। व्यवहारसे–रागमिश्रित विचारसे देखें तो तीन भेद दिखाई देते हैं, किन्तु निश्चयसे आत्माका स्वभाव नित्य एकप्रकारसे अभेद–निर्मल है। उस अखण्डके लक्ष्यसे स्वरूपमें सावधान होनेसे प्रतिक्षण निर्मल अवस्था प्रगट होती है। ऐसी निर्मल आत्मज्योतिका हम निरंतर अनुभव करते हैं, ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

यह सब आत्माका धर्म अंतरंगसे ही किसप्रकार प्रगट होता है सो कहते हैं। जगत माने या न माने उसपर सत्का आधार नहीं है।

आचार्यदेव कहते हैं कि "न खलु न खलु यस्मात् अन्यथा साध्यसिद्धिः" वास्तवमें, निश्चयसे कहते हैं कि–इस रीतिके विना त्रिकालमें भी कोई दूसरा उपाय नहीं है।

शुद्ध ज्ञानानंदकी शाश्वत मूर्ति अमृतकुंड आत्मा है, उसकी शरणमें आना होगा। पुण्य-पापके भाव और शरीर तो मृतक कलेवर-विषकुण्डके समान हैं, नाशवान हैं, तेरे नहीं हैं। तू परका कर्त्ता नहीं है; इसलिये पराश्रयरूप अधर्मभावको छोड़! परका कुछ भी करनेका जो भाव है सो उपाधिमय दुःखरूप भाव है। एकवार भी सत्यकी शरण लेने पर त्रिकालके असत्यकी शरण छूट जाती है। मैं पर-मुखापेक्षी–पराधीन नहीं हूँ, इसप्रकार स्वाश्रितताकी एकवार श्रद्धा तो कर! कोई भी परवस्तु तेरे अधीन नहीं है। ऐसे परम सत्यको न मानकर जो यह मानता है कि परपदार्थोंकी सहायताके विना हमारी सारी व्यवस्था टूट जायेगी, उसे पूर्वपुण्यानुसार ही संयोग मिलते हैं,– यह खबर नहीं है, उसे पुण्यकी श्रद्धा नहीं है। बाह्य संयोग, देहादिकी अवस्था किसी आत्माके अधीन नहीं है, किन्तु अपनेमें राग-द्वेष-अज्ञानरूपी कार्य करना अथवा सत्यको समझकर तदनुसार मानना, स्थिर होना ही वर्तमान पुरुषार्थसे होसकता है।

मैं पराश्रयके विना नहीं रह सकता, मैं पुण्य-पापकी लगनवाला हूँ, मैं देहादिकी क्रिया कर सकता हूँ, इत्यादि मान्यताका नाम ही मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है; उस विरुद्धभावको अपना माननेमें त्रिकाल ज्ञानस्वभावकी नास्ति आती है।

जो पुण्य-पापके विकारीभाव उत्पन्न होते हैं सो वह मैं नहीं हूँ, मैं परका कर्ता नहीं हूँ, परपदार्थ मेरे नहीं हैं, मैं त्रिकाल असंयोगी, अविकारी चैतन्यरूप हूँ, इसप्रकार मानना, जानना और स्थिर होना ही मेरा स्वधर्म है।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि आपने यह कहा कि–ज्ञानके साथ आत्मा तन्मयरूप है, एकमेक है, ज्ञानसे कभी अलग नहीं है, इसलिये

आकांक्षासे अंतरंगमें निर्मल तत्त्वके विचारमें लगने पर पहले गुरुके द्वारा सुना किन्तु वर्तमानमें निमित्त विद्यमान नहीं है, तथापि स्वयं अपनेआप जाने-स्वभावसे अपनी ओर उन्मुख होकर यथार्थ स्वरूपको जाने तो तब गुरुगम निमित्त कहलाता है। इसप्रकार कारणपूर्वक निर्मल अवस्थारूप कार्यकी उत्पत्ति होती है।

स्वाश्रित ज्ञानका कारण दिये बिना स्वरूपकी सेवा नहीं कर सकता। सच्ची सेवाका मूल कारण भेदविज्ञान है, यह उन्नीसवीं गाथामें कहा जायगा। अनादिकालीन बाह्योन्मुखताको छोड़कर स्वसन्मुख हुआ, नित्य स्वाधीन ज्ञानस्वरूप हूँ, अन्यरूप नहीं, परमें कर्ता-भोक्तारूप नहीं हूँ-इसप्रकार स्वभावकी दृढ़ता करके उसमें पुरुषार्थरूप स्वकाल जागृत होता ही है, अर्थात् स्वसन्मुख होने पर स्वयं स्वभावसे ही जागृत होता है, अथवा स्वरूपको समझनेकी उत्कट आकांक्षासे सद्गुरुके पास जाकर उनके उपदेशसे स्वरूपको समझता है। जैसे सोया हुआ पुरुष स्वयं अपनेआप जागृत होता है अथवा उसकी जागनेकी तैयारी होनेपर कोई जगानेवाला निमित्त मिल ही जाता है, तब स्वयं जागृत होता है। एकमें उपादानके कथनकी मुख्यता और दूसरेमें निमित्तका कथन है; किन्तु दोनोंमें जागता स्वयं अपने आपसे ही है।

यहाँ पुनः प्रश्न होता है कि-यदि ऐसा है तो प्रतिबुद्ध (ज्ञानी) होनेके दो कारणों सहित अपने आत्माको जाननेसे पूर्व क्या यह आत्मा अनादिकालसे अज्ञानी ही रहा है? अपनेमें अपना अजानपन ही है? मूढ़तारूप अविवेकीपन-अप्रतिबुद्धता ही है? (इसप्रकार सत्को समझनेकी जिसे जिज्ञासा है उसे अपनी गहन आंतरिक आकुलताको दूर करनेके लिये यह प्रश्न उपस्थित होता है।)

उत्तरः- यह बात ऐसी ही है, अज्ञानी ही रहा है। समयसारमें अत्यन्त अप्रतिबुद्ध जो कि यथार्थ कारणसहित अपनेपनको नहीं समझा

शास्त्रमें यह सुन लिया कि कर्म हैं, इसलिये अज्ञानीने इसीको पकड़ लिया कि कर्म मुझे हैरान करते हैं, और वे ही सुखी-दुःखी करते हैं, वे मेरे हैं और उनके कारणसे मैं हूं । जब देह पर दृष्टि थी तब मानता था कि शरीर और उसकी प्रवृत्ति मेरे आधारसे होती है और जब शास्त्रमें पढ़ा या सुना कि कर्म एक पदार्थ है, उसका निमित्त पाकर संयोगाधीन पुण्य-पापके भाव तुझमें होते हैं, तो वहाँ निमित्त पर दोपारोपण करना सूझा । जब इच्छानुसार कुछ होता है तो कहता है कि इसे मैंने किया है और जब अनुकूल नहीं बैठता तब कर्म पर दोप डालता है कि मैंने पहले बुरे कर्म किये होंगे सो उन्हें भोग रहा हूं । शास्त्रोंने तो तुझे तेरी शक्ति बता दी है कि स्व-परको जाननेकी तेरे ज्ञानमें शक्ति है । विकार होनेमें कर्म मात्र निमित्त हैं, ऐसा सुनकर अज्ञानी जीव कर्मको अपना मान बैठा है; और कहता है कि धर्म सुननेकी इच्छा तो बहुत होती है, किन्तु अंतरायकर्मका उदय हो तो कहाँसे सुन सकता हूं ? जबतक कि अंतरायकर्म मार्ग न छोड़ दे तबतक सुननेका सुयोग कहाँसे मिल सकता है ? किन्तु ऐसा मानना बिलकुल मिथ्या है, क्योंकि जब स्वयं विपरीत-भावमें लीन होता है तब कर्म मात्र निमित्त कहलाते हैं, किन्तु कर्म किसीको रोकते नहीं है । उन अन्ध-जड़ कर्मों पर दोपारोपण करना बहुत बड़ी अनीति है ।

स्त्री, धन, कुटुम्ब, शरीर इत्यादि नोकर्म कहलाते हैं, उन्हें जबतक अपना मानता है तबतक ऐसे स्वभावकी प्रतीति नहीं होती कि मैं परसे भिन्न हूँ ।

टीका:—जिसप्रकार स्पर्श रस वर्ण गंध आदि भावोंमें विविध आकारमें परिणमित पुद्गलके स्कन्धोंमें 'यह घड़ा है' इसप्रकार, और वहीं 'यह स्पर्श रस गंध वर्ण आदि भाव तथा विविध आकारमें परिणत पुद्गल स्कन्ध है,' इसप्रकार वस्तुके अभेदसे अनुभूति होती है । पुद्गलमें मुख्यगुण स्पर्श है । जीवमें पंचेन्द्रियोंमें मुख्य स्पर्शन

जड़पदार्थ तुझे हानिकारक नहीं है। राग-द्वेषमें एकाग्र होनेसे अपने वीतराग स्वभावका तिरस्कार होता है। जो यह मानता है कि जबतक मैं रहता हूँ तबतक घर और व्यापारकी व्यवस्था ठीक चलती रहती है, वह यह मानता है कि मैं इन परपदार्थरूप हूँ और समस्त परपदार्थ मेरे अधिकारमें हैं, और ऐसा माननेसे स्पष्ट है कि उसे पृथक्त्वकी प्रतीति नहीं है। यदि परपदार्थमें कहीं कुछ परिवर्तन होजाता है तो कहने लगता है कि मुझसे नहीं बन सका इसलिये बच्चे बीमार होगये हैं, मैं कुछ असावधान होगया इसलिये व्यापारमें हानि होगई है, इसप्रकार परमें कर्तृत्वके अभिमानसे वह स्वाधीन तत्त्वका अनादर करता है।

राग-द्वेष या पुण्यसे अच्छा कर दूँ, यदि अमुक व्यक्तिकी सहायता मिल जाये तो अच्छा हो, इसप्रकार वह स्वभावका तिरस्कार करनेवाले शत्रुभावको अपना मानता है। यह मानना कि शरीर अच्छा हो तो धर्म हो, इसका अर्थ यह है कि मैं स्वयं निर्माल्य और पराधीन हूँ। जबतक यह मानता है कि मेरे स्वभावमें धर्म है ही नहीं तबतक वह अज्ञानी ही है। मरणके समय यदि सत्पुरुषोंका समागम, उनकी उपस्थिति हो तो वे मृत्युको सुधार देंगे, वह मेरे भावोंमें सहायक होसकते हैं-इसप्रकार जो मानता है उसे अपनी स्वतंत्रताकी श्रद्धा नहीं है। पुण्य-पापभाव उस स्वभावसे विरोधीभाव हैं, उनसे अविकारी गुणको सहायता मिलती है,-इसप्रकार जो मानता है उसे विकार-रहित पृथक् स्वभावकी खबर नहीं है, अपने गुणोंकी प्रतीति नहीं है। देहादिक अथवा रागादिमें कभी चैतन्य नहीं है और चैतन्यमें देहादि-रागादि नहीं हैं।

कोई कहता है कि एकान्त वनमें किसी गुफामें बैठे हों, चारों तरफ हरा-भरा वन दिखाई देता हो, झरने कलकल नाद करते हुए बह रहे हों, तो ऐसा स्थान आत्मशांतिके लिये सहायक होसकता है या नहीं? किन्तु इसप्रकार जो आत्मशांतिके लिये दूसरेको सहायक

है, वह स्वतंत्र आत्माको नहीं मानता इसलिये वह मूढ़ है-अविवेकी है। निजका अस्तित्व कहनेसे परके नास्तित्वका ज्ञान आजाता है।

जैसे स्वच्छता दर्पणका गुण है, उसमें जो कुछ भी दिखाई देता है वह स्वच्छता ही दिखाई देती है; उसके सन्मुख रखी हुई अग्नि अग्निरूपमें ही है, दर्पणरूपमें नहीं है; तथा दर्पण दर्पणरूपसे है अग्निरूपसे नहीं है। इसीप्रकार अरूपी आत्मामें स्व-परको जाननेवाला ज्ञायकत्व ही है, परमें कहीं रुकना नहीं होता। जानना ही आत्माका स्वरूप है, पुण्य-पाप और रागादिक सब जड़के हैं। इसप्रकार अपनेसे ही अथवा परके उपदेशसे सम्यक् भेदविज्ञानकी अनुभूति होती है। यह अध्यात्मशास्त्र है इसलिये स्वभावसे बोध होता है, यह पहले कहा है। पहले एकबार पात्रतासे सत्समागमके द्वारा गुरुके निमित्तसे समझना चाहिये।

"बुझी चहत जो प्यासको, है बूझनकी रीति,
पावे नहि गुरुगम विना, ओ ही अनादि स्थिति।"

जहाँ सत्को समझनेकी अपनी प्यास-तीव्र आकांक्षा होती है वहाँ सत्को समझानेवाला गुरु मिल ही जाता है। किसीको यह नहीं मान लेना चाहिये कि-गुरुज्ञानके विना अपने आपही समझ लेंगे तथा गुरु भी समझा देंगे। अपनी पूर्ण तैयारी होने पर सत्समागमके लिये रुकना नहीं पड़ता, किन्तु अपनी जागृतिमें अपूर्णता हो, कमी हो तो अपने ही कारणसे अपनेको रुकना पड़ता है। जहाँ अपनी तैयारी होती है वहाँ सद्गुरुका निमित्त मिल ही जाता है।

हम निमित्त पर भार न देकर उपादान पर भार देते हैं। गुरुसे ज्ञान प्राप्त नहीं करता, किन्तु उसके निमित्तके विना-सत्समागमके विना सत्यको नहीं समझता। या तो पूर्वके सत्समागमका स्मरण करके अपने-आप समझे या जिससमय स्वयं समझनेको तैयार हो उससमय ज्ञानी पुरुषका समागम अवश्य मिलता है। इसप्रकार जब भेदविज्ञान

कथमपि हि लभंते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा।
प्रतिफलननिमग्नानंतभावस्वभावै-
र्मुकुरवदविकाराः संततं स्युस्त एव ॥२१॥

अर्थः—जो पुरुष अपनेआप ही अथवा परके उपदेशसे-किसी भी प्रकारसे, भेदविज्ञान जिसका मूल उत्पत्तिकारण है-ऐसी अविचल अपने आत्माकी अनुभूतिको प्राप्त करते हैं, वे ही पुरुष दर्पणकी भाँति अपनेमें प्रतिबिम्बित हुए अनंतभावोंके स्वभावोंसे निरन्तर विकार-रहित होते हैं; ज्ञानमें जो ज्ञेयोंके आकार प्रतिभासित होते हैं उनसे वे रागादि विकारको प्राप्त नहीं होते।

शरीरादिकी अवस्था उसके अपने स्वतंत्र कारणसे है। मेरी अवस्था मुझमें अपने कारणसे है। देहके जितने जन्म-मरणादि स्वभाव-संयोग हैं वे सब भगवान आत्माके ज्ञानकी सामर्थ्य भूमिकामें ज्ञात होते हैं, किन्तु आत्मा उसकी अवस्थाको नहीं करता, अथवा वे पर पदार्थ आत्माकी अवस्थाको नहीं करते। आत्मा अरूपी है, उसमें यदि वृक्षादिक रूपी पदार्थ आजाते हों तो वह रूपी होजाये, किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। परपदार्थ ज्ञानस्वभावमें ज्ञात होते हैं सो वह अपनी ही अवस्था है। उसमें किसीका प्रतिबिम्ब नहीं आता। यह तो मात्र निमित्तसे कहा जाता है कि मुझे इससे ज्ञान हुआ है।

परपदार्थमें अच्छा-बुरा माने, और ऐसा माने कि परको लेकर मैं और मुझे लेकर परपदार्थ हैं, तो राग-द्वेष हुए बिना नहीं रहेगा।

है कि–"ऐसी कानको फाड़ देनेवाली गालियाँ कैसे सुनी जासकती हैं" ? किन्तु प्रभो ! तेरा ज्ञानगुण तो अनन्तस्वभाववाला है, उसमें चाहे जो कुछ हो वह सब उस ज्ञानमें ज्ञात होता है। यदि परको जानने-से इन्कार करे तो अपने ज्ञानकी अवस्थाका ही निषेध होता है। यह बात कहीं वीतराग होजाने वालोंकी नहीं है, किन्तु जिन्हें वीतराग होना हो, जिन्हें आत्माकी निर्विकल्प शान्ति चाहिये हो, उनके लिये यह बात है ॥ १९ ॥

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) किसप्रकार पहिचाना जासकता है ? उसका कोई चिन्ह बताइये। पहले शिष्यने काल पूछा था और अब लक्षण पूछ रहा है। उसके उत्तरमें तीन गाथाएँ कही हैं:—

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सम्हि अत्थि मम एदं ।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥ २० ॥
आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहं पि आसि पुव्वं हि ।
होहिदि पुणो ममेदं एदस्स अहं पि होस्सामि ॥ २१ ॥
एयत्तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो ।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥ २२ ॥

अहमेतदेतदहं अहमेतस्यास्मि अस्ति ममैतत् ।
अन्यद्यत्परद्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रं वा ॥२०॥
आसीन्मम पूर्वमेतदेतस्याहमप्यासं पूर्वम् ।
भविष्यति पुनर्ममैतदेतस्याहमपि भविष्यामि ॥२१॥
एतत्त्वसद्भूतमात्मविकल्पं करोति संमूढः ।
भूतार्थं जानन्न करोति तु तमसंमूढः ॥२२॥

अग्निकी, और परद्रव्यको लकड़ीकी उपमा दी गई है । जो ऐसा विचार करता है कि जबतक मैं हूँ तबतक घर, स्त्री, पुत्र, रुपया-पैसा इत्यादि हैं, और जबतक यह हैं तबतक मैं हूँ, इसप्रकार परद्रव्यको-परवस्तुको अपने आधार पर अवलम्बित माने और अपने स्वभावको परद्रव्यों-पर अवलम्बित माने तो उसे अपने त्रिकाल स्वतंत्र चैतन्यस्वरूपकी प्रतीति नहीं है ।

जिसने शरीरको अपना माना है वह शरीरकी समस्त क्रियाओंको अपनी मानता है ।

आत्मा अखंडानन्द त्रिकाल परसे भिन्न है, परके कारण मेरी कोई अवस्था नहीं है, ऐसी जो श्रद्धा है सो आत्माका व्यवहार है । शरीरादिकी जो क्रिया होती है सो वह मेरी है और मैं मनुष्य हूँ, ऐसी जो मान्यता है सो मनुष्यका व्यवहार है । अज्ञानी जीव परकी सत्ताके साथ अपनी सत्ताको मान लेता है, अर्थात् परसे अपनेको हानि-लाभ होना मानता है । जो यह मानता है कि-अपनेमें पर-पदार्थकी सत्ता प्रविष्ट होगई है उसे परसे भिन्न स्वतंत्र स्वभावकी श्रद्धा नहीं है, इसलिये वह अधर्मी है । अज्ञानी मानता है कि यह लोग मेरे सम्बन्धी थे, यह वर्तमानमें मेरे सम्बन्धी हैं और भविष्यमें यह मेरे सम्बन्धी होंगे, किन्तु वास्तवमें कोई किसीका त्रिकालमें भी नहीं होता ।

अब सीधी दृष्टिसे विचार करते हैं । अग्नि, अग्निकी है और ईंधन, ईंधनका है । अग्नि कभी ईंधनकी नहीं थी और ईंधन अग्निका नहीं था । भविष्यमें भी अग्नि ईंधनकी और ईंधन अग्निका नहीं होगा । दोनों पृथक् ही है, इसलिये त्रिकाल पृथक् ही रहते हैं ।

जो जिसके होते हैं वे उससे कभी अलग नहीं होते । किसी परद्रव्यकी व्यवस्था मेरे हाथकी बात नहीं है । मैं होऊँ तो दूसरेका ऐसा समाधान करता हूँ, मैं दुकान पर बैठूँ तो उसका व्यापार चल जाय, इसप्रकार मान्यता जिसकी है वह परद्रव्यको ही अपना स्वरूप मानता है ।

ठीक नहीं है कि घूमनेको जायेंगे तो शरीर अच्छा रहेगा और शरीर स्वस्थ होगा तो आत्मामें स्फूर्ति रहेगी, तथा उससे धर्म होगा।

यहाँ कोई यह कह सकता है कि 'हमने जो अपनी आँखोंसे देखा है सो वह सब मिथ्या है;' उससे कहते हैं कि तुम्हारी दृष्टि ही मिथ्या है। किसीने यह अपनी आँखोंसे नहीं देखा कि कुनेनसे बुखार उतरता है। यदि आँखोंसे देखा हो, और यह सच हो तो प्रत्येक आदमीका बुखार कुनेनसे उत्तर जाना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता। लोग तो अपने विपरीत अभिप्रायको ही आँखोंसे देखते हैं। साताका उदय होनेपर ही बुखार उतरता है, किन्तु निमित्तसे यह कहा जाता है कि दवासे बुखार उतरा है।

जैसे जादूगर डुगडुगीको इधर हिलाता है तो इधर बजती है और उधर हिलाता है तो उधर बजती है; इसीप्रकार संसारका जादूगर (संसारी जीव) यह मानता है कि मैं संसारको इसप्रकार तैयार करूँ तो वह ऐसा चले, मैंने चतुराईसे काम लिया तो ऐसा होगया, मैंने अपनी होशियारीसे माल खरीदकर रख लिया था, भाव बढ़ गया इससे लाभ हुआ है, किन्तु यह धारणा बिलकुल गलत है। परका जो होना होता है सो वही होता है, किन्तु अज्ञानी जीव परमें कर्तृत्वकी मिथ्याबुद्धि करता है, वह मानता है कि मुझे परसे ही हानि होती है और परसे लाभ होता है, किन्तु आत्मा स्वतंत्र वस्तु है, जगतके किसी परपदार्थसे आत्माको कोई हानि-लाभ नहीं होता, तीनलोक और तीनकालमें कोई परपदार्थ आत्माका कुछ भी करनेके लिये समर्थ नहीं है।

यह भ्रम ही ऐसा है कि जिससे मुझे सुख प्राप्त नहीं होता, पानीपतके मैदानमें बुरे विचार उत्पन्न हुए, धरतीका भी ऐसा असर होता है, इसप्रकारकी मान्यता मिथ्या है; क्योंकि उसी पानीपतके मैदानसे अनन्त जीव मोक्ष गये हैं।

कोई अज्ञानी जीव इन्द्रियोंको राग-द्वेषका कारण मानकर अपनी आँखें फोड़ डाले और कान बन्द करले तो इससे क्या होगा? परन्तु

मानता है, उसे आचार्य समझाते हैं। देखो-यह पुद्गलद्रव्यको
नहीं समझ रहे हैं, किन्तु बिल्कुल प्रतिकूलको समझ रहे हैं -

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं ।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो ॥ २३ ॥
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं ।
कह सो पुग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं ॥ २४ ॥
जदि सो पुग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं ।
तो सक्को वत्तुं जे मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं ॥ २५ ॥

जैसे स्फटिकमणिमें लाल पीले रंगका आभास होता है यह बात असत्य नहीं है, इसीप्रकार कर्मसंयोगके समय आत्मा विकारी होता है, यह बात भी असत्य नहीं है। अवस्थामें-पर्यायमें राग-द्वेष होता है इसलिये आत्मा पर्यायसे अशुद्ध है; किन्तु यदि कोई यह माने कि-आत्मा वर्तमानमें विद्यमान अवस्थामें भी शुद्ध है तो वह बात असत्य है। पर्यायदृष्टिसे भी आत्मामें विकार हुआ ही नहीं, और वह शुद्ध ही है-यह मानना असत्य है। अवस्थामें विकारीभाव हुआ है अर्थात् संयोगी-भावके वश हुआ उसी समय अज्ञानी हुआ है और तब वह अनुभव करता है कि पुद्गलद्रव्य मेरा है। विकारीभावोंको भी पुद्गलद्रव्य कहा गया है। यहाँ दो प्रकारसे बात कही है, एक चैतन्य द्रव्यदृष्टि और दूसरी पुद्गल द्रव्यदृष्टि। एक ओर राग-द्वेष, पुण्य-पापका फल, शरीर मन वाणीकी प्रवृत्ति, कुछ करनेकी इच्छा, द्रव्यकर्म, यह सब पर-संयोगका दल है-परदल है, और वह एक ही प्रकारका है, उसका एक ही प्रकार है, पुद्गलके ही भाव हैं। मैं ज्ञाता-दृष्टा भिन्न हूँ, ऐसी प्रतीति न करके जो संयोग और संयोगीभाव हैं सो मैं हूँ, वे मेरे हैं-ऐसी जो दृष्टि है सो पुद्गल द्रव्यदृष्टि है। ऐसी दृष्टिवाला निरा अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी है।

दूसरी ओर चैतन्यका दल है, यह पुद्गलके दलसे भिन्न है। जो मात्र शुद्ध चैतन्यदल है सो ही मैं हूँ, ऐसी जो दृष्टि है सो चैतन्यद्रव्यदृष्टि है। यहाँ द्रव्यके दो भेद किये गये हैं। परसंयोग-जनित होनेवाले शुभाशुभभावको भी जड़में गिना है और चैतन्यउपयोग अकेला कहकर जीवको भिन्न किया है।

जो विकारीभाव हैं सो वे परपदार्थके संयोगवश होनेवाले भाव हैं, वे अस्वभावभाव हैं, आत्माका स्वभावभाव नहीं हैं। अज्ञानी जीव कर्मकी अनेक प्रकारकी उपाधिको अपनेरूपमें मानता है, इसलिये उसे यह नहीं दिखाई देता कि आत्माका शुद्धस्वभाव ढक गया है, और पुद्गल द्रव्य मेरा है-ऐसा अनुभव करता है।

लिये कुछ कठोर होकर कहा है, किन्तु उसमें करुणाभाव निहित है, यहाँ अवस्थामें रहनेवाली आकुलताको दूर करनेके लिये कहा है।

श्रीमद् राजचन्द्रने भी 'आत्मघात' शब्दका प्रयोग अवस्थादृष्टि-से किया है और पुरुषार्थको जागृत करके अपनी पर्यायको शुद्ध करने-के लिये कहा है। अपनी भूल कहाँ होती है" इसे समझे बिना भूल-को दूर करनेका क्या उपाय करेगा?

आचार्यदेव दृष्टांतपूर्वक कहते हैं कि दुरात्मन्! आत्मघातक अर्थात् आत्माके अहिंसक स्वभावको न जाननेवाले! जैसे परम अविवेक पूर्वक खानेवाला हाथी लड्डुओंको तृणसहित खा जाता है, ऐसे अविवेक पूर्ण खानेके स्वभावको तू छोड़! जैसे हाथीको परम अविवेकके कारण मिष्टान्नके सुन्दर आहार और तृणकी खबर नहीं होती इसीप्रकार तुझे तृणवत् पुण्यादिके भाव और मिष्टान्नवत् आत्मस्वभावके पृथक्त्वका भान नहीं है। ऐसे परसे भिन्न करनेके प्रतीतिहीन स्वभावको तू छोड़! अज्ञानीको मात्र परका ही स्वाद आता है उसे अपने निर्मल स्वभावका स्वाद नहीं आता।

विकारके साथ एकमेक होनेसे तू अपनी अविकारी स्वभावको भूल गया है, इसलिये अब स्वभावके अमृतरसको जानकर परके स्वाद को छोड़! तू जो कुछ भोग रहा है वह तेरा स्वभाव नहीं है। कोई परको नहीं भोगता किन्तु उस परके प्रति होनेवाली राग-द्वेष, हर्ष-शोककी आकुलता को ही भोगता है। यह भोग तेरा स्वभाव नहीं है, इसलिये तू उसे छोड़!

सर्वज्ञदेवने पूर्णस्वभावसे प्रत्यक्ष देखा है कि तेरा स्वभाव भिन्न है। जिसने आत्माकी पूर्णदशा प्रगट की है, तथा समस्त सन्देह दूर किये हैं ऐसे सर्वज्ञ भगवानने कहा है कि-तेरा स्वभाव परसे भिन्न है और परका स्वभाव तेरा नहीं है।

हम तो कुछ नही समझते, किन्तु धर्म कुछ होगा—इसका नाम है अनध्यवसाय, और विपरीत मानना सो विपर्यय है। भगवानने ऐसे

शुभ भावोंको जड़में अन्तर्गत करके एक पुद्गलद्रव्य कह दिया है। उसपर जिसकी दृष्टि है वह पुद्गलद्रव्यदृष्टि है।

आत्मा शुद्ध, निर्मल, सदा परसे भिन्न है। वह सदा उपयोग* सहित चैतन्यलक्षणवाला है। ज्ञानक्रिया ही शुद्ध आत्माके निर्मल स्वभावका लक्षण है।

वस्तु तो सदा स्थिर है, उसका लक्षण भी स्थिर है, उसका लक्षण नित्य शुद्ध निर्मल है। भगवानने ऐसा नित्य टंकोत्कीर्ण आत्मा एकरूप स्वभावसे देखा है; भला वह कैसे पुद्गल द्रव्यमय होसकता है, कि जिससे तू पुद्गल द्रव्यमें अपनापन मान रहा है? चैतन्यस्वरूप आत्मा सदा परद्रव्यसे पृथक् है; यह बात दृष्टांत पूर्वक समझायी जारही है।

यहाँ आत्माका अधिकार है। आचार्यदेवने जड़ और चैतन्य दोनोंको बिल्कुल अलग बताया है। शरीर, मन, वाणी आदि मेरे हैं, और इनसे मुझे सुख मिलता है, तथा वे परद्रव्य चैतन्य-आत्माका कुछ कर सकते हैं, ऐसा माननेवाले अप्रतिबुद्ध हैं। उन्हें आचार्यदेव समझाते हैं कि-सर्वज्ञदेवने जैसा आत्मस्वभाव देखा है वैसा कहा है।

चैतन्यस्वभाव नित्य उपयोगस्वरूप है। उपयोगका अर्थ है ज्ञानदर्शन स्वभाव; भला वह पुद्गल कैसे होसकता है? और जड़स्वरूप पुद्गल क्योंकर उपयोगस्वरूप होसकते हैं? आत्मा अपने ज्ञानदर्शनकी क्रियाका ही करनेवाला है, वह परका कुछ भी करनेवाला नहीं है। जो यह मानता है कि मैं परका कुछ कर सकता हूँ वह आत्माको जड़ मानता है। तू एक स्वभावसे अनाकुल शांतस्वरूप है, उसे भूलकर परको अपना मान रहा है; किन्तु परपदार्थ तेरा तब होसकता है जबकि जड़ आत्मा होजाये और आत्मा जड़ होजाये; और यदि ऐसा होता हो तो तेरी मान्यता सच कहला सकती है, किन्तु ऐसा तो कभी होता नहीं है और न हो ही सकता है।

---

* चैतन्यानुविधायी परिणामः उपयोगः = चैतन्यस्वभावका अनुसरण करके होनेवाला आत्माका जो व्यापार है सो उपयोग है।

आत्मा शरीरादिक पुद्गल रूपमें बदलता हुआ दिखाई नहीं देता। जिसका व्यापार जानने-देखनेकी क्रियासे रहित है वह जड़द्रव्य चेतन-रूप होता हुआ दिखाई नहीं देता।

जैसे नमककी एक पर्याय पानीके रूपमें और दूसरी पर्याय डलीके रूपमें होती है उसीप्रकार आत्माकी एक अवस्था जानने-देखने की और दूसरी अवस्था जानने-देखनेसे रहित हो, ऐसा त्रिकाल और तीनलोकमें भी नहीं होसकता।

जिसका परिणमन जानने-देखनेकी क्रियासे रहित है ऐसे जड़ रजकण (अष्टकर्मकी धूल) बदलकर कभी चैतन्यरूप नहीं होते।

जैसे अन्धकार और प्रकाश दोनों परस्पर विरोधी हैं, इसीप्रकार ज्ञानदर्शनकी क्रिया और जड़की क्रिया दोनों परस्पर विरोधी हैं, अर्थात् जड़की क्रिया और चैतन्यकी क्रिया दोनों एकद्रव्यमें नहीं रह सकतीं।

जैसे अन्धकारमें प्रकाश नहीं होता और प्रकाशमें अन्धकार नहीं होता, इसीप्रकार शुभाशुभ परिणाम और शरीरादिकी क्रिया तेरे ज्ञानप्रकाशमें नही होती, और तेरा ज्ञानप्रकाश शुभाशुभ परिणाम और शरीरादिकी क्रियामें नहीं होसकता।

जैसे अन्धकारके प्रकाशरूप होनेमें विरोध है, उसीप्रकार नित्य स्थायी उपयोगलक्षण चैतन्यको अनुपयोगस्वरूप जड़ होनेमें विरोध है। जड़की क्रिया चैतन्यस्वरूप हो और चैतन्यकी क्रिया जड़रूप हो यह तीनकाल और तीनलोकमें नहीं होसकता।

जैसे अन्धकार और प्रकाश एकसाथ नहीं होते, इसीप्रकार जागृत चैतन्यज्योति और जड़स्वरूप अन्धकार कभी भी एकसाथ-एकत्रित नहीं होसकते। आत्माके चिदानन्दस्वभावका, उपाधिरूप विकारीभाव और शरीरादिक जड़पदार्थोंके साथ रहनेमें विरोध है। न तो जड़पदार्थ बदलकर आत्मा होसकता है और न आत्मा जड़रूप होसकता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि तू तनिक कह तो कि तुझे क्या चाहिये है, कुछ बोल तो सही! परपदार्थको अपना माननेका जो भूत तेरे सिरपर चढ़ा हुआ है उसे छोड़ दे और सावधान होजा।

यहाँ जो सावधान होना कहा है सो इसमें मिथ्यात्वका अभाव बताया है, और कहा है कि धर्म तुझमें भरा हुआ है; तेरा आत्मा नमककी डलीके समान पृथक् चैतन्यमात्र है, वह कभी जड़ नहीं होता।

जड़ कभी आत्मा नहीं होता और आत्मा कभी जड़ नहीं होता, इसप्रकार सर्वज्ञ भगवानने दोनों पदार्थ अलग अलग देखे हैं, तब फिर तूने एक कहाँसे देख लिये? उपयोगस्वरूप आत्माको पहिचानकर उसमें स्थिर हो!

देवाधिदेव त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव कहते हैं कि अब व्यर्थकी मान्यताओंको छोड़ो! सुख और स्वाधीनताका मार्ग तुम्हीमें है।

अब आचार्यदेव तीन गाथाओंका साररूप कलश कहते हैं:—

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥ २३॥

अर्थः—आचार्यदेव अत्यंत कोमल सम्बोधन ('अयि')से कहते हैं कि हे भाई! तू किसीप्रकार महा कष्टसे अथवा मरकर भी तत्त्वोंका कौतूहली होकर, इस शरीरादि मूर्त द्रव्यका एक मुहूर्तके लिये पड़ौसी होकर आत्माका अनुभव कर, कि जिससे तू अपने आत्माको विलासरूप सर्व परद्रव्योंसे भिन्न देखकर इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गल द्रव्यके साथ एकत्वके मोहको तुरन्त ही छोड़ सके।

मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्वका नाश कैसे हो और अनादिकालीन विपरीत मान्यता और अज्ञान कैसे दूर हो? इसका उपाय बताते हैं।

यथार्थ समझपूर्वक निकटमें रहनेवाले पदार्थोंसे मैं अलग हूँ, ज्ञाता-दृष्टा हूँ, शरीर, मन, वाणी इत्यादि बाहरके नाटक हैं, इन सबको नाटकस्वरूपसे ही देख, तू उनका साक्षी है। स्वाभाविक अन्तरंग ज्योतिसे ज्ञानभूमिकाकी सत्तामें यह राग जो ज्ञात होता है सो वह मैं नहीं हूँ; किन्तु उसे जाननेवाला मात्र मैं हूँ, इसप्रकार उसे जान तो सही ! और उसे जानकर उसमें लीन होजा। आत्मामें श्रद्धा, ज्ञान और लीनता प्रगट होती है, उसका आश्चर्य करके एकबार पड़ोसी बन।

जैसे किसी मुसलमानका और ब्राह्मणका घर पास पास हो तो ब्राह्मण उसका पड़ोसी होकर रहता है, किन्तु वह उस मुसलमानके घरको अपना नहीं मानता, इसीप्रकार तू भी परपदार्थोंका दो घड़ीके लिये पड़ौसी होकर चैतन्यस्वभावमें स्थिर होकर आत्माका अनुभव कर।

शरीर, मन और वाणीकी क्रिया तथा पुण्य-पापके परिणाम इत्यादि सब पर हैं। विपरीत पुरुपार्थके द्वारा परमें स्वामित्व मान रखा है, विकारीभावोंकी ओर तेरा बाहरका लक्ष्य है वह सब छोड़कर स्व-भावमें श्रद्धा, ज्ञान और लीनता करके एक अन्तर्मुहूर्तके लिये अलग होकर चैतन्यमूर्तिको पृथक्‌रूपमें देख, चैतन्यके विलासरूप आनन्दको कुछ अलग होकर देख, उस आनन्दको अन्तरंगमें देखने पर तू शरीरादिके मोहको तत्काल ही छोड़ सकेगा। यह बात सरल है क्योंकि यह तेरे स्वभावकी बात है। केवलज्ञानरूपी लक्ष्मीको स्वरूपसत्ताकी भूमिमें स्थिर होकर देख, तो परपदार्थ सम्बन्धी मोहको झट छोड़ सकेगा।

यदि तीनकाल और तीनकालकी प्रतिकूलताओंका समूह एक ही साथ सन्मुख आ उपस्थित हो तो भी मात्र ज्ञातारूप रहकर उस सबको सहन करनेकी शक्ति आत्माके ज्ञायकस्वभावकी एक समयकी पर्यायमें विद्यमान है। जिसने शरीरादिसे भिन्नरूप आत्माको जाना है उसपर इन परीपहोंका समूह किंचित्‌मात्र भी असर नहीं कर

यथार्थ समझपूर्वक निकटमें रहनेवाले पदार्थोंसे मैं अलग हूँ, ज्ञाता-दृष्टा हूँ, शरीर, मन, वाणी इत्यादि बाहरके नाटक हैं, इन सबको नाटकस्वरूपसे ही देख, तू उनका साक्षी है। स्वाभाविक अन्तरंग ज्योतिसे ज्ञानभूमिकाकी सत्तामें यह सब जो ज्ञात होता है सो वह मैं नहीं हूँ; किन्तु उसे जाननेवाला मात्र मैं हूँ, इसप्रकार उसे जान तो सही ! और उसे जानकर उसमें लीन होजा। आत्मामें श्रद्धा, ज्ञान और लीनता प्रगट होती है, उसका आश्चर्य करके एकबार पड़ौसी बन।

जैसे किसी मुसलमानका और ब्राह्मणका घर पास पास हो तो ब्राह्मण उसका पड़ौसी होकर रहता है, किन्तु वह उस मुसलमानके घरको अपना नहीं मानता, इसीप्रकार तू भी परपदार्थोंका दो घड़ीके लिये पड़ौसी होकर चैतन्यस्वभावमें स्थिर होकर आत्माका अनुभव कर।

शरीर, मन और वाणीकी क्रिया तथा पुण्य-पापके परिणाम इत्यादि सब पर हैं। विपरीत पुरुषार्थके द्वारा परमें स्वामित्व मान रखा है, विकारीभावोंकी ओर तेरा बाहरका लक्ष्य है वह सब छोड़कर स्व-भावमें श्रद्धा, ज्ञान और लीनता करके एक अन्तर्मुहूर्तके लिये अलग होकर चैतन्यमूर्तिको पृथक्‌रूपमें देख, चैतन्यके विलासरूप आनन्दको कुछ अलग होकर देख, उस आनन्दको अन्तरंगमें देखने पर तू शरीरादिके मोहको तत्काल ही छोड़ सकेगा। यह बात सरल है क्योंकि यह तेरे स्वभावकी बात है। केवलज्ञानरूपी लक्ष्मीको स्वरूपसत्ताकी भूमिमें स्थिर होकर देख, तो परपदार्थ सम्बन्धी मोहको झट छोड़ सकेगा।

यदि तीनकाल और तीनकालकी प्रतिकूलताओंका समूह एक ही साथ सन्मुख आ उपस्थित हो तो भी मात्र ज्ञातारूप रहकर उस सबको सहन करनेकी शक्ति आत्माके ज्ञायकस्वभावकी एक समयकी पर्यायमें विद्यमान है। जिसने शरीरादिसे भिन्नरूप आत्माको जाना है उसपर इन परीषहोंका समूह किंचित्‌मात्र भी असर नहीं कर

सकता, अर्थात् चैतन्य अपने व्यापारसे किंचित्मात्र भी चलायमान नहीं होता।

जैसे किसी सुकोमल राजकुमारको किसी अग्निकी भयंकर भट्टीमें जीवित ही फेंक दिया जाये तो उसे जो दुःख होता है उससे भी अनन्तगुना दुःख पहले नरकमें है, और पहले नरकसे दूसरे तीसरे आदि सातों नरकोंमें एक दूसरेसे अनन्तगुना दुःख है। ऐसे अनन्तदुःखोंकी प्रतिकूलताकी वेदनामें पड़ा हुआ, महा-भयंकर घोरपाप करके वहाँ गया हुआ तथा तीव्र वेदनाके समूहमें पढ़ा हुआ होने पर भी कभी कोई जीव यह विचार करने लगता है कि-अरेरे! ऐसी वेदना! इतनी पीड़ा! और ऐसा विचार करते हुए स्वोन्मुख होने पर उसे सम्यक्दर्शन प्रगट होजाता है। वहाँ सत्समागम नहीं है, किन्तु पहले एकबार सत्समागम किया था, सत्का श्रवण किया था, इसलिये वर्तमान सम्यक्विचारके बलसे सातवें नरककी घोर वेदनामें पड़ा हुआ होनेपर भी, उस वेदनाके लक्ष्यको दूर करनेसे सम्यक्दर्शन प्रगट होजाता है, आत्माका संवेदन होने लगता है। सातवें नरकमें रहनेवाले सम्यक्दृष्टि जीवको उस नरककी वेदना असर नहीं कर सकती, क्योंकि उसे यह दृढ़ प्रतीति है कि-मेरे ज्ञानस्वरूप चैतन्य पर कोई अन्य पदार्थ असर नहीं कर सकता। ऐसी अनन्त वेदनाओंमें पड़ा हुआ जीव भी आत्मानुभवको प्राप्त होजाता है तो फिर यहाँ तो सातवें नरकके बराबर दुःख नहीं हैं, मनुष्यभव पाकर भी व्यर्थका रोना क्यों रोया करता है? अब सत्समागमसे आत्माको पहिचानकर आत्मानुभव कर। आत्मा-नुभवकी ऐसी महिमा है कि परीषह आने पर डिगे नहीं, और एक दो घड़ीके लिये स्वरूपमें लीन होजाये तो पूर्ण केवलज्ञान प्रगट होजाता है, जीवन-मुक्तदशा प्राप्त होजाती है, और मोक्षदशा प्रगट होती है। तब फिर इस मनुष्यभवमें मिथ्यात्वका नाश करके सम्यक्दर्शन प्रगट करना तो और भी सुगम है।

शंका:—आप तो एक अन्तर्मुहूर्तकी बात कहते हैं किन्तु हम तो घन्टों बैठकर विचार करते हैं फिर भी क्यों कुछ समझमें नहीं आता?

उत्तर:—अपना निजका ही दोष है; स्वत: समझनेकी चिंता करता, और या तो गुरुका दोष निकालता है या फिर शास्त्रको दोषी ठहराता है; किन्तु इसमें गुरुका या शास्त्रका कोई दोष नहीं है, जो कुछ दोष है सो तेरा अपना ही है। अभी तक तूने सत्यको समझनेकी रुचि या जिज्ञासा ही नहीं की। भगवान त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव भी अपनी वाणी द्वारा कहकर अलग होजाते हैं किन्तु समझना तो अपने हाथकी बात है।

अभी तक आचार्यदेवने अप्रतिबुद्ध शिष्यसे यह कहा है कि शरीर, मन, वाणी और विकार तेरे नहीं हैं, परोन्मुख होनेवाले शुभाशुभभाव भी तेरे नहीं हैं, तो फिर शरीरादिक तो तेरे कहाँसे होसकते हैं। अनादिकालसे शरीरादिको अपना मानता चला आ रहा है सो भेदज्ञानके द्वारा उसको पृथक्स्वरूप समझाया है; और कहा है कि परपदार्थका और तेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, तू यह अनुभव कर कि—चिदानन्द परमात्मस्वरूप आत्मा परपदार्थसे विल्कुल भिन्न है। तीनकाल और तीनलोकमें शरीर और आत्मा एक नहीं हैं, यह बात महाअज्ञान विमोहित चित्तवाले जीवोंको भलीभाँति समझाई है। २५।

अब शिष्य प्रश्न करता है कि प्रभु! आपने अत्यंत भार देकर कहा है कि शरीर और आत्मा दोनों विल्कुल भिन्न हैं, किन्तु मैं शास्त्रका प्रमाण देकर बतला सकता हूँ कि शरीर और आत्मा एक है। वह गाथा इस प्रकार है:—

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव।
सव्वावि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो॥ २६॥

यदि जीवो न शरीरं तीर्थकराचार्यसंस्तुतिश्चैव।
सर्वापि भवति मिथ्या तेन तु आत्मा भवति देहः॥ २६॥

अर्थः—अप्रतिबुद्ध कहता है कि जो जीव है वह शरीर नहीं है तो तीर्थंकर और आचार्योंकी जो स्तुति की है सो सब मिथ्या सिद्ध होती है; इसलिये हम तो यह समझते हैं कि जो आत्मा है सो वह देह ही है।

अप्रतिबुद्ध पुरुष कहता है कि हे प्रभु ! जो जीव है वह यदि नहीं है तो तीर्थंकर और आचार्योंकी आप भी जो स्तुति करते हैं सो वह भी मिथ्या सिद्ध होगी। जब आप स्वयं भगवानकी स्तुति करते हैं तब आप मात्र आत्माकी ही स्तुति नहीं करते और केवल यही नहीं कहते कि भगवानका आत्मा ऐसा है, किन्तु उनकी स्तुतिमें यह भी कहते हैं कि भगवानका रूप रंग ऐसा था, उनकी दिव्यध्वनि ऐसी थी, उनका आकार-प्रकार ऐसा था इत्यादि; इसलिये मैं समझता हूँ कि जो आत्मा है सो वह शरीर ही है। आप भले ही भार देकर यह कहते हों कि शरीर और आत्मा बिल्कुल अलग है, किन्तु मैं तो शास्त्राधारपूर्वक यह कह रहा हूँ कि-शरीर और आत्मा एक है। शिष्य शास्त्रोंको जानता है, और इसीके आधार पर प्रश्न करता है कि जब आप भी भगवानके शरीरकी स्तुति करते हैं तब यह कैसे कहते हैं कि शरीर और आत्मा अलग हैं ? यदि आपका कथन सत्य है तो आपकी स्तुति मिथ्या सिद्ध होती है।

आपकी वह स्तुति इस प्रकार हैः—

कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृतं
वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥ २४ ॥

अर्थः—वे तीर्थंकर-आचार्यदेव वन्दना करने योग्य हैं, जोकि अपने शरीरकी कान्तिसे दशों दिशाओंको धोते हैं-निर्मल करते हैं, अपने तेजके द्वारा उत्कृष्ट तेजवाले सूर्यादिके तेजको ढक देते हैं, अपने

रूपसे लोगोंके मनको मोह लेते हैं-हर लेते हैं, अपनी दिव्यध्वनिसे (भव्य जीवोंके) कानोंमें साक्षात् सुखामृतकी वर्षा करते हैं और जो एक हजार आठ लक्षणोंको धारण करते हैं ।

जब जगतके जीवोंकी पात्रता स्पष्टतया तैयार होती है, तब कोई एक जीव ऐसा होता है कि जो जगतके जीवोंमेंसे उन्नतिक्रमसे बढ़ता हुआ, दूसरे जीवोंके तारनेमें निमित्तरूप जगद्गुरुका विरद लेकर आता है, उन्हें तीर्थंकर देव कहते हैं। तीर्थंकर देव उसी शरीरसे मोक्ष जाते हैं, वह महापुरुष पुण्य और पवित्रतामें परिपूर्ण होते हैं । आचार्यदेव भी छट्ठे-सातवें गुणस्थानमें झूलते हुए, गुणके निधान और विशेष पुण्यवान होते हैं। वे तीर्थंकर और आचार्यवर्य वन्दना करने योग्य हैं । वे तीर्थंकरदेव अपने शरीरकी कांतिसे दशों दिशाओंको धोते हैं-उन्हें निर्मल करते हैं, उनकी दिव्यध्वनिमेंसे साक्षात् अमृतरसकी वर्षा होती है, वे अपने तेजसे उत्कृष्ट तेजवाले सूर्यादिको ढक देते हैं, इत्यादि कथन शास्त्रोंमें आता है, और आप ऐसी स्तुति करनेको भी कहते हैं, इसलिये हम यह समझते हैं कि शरीर और आत्मा एक ही है ।

जिज्ञासु शिष्य उपरोक्त शंका करता हुआ कहता है कि शास्त्रोंमें अनेक स्थलों पर यह लिखा पाया जाता है कि-भगवान ऐसे रूपवान हैं, ऐसे सुन्दर हैं उनकी वाणी ऐसी सुन्दर है इत्यादि । हमारे पास इसके लिये अनेक शास्त्रीय प्रमाण मौजूद हैं ।

शिष्य कहता है कि हे प्रभु ! आप बारम्बार यह कहते हैं कि आत्मा शरीरसे बिलकुल अलग है, किन्तु जब आप भगवानकी स्तुति करते हैं तब यह नहीं कहते कि भगवानका आत्मा निर्विकार [illegible] अलग है, और शरीरकी स्तुति निमित्तसे है ।

[illegible] आता है कि [illegible] है, [illegible]

पुण्य होता है, भगवानके शरीरके रजकणोंकी रचना ऐसी होती है कि जिसमें पुण्यके पूर्ण रसकी सामग्रीका योग होता है; इसलिये वह लोगोंके मनको हर लेता है। तीर्थंकर भगवानके शरीरमें एक हजार आठ लक्षण होते हैं, ध्वजा, जहाज आदि लक्षण होते हैं। उनके ओंठ वन्द होते हैं, और सम्पूर्ण शरीरमेंसे ॐकार ध्वनि खिरती है, जिसे अपनी अपनी योग्यताके अनुसार समझ लेते हैं, वह दिव्य-ध्वनि भव्य जीवोंके कानमें साक्षात् अमृत ही पिला देती है, इत्यादि। इसलिये शिष्यका प्रश्न यह है कि-आपने तीर्थंकरदेवकी स्तुति करते समय यह न कहकर कि उनका स्वरूप केवलज्ञान केवलदर्शन और निर्विकल्प समाधिस्वरूप है, किन्तु शरीरका वर्णन करके, उसी दृष्टिसे भगवानका स्वरूप बताया है। आपने भगवानकी स्तुति करते समय कहीं यह स्पष्ट नहीं कहा कि यह शरीरका रंग रूप और तेज भगवानके आत्माका नहीं किन्तु शरीरका है, प्रत्युत आप तो हमें ऐसी स्तुति करना सिखाते हैं कि-हे नाथ! आपकी सुन्दरता ऐसी है, आपका रूप-रंग ऐसा है, आपकी वाणी ऐसी है, और उस प्रकार आप ही भगवानको वाणी और शरीरका स्वामी सिद्ध करते हैं।

यहाँ शिष्य परमार्थकी वातको भूलकर केवल व्यवहारको पकड़ बैठता है और शास्त्रकी वात सुनकर अपनेको शास्त्राभ्यासी एवं परका भेदिया मानकर ऐसे कुतर्क करता है।

आचार्यदेव शिष्यको उत्तर देते हुए कहते हैं कि-शरीर और आत्मा एक ही स्थान पर रहते हैं इसलिये शास्त्रोंमें निमित्तसे कथन है कि-भगवानका शरीर ऐसे वर्णका है और उनकी वाणी ऐसी है इत्यादि। जैसे मिट्टीके घड़ेको घीके संयोगसे घीका घड़ा कहा जाता है, और ऐसा रूढ़व्यवहार अनादिकालसे चला आ रहा है। यद्यपि घीका घड़ा कहा जाता है किन्तु घड़ा मिट्टीका होता है,-यदि यह लक्ष्यमें हो तो उस निमित्तके कथनका व्यवहार भी सत्य कहा जासकता है; इसीप्रकार शरीर और आत्माका एक ही स्थान पर रहनेका

आचार्यदेव कहते हैं कि तू नयके विभागको, उसकी व्यवस्थाको नहीं जानता। वह नयविभाग इस प्रकार है:—

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ॥२७॥

व्यवहारनयो भाषते जीवो देहश्च भवति खल्वेकः।
न तु निश्चयस्य जीवो देहश्च कदाप्येकार्थः ॥२७॥

अर्थः—व्यवहारनय तो यह कहता है कि–जीव और शरीर एक ही है, किन्तु निश्चयका कहना यह है कि जीव और शरीर कभी भी एक पदार्थ नहीं हैं।

जो एकवस्तुको परवस्तुकी अपेक्षासे जानता है, और कथन करता है उस ज्ञानको व्यवहारनय कहते हैं, और जो वस्तुको वस्तुकी स्व अपेक्षासे जानता है और कथन करता है उस ज्ञानको निश्चयनय कहते हैं। जो जानता है सो ज्ञाननय और जो कथन करता है सो शब्दनय। स्व आश्रित वह निश्चयनय, और पर आश्रित वह व्यवहारनय।

जैसे इस लोकमें सोने और चांदीको गलाकर एक करनेसे एक-
पिंडका व्यवहार होता है। सोना और चांदी–दोनोंको गलाकर उन्हें
एकत्रित करनेसे एक पिंड होजाता है, उसे लोग मिलवां सोना कहते
हैं। यद्यपि यहां एक वस्तु नहीं है किन्तु रूढ़िसे एक पिंडका व्यव-
हार होता है; वास्तवमें सोना और चांदी एकमेक नहीं हुए हैं। एक
द्रव्य दूसरे द्रव्यरूपमें परिणत नहीं होसकता, यह सिद्धान्त है। जैसे
सोने और चांदीको गलाकर एक कर देनेसे एक पिंडका व्यवहार
होता है, उसी प्रकार आत्मा और शरीरके परस्पर एकक्षेत्रमें रहनेसे
एकत्वका व्यवहार होता है। इसप्रकार व्यवहारनयसे ही आत्मा
और शरीरका एकत्व है, परन्तु निश्चयसे एकत्व नहीं है; आत्मा और

शरीरका एकक्षेत्रमें रहनेका जो सम्बन्ध है सो वह पर्यायको लेकर है, द्रव्यको लेकर नहीं। दोनोंको एकक्षेत्रमें रहनेकी पर्यायकी योग्यता है। एकक्षेत्रमें रहनेपर भी दोनोंकी पर्याय अलग अलग है, वह कभी एक नहीं होती। भगवानका केवलज्ञान और दिव्यध्वनि–दोनोंकी पर्यायें एक स्थानपर होती हैं, तथापि वे दोनों भिन्न भिन्न हैं। दिव्यध्वनि और आत्मप्रदेशोंका कम्पन–दोनों अवस्थाएँ एक ही स्थान पर होती हैं, तथापि दोनोंकी पर्याय भिन्न भिन्न हैं, किन्तु जो एक ही स्थानपर दोनोंकी पर्यायें हैं सो व्यवहार है। व्यवहार अर्थात् कथन-मात्र है; वह–व्यवहार व्यापकरूपसे नहीं है। व्यापकका अर्थ यह है कि उस द्रव्यकी पर्याय उस द्रव्यमें ही हो, दूसरे द्रव्यमें न हो; और व्यवहारनय एक द्रव्यकी अवस्थाको दूसरे द्रव्यकी अवस्थारूपसे कथन करता है, इसलिये व्यापकरूपसे नहीं है।

जैसे सोनेका पीलापन इत्यादि और चाँदीका सफेदी इत्यादि स्वभाव है, और उन दोनोंमें अत्यंत भिन्नता है, इसलिये वे दोनों एक पदार्थ नहीं होसकते, अतः उनमें अनेकत्व ही है। इसीप्रकार उपयोग-स्वभाववाले आत्मा और अनुपयोगवाले शरीरमें अत्यंत भिन्नता होनेसे वे दोनों एकपदार्थ नहीं होसकते, अतः उनका अनेकत्व सदा सिद्ध है।

जैसे सोना और चाँदी–दोनों पृथक् पदार्थ हैं, इसीप्रकार उपयोग–स्वरूप अर्थात् जानने–देखनेके स्वभाववाला आत्मा और अनुपयोग-स्वरूप अर्थात् न जानने-देखनेके स्वभाववाला जड़ पदार्थ-दोनों सर्वथा भिन्न हैं। उन पृथक् पदार्थोंको यथावत् पृथक् ही जानना सो निश्चय और पृथक् पदार्थमें एकता आरोप करना सो व्यवहार है।

यदि व्यवहारके निमित्तको पकड़े और निश्चयको न पकड़े तो जैसा ऊपर [illegible] है वैसे अनेक भ्रम उत्पन्न होसकते हैं। क्योंकि व्यवहारसे कहा जाता है कि–यह भगवानका शरीर है, किन्तु परमार्थसे भगवान और शरीर दोनों पृथक् हैं।

"हाथीके दांत खानेके और दिखानेके और" होते हैं इसीप्रकार शास्त्रके कथनका भेद समझनेका प्रयत्न करना चाहिये। शास्त्रमें व्यवहारका कथन बहुत होता है, किन्तु जितने व्यवहारके-निमित्तके कथन होते हैं वे अपने गुणमें काम नहीं आते अर्थात् पेट भरनेमें काम नहीं आते, मात्र वे बोलनेमें काम आते हैं। आत्मा परमार्थसे परसे भिन्न है-ऐसी श्रद्धा करके उसमें लीन हो तो आत्मजागृति हो। जो परमार्थ है सो व्यवहारमें- बोलनेमें काम नहीं आता, किन्तु उसके द्वारा आत्माको शांति होती है, ऐसा यह प्रगट नयविभाग है।

ऐसे नयविभागको न समझकर मात्र व्यवहारको ही पकड़कर कहता है कि-हम परदुःखभंजन हैं। किन्तु वास्तवमें इसका अर्थ तो यह है कि-स्वयं दूसरेके दुःखको देखकर कातर होजाता है, और उस वेदनाको स्वयं सहन नहीं कर सकता इसलिये उसे मिटानेके लिये अपना समाधान करता है और बीचमें दूसरे निमित्तरूपसे आते हैं। जब बीचमें दूसरेका निमित्त आता है, तब लोगोंको यह दिखाई देता है कि इसने उसका दुःख दूर किया है; किन्तु कोई परका दुःख दूर नहीं कर सकता। निम्नभूमिकामें शुभाशुभभाव आये विना नहीं रहते, इसलिये स्वयं अपने भावका ही समाधान करता है।

प्रश्नः—यदि आंखें बन्द करके बैठे तो आत्मप्रतीति होगी या नहीं?

उत्तरः—आंखें बन्द करनेसे क्या होनेजाने वाला है। यदि अन्तरंगके ज्ञाननेत्रोंको जागृत करे तो राग-द्वेष न हो। जो वीतराग निर्विकल्प आनन्दगुण है वही गुण विकारी होता है, परसे विकार नहीं होता; इसे न समझे और आंखें बन्द करके बैठा रहे या कानमें खीले ठोककर बैठ जाये तो वह केवल भ्रांति है। जो यह मानता है कि-आंखें बन्द कर लेनेसे रूप नहीं दिखाई देगा, और कानोंमें खीले ठोकनेसे शब्द नहीं सुनाई देगा, अर्थात् तत्सम्बन्धी राग-द्वेष नहीं होगा; तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि उसने यह माना है कि परपदार्थ मुझे राग-द्वेष कराता है, और ऐसा माननेवाले

ने निमित्त पर भार दिया है। आँखें वन्द करके और कान वन्द करके तो वृक्ष भी खड़े हुए हैं (वृक्षके आँख कान होते ही नहीं हैं) इसलिये उन्हें भी राग-द्वेष नहीं होना चाहिये, किन्तु स्वयं ही अपने स्वभावको भूलकर परमें भटक रहा है इसलिये राग-द्वेष होता है; कोई दूसरा-परपदार्थ राग-द्वेष नहीं करा देता। आत्मा एक अखण्ड ज्ञानस्वभावी है, उसे अपनेमें न जानकर, अपने विकासको भूलकर विकारमें लग जाना ही परमार्थतः बन्धन है।

व्यवहारनय परकी अपेक्षासे एकक्षेत्रमें रहना बतलाकर उपचारसे यह कहता है कि शरीर और आत्मा एक है, अतः व्यवहारनयसे ही शरीरके स्तवनसे आत्माका स्तवन होता है।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि हे भगवान! आप एकबार आत्माको अलग कहकर फिर व्यवहारसे ऐसी स्थिति सिखलाते हो सो यह कुछ मेरी समझमें नहीं आता, हम तो सरल और सीधी बात समझ सकते हैं।

आचार्य कहते हैं कि जो परपदार्थ है वह त्रिकालमें भी कभी अपना नहीं होता, इसलिये परको अपना बनाना ही दुर्लभ है और अपना स्वभाव जोकि अपने ही पास है उसे समझना ही सरल है, किन्तु अनादिकालीन अनभ्यासके कारण वह कठिन मालूम होता है।

जो शरीर वाणी और रंग-रूपको आत्मा कहा है सो तो व्यवहारसे बोलनेकी रीति है। जैसे भगवान पार्श्वनाथ कृष्णवर्ण थे, भगवान नेमिनाथ श्यामवर्ण थे और भगवान महावीर स्वर्णवर्ण थे, यह सब व्यवहारसे कहा जाता है किन्तु शरीर और आत्मा तीनलोक और तीनकालमें कभी भी एक नहीं है। भगवानकी प्रतिमाकी ओर देखकर कहता है कि हे भगवान! मेरा उद्धार करो! किन्तु वह यह भूल जाता है कि भगवान आपमें स्वयं ही है, और मात्र निमित्त

की ओर देखता है, मानों परपदार्थमेंसे ही गुण–लाभ प्राप्त होता है! किन्तु यह तो विचार कर, कि गुणका सम्बन्ध गुणीके साथ होता है या परके साथ ? स्वयं निर्विकल्प वीतराग स्वरूपमें स्थिर नहीं होसकता इसलिये निमित्तकी ओरका शुभविकल्प उठता है, अतः स्तुतिमें लग जाता है, किन्तु भगवान कौन है, यह प्रतीति हुए विना यह मानना कि परपदार्थसे मुझे गुण–लाभ होता है, सो पराश्रित मिथ्यादृष्टिता है।

भगवानको 'तरणतारण' कहा जाता है, किन्तु जीव तरता तो अपने भावसे ही है, फिर भी वीतरागके प्रति बहुमान होनेसे विनय-पूर्वक यह कहा जाता है कि हे भगवान ! आपने मुझे तार दिया। जब अपनेमें तरनेका उपाय जान लिया तब निमित्तमें उपचारसे कहा जाता है। स्वयं अभी अपूर्ण है और वीतराग होनेकी तीव्र आकांक्षा है इसलिये देव-गुरु-शास्त्रके प्रति बहुमान हुए विना नहीं रहता, विनय हुए विना नहीं रहती। ऐसा नयविभाग है।

अभी तक आचार्यदेवने यह कहा है कि शरीर और आत्मा दोनों पृथक् हैं, क्योंकि यह शरीरादि तो अजीव जड़वस्तु है और वह रूपी है; तथा आत्मा चैतन्य एवं अरूपी है। उसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र, बल इत्यादि अनन्तगुण अरूपी हैं; आत्मा स्वयं अरूपी है, उसके गुण अरूपी हैं, और उसकी पर्याय भी अरूपी है, तथा शरीरादिक जड़ हैं जोकि रूपी हैं; इसलिये दोनों पदार्थ अलग हैं। इसलिये शरीरसे अरूपीको कोई लाभ नहीं होसकता और उस शरीरसे धर्म भी नहीं होता। आत्मा ज्ञाता–दृष्टा पूर्ण वीतरागस्वरूप है, यदि उसको पहिचान-कर उसमें स्थिर हो तो धर्म हो। २७।

शिष्यने प्रश्न किया था कि हे प्रभु ! आपने तो जड़ और आत्मा दोनोंको पृथक् कहा है, और मात्र आत्माके ही गीत गाते हैं, किन्तु प्रभो ! आप भी भगवानकी स्तुति करते [illegible] ऐसी उपमाएँ देते हैं कि–आपका मुख [illegible]

और शरीरको एक स्थान पर रहनेका जो सम्बन्ध है सो द्रव्यकी अपेक्षासे नहीं, किन्तु पर्यायकी अपेक्षासे है; किन्तु एकक्षेत्रमें रहने पर भी दोनों पृथक् हैं।

मुनिगण और ज्ञानीजन शरीरके द्वारा भगवानकी स्तुति करते हैं, किन्तु उन्हें अन्तरमें यह प्रतीति वर्तती है कि भगवान देहसे अलग हैं, भगवानका आत्मा और भगवानका शरीर दोनों एक क्षेत्रमें रह रहे हैं इसलिये शरीरका आरोप भगवानके आत्मा पर करके उनकी स्तुतिमें यह कह दिया जाता है कि भगवान स्वर्णवर्ण हैं। वास्तवमें तो भगवान देहसे सर्वथा भिन्न हैं। भगवानकी जो वाणी खिरती है सो वह भी उनकी इच्छाके बिना ही खिरती है। जो वाणी खिरती है उसमें भगवानकी उपस्थितिमात्रका सम्बन्ध है, इसलिये ऐसा उपचारसे कहा जाता है कि हे नाथ! आप दिव्यवाणीकी अमृत-वर्षा करते हैं। जहाँ केवलज्ञान और वीतरागता प्रगट होती है वहीं ऐसी दिव्यवाणीका योग होता है, दिव्यवाणीके समय केवलज्ञानकी विद्यमानताका ही सम्बन्ध है, अर्थात् ऐसी वाणीका योग केवलज्ञानीके अतिरिक्त अन्य किसीके नहीं होसकता। ऐसा निमित्तकी उपस्थिति-मात्रका सम्बन्ध है-यह लक्ष्यमें रखकर श्रावक और मुनिगण विवेक-पूर्वक भगवानके शरीर और उनकी वाणीको निमित्त बनाकर स्तुति करते हैं; ऐसी प्रतीतिपूर्वक होनेवाली स्तुति व्यवहारस्तुति कहलाती है। जहां ऐसी प्रतीति नहीं होती वहांकी जानेवाली स्तुति व्यवहारसे भी स्तुति नहीं है।

भक्तजन स्तुति-पाठमें कहा करते हैं कि 'सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु' अर्थात् हे सिद्ध भगवान! आप हमें सिद्धपद दीजिये। किन्तु भगवान किसीको मुक्ति नहीं दे देते। [illegible] होती है कि यदि साक्षात् सिद्ध भगवान भी उतर आवें तो भी वे किसीको मुक्ति नहीं दे सकते, मैं स्वयं ही ज्ञानमूर्ति पूर्ण सिद्धसमान हूँ, ऐसा मेरा स्वभाव है, मेरे पुरुषार्थके द्वारा ही मेरी सिद्ध पर्याय प्रगट होनेकी

है; वही विनयपूर्वक भगवानको आरोपित करके कहता है कि हे सिद्ध भगवान ! मुझे सिद्धपद दीजिये, और जब इसप्रकार समझपूर्वक स्तुति करता है तब उसकी इस बाह्यस्तुतिको व्यवहार कहा जाता है। ऐसे निश्चयकी प्रतीतिपूर्वक होनेवाले स्तुतिके शुभपरिणाम अशुभसे बचाते हैं, इसलिये व्यवहार कथंचित् सत्य है। जब अन्तरंग आत्मामें परमार्थ-स्तुति प्रगट होती है तब बाह्यस्तुतिको निमित्त कहा जाता है।

अज्ञानीका लक्ष्य मात्र भगवानके शरीर पर ही रहता है, और वह मात्र शारीरिक दृष्टि रखकर ही स्तुति करता है, इसलिये उसकी स्तुति यथार्थ नहीं है; व्यवहारसे भी उसकी स्तुति ठीक नहीं है अज्ञानी मात्र भगवानके पुद्गलरूप शरीर पर ही लक्ष्य रखकर-भगवानके शरीरको ही भगवान मानकर स्तुति करता है; जैसे सोलह भगवान स्वर्णवर्ण और शेष आठ भगवान रक्त, श्याम आदि वर्णके होगये हैं, इसप्रकार अज्ञानी जीव शरीर पर ही लक्ष्य रखकर स्तुति करता है इसलिये उसका व्यवहार भी सत्य नहीं है। इसप्रकारकी स्तुति करते हुए यदि कषायको मंद करे तो शुभभाव होता है और उससे पुण्यबंध होता है, किन्तु आत्मप्रतीतिके बिना भव-भ्रमण दूर नहीं होता।

जिनेन्द्रस्तवनमें अनेक जगह यह कहा जाता है कि स्वर्णवर्ण वाले सोलहों जिनेन्द्रोंकी वंदना करता हूँ; किन्तु वह निमित्तसे कथन है क्या इसका अर्थ यह है कि भगवान वर्णवाले थे ? वास्तवमें भगवान वैसे स्वर्णवर्णके नहीं थे, किन्तु जिन्हें ऐसा भान नहीं है वे अज्ञानी जीव शरीरको ही भगवान मान लेते हैं। भगवान सुवर्ण-वर्ण हैं, चलते हैं, बोलते हैं, इसप्रकार जो एकान्तभावसे मानता है वह व्यवहारको ही परमार्थ मान लेता है; वह शरीरके गुण गाकर भगवानको ही वैसा मान लेता है। इसप्रकार माननेवाला भगवानकी सच्ची स्तुति नहीं कर सकता और न वह वीतरागका भक्त ही है। जगतके अज्ञ जीव व्यवहार और निश्चयमें गड़बड़ करके व्यवहारको ही निश्चय मान लेते हैं।

यदि अज्ञानी जीव ऐसी स्तुति करता हुआ रागको कम करे तो मात्र पुण्यका बन्ध करता है, किन्तु इससे आत्माको कोई लाभ नहीं होता। अज्ञानीके स्तुतिका व्यवहार अर्थात् भगवानके शरीर पर जो आरोप करता है वह भी यथार्थ नहीं है।

जिसे सोनेके पीले गुणके स्वभावकी खबर है वह सोने पर सफेदीका आरोप कर सकता है, किन्तु जिसे यह खबर ही नहीं है कि सोना कैसा होता है उससे आरोप ही क्या होगा? अर्थात् उसका आरोप भी सच नहीं होसकता। इसीप्रकार जिसे ऐसी प्रतीति है कि मेरा आत्मा परसे भिन्न है, ज्ञायकस्वरूप है वह मुनि आदि ज्ञानीजन यह जानते हैं कि भगवानका आत्मा शरीर आदिसे भिन्न है, इसीप्रकार मेरा आत्मा शरीर आदिसे रहित है, इसप्रकार दोनोंको अलग जानकर जो शरीरादिकी स्तुति करता है वही भगवानकी स्तुति कर सकता है, और उसके द्वारा भगवानके आत्मा पर शरीर एवं वाणीका किया गया आरोप भी सच है और वही वीतरागका सच्चा भक्त है। जिसे वस्तु-स्वभावकी प्रतीति है, उसके द्वारा किया गया आरोप भी सच है। आरोपका अर्थ है एक पदार्थमें दूसरे पदार्थको घटित करके कहना, किन्तु जिसे वस्तुके पृथक् स्वभावकी प्रतीति नहीं है वह आरोपको ही वस्तु मान लेता है, इसलिये उसका आरोप ही कहाँ रहा?

भगवान अरूपी हैं और शरीरादिक रूपी हैं, अरूपी भगवान शरीरादि रहित हैं, और जो शरीरादि हैं वह भगवान नहीं हैं। ज्ञानीको यह प्रतीति होती है कि मैं जो शरीरके गुणोंकी स्तुति करता हूँ सो वे परमार्थसे भगवानके गुण नहीं हैं। जिनेन्द्र भगवानके जो वीतरागता सर्वज्ञता, अनन्तचतुष्टय आदि अनन्तगुण हैं, वे जिनेन्द्रदेवके आत्मामें है और शरीरादिसे भिन्न हैं। ऐसे लक्ष्यसहित जैसे जिनवरके गुण हैं वैसे ही गुण मेरे आत्मामें हैं, इसप्रकार जो जिनेन्द्रदेवके गुणोंकी स्थापना अपने आत्मामें करके स्तुति करता है सो वही सच्ची स्तुति है।

रहित शरीरके लक्षणोंसे भगवानकी स्तुति करे तो पुण्यबन्ध करता है, उसकी तो यहाँ वात ही नहीं है।

संसारकी प्रशंसा करनेके और स्त्री-पुत्रादिकी प्रशंसा करनेके भाव निरे पापभाव हैं मात्र अशुभभाव हैं। भगवानके गुणोंकी प्रशंसा और स्तुति करनेके भाव शुभभाव हैं। अशुभभावों को दूर करके शुभभावोंके करनेका निषेध नहीं है, किन्तु यदि यह माने कि उससे धर्म होगा तो वह मिथ्यादृष्टि है। जितनी पुण्यभावकी वृत्ति उत्पन्न होती है वह मैं नहीं हूँ, वह मुझे किंचित्मात्र भी सहायक नहीं है। जिसे यह प्रतीति है कि–मेरा आत्मलाभ पुण्य-पापके विकल्पसे रहित है, उसे भगवानकी ओर उन्मुख होनेका शुभभाव होता है; इसे समझना सो सच्चा व्यवहारनय है।

शिष्यने प्रश्न किया था कि जड़की स्तुति करनेका क्या फल है? उसका उत्तर यह है कि–साक्षात् जिनेन्द्रदेव या उनकी प्रतिमा शांतमुद्रा को देखकर अपने को भी शांतभाव होता है, ऐसा निमित्त जान कर शरीरका आश्रय लेकर भी स्तुति की जाती है। वीतरागकी शांतमुद्राको देखकर अन्तरंगमें वीतरागभावका निश्चय होता है, यह भी उपकार (निमित्त) है। छद्मस्थको अरूपी आत्मा प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता, किन्तु उसकी प्रतीति होसकती है, इसलिये भगवानकी प्रतिमा की अक्रिय मुद्राको देखकर अपने आत्माके अक्रिय स्वभावका निश्चय होता है। अपने अक्रिय स्वभावका तथा वीतराग स्वभावका निश्चय हुआ और स्वमें स्थिर हुआ सो यह अपने ही वीर्यसे होता है, उसमें निमित्तने कुछ नहीं किया किन्तु उससमय भगवानकी मुद्राकी निमित्तरूप उपस्थिति होनेसे भगवान सम्यक्दर्शन होनेमें कारण (निमित्त) कहे जाते हैं, यह भी एक उपकार (निमित्त) है।

ज्ञानीको स्वभावकी शांति प्रगट होती है, उसे भगवानकी शांति, उनकी अक्रियता और वीतरागी मुद्रा देखकर अपनेमें शांतभाव होता है;

और ऐसी प्रतीति होती है कि मैं तो अक्रिय ज्ञानानन्द हूँ, मन-वाणीकी क्रियारूप नहीं हूँ; तथा वहाँ भगवानकी ओर उन्मुख होता हुआ शुभलक्ष्य है, किन्तु भगवानकी निमित्तरूप उपस्थितमें उनकी वीतरागताको देखकर अपनी वीतरागताका स्मरण स्वतः हो आता है, और तब अपने द्वारा अपना लक्ष करके अन्तरंग वीतरागभावमें स्थिर होजाता है, अर्थात् शुभभाव छूट जाता है। इस अपेक्षासे भगवानकी और उनकी प्रतिमाको शांतभाव प्रगट होनेमें निमित्त कहा जाता है। यदि इसमें कहीं कोई शब्द उल्टा-सुलटा होजाये तो सारा न्याय ही बदल सकता है। तीनकाल और तीनलोकमें यह सत्य नहीं बदल सकता।

धर्मात्मा जब परलक्षको छोड़कर और विकल्पको तोड़कर अन्तरंगमें स्थिर होते हैं तब भगवानकी ओरका विकल्प नहीं रहता। स्वोन्मुखतासे परोन्मुखताको छोड़कर अपने पुरुषार्थसे शांति प्रगट हो तो जो भगवानकी ओरका बाह्यलक्ष किया था उस बाह्यलक्षको और भगवानको उपचारसे निमित्त कहा जाता है, किन्तु जिसे भगवानकी मुद्रा देखकर अक्रिय स्वभावका निश्चय नहीं हुआ और शांतभाव प्रगट नहीं हुआ उसे भगवानका निमित्त कैसा? यदि स्वयं समझे तो भगवान निमित्त कहलाते हैं। २८।

अब इस गाथामें कहते हैं कि शारीरिक गुणोंका स्तवन करनेसे परमार्थतः केवली भगवानके गुणोंका स्तवन नहीं होता:—

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणो थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥२९॥

तन्निश्चये न युज्यते न शरीरगुणा हि भवन्ति केवलिनः।
केवलिगुणान् स्तौति यः स तत्त्वं केवलिनं स्तौति ॥२९॥

अर्थः—वह स्तवन निश्चयसे योग्य नहीं है क्योंकि शरीरके जो गुण हैं वे केवलीके नहीं हैं; जो केवलीके गुणोंकी स्तुति करता है वह परमार्थसे केवलीकी स्तुति करता है।

जैसे चाँदीके सफेद गुणका सोनेमें अभाव है, इसलिये निश्चयसे सफेदीके नामसे सोनेका नाम नहीं बनता, किन्तु सोनेके पीत आदिक जो गुण हैं उन्हींके नामसे सोनेका नाम होता है; इसीप्रकार शरीरके गुण जो शुक्लता-रक्तता इत्यादि हैं उनका तीर्थंकर-केवली पुरुषमें अभाव है, इसलिये निश्चयसे शरीरके शुक्लता-रक्ततादि गुणोंका स्तवन करनेसे तीर्थंकर-केवली पुरुषका स्तवन नहीं होता; किन्तु तीर्थंकर-केवली पुरुषके स्तवन करनेसे ही तीर्थंकर-केवली पुरुषका स्तवन होता है।

जैसे चाँदीका गुण सफेद है, इसलिये सोनेमें चाँदीपनके गुणका अभाव है, इसीप्रकार भगवानके शरीरमें जो एक हजार आठ लक्षण हैं वे भगवानके आत्मामें नहीं होसकते। वाणी वाणीमें है, और शरीरके गुण शरीरमें हैं। वह जड़ है इसलिये शरीरका और वाणीका कोई कर्तव्य भगवानके आत्मामें नहीं होसकता, इसलिये परमार्थसे उस शरीरादिकी स्तुति या भक्ति भगवान की नहीं है, किन्तु भगवानके गुणोंकी स्तुति भगवानकी स्तुति है। देव-गुरु-शास्त्रकी ओर होनेवाले जो भाव हैं उन्हें छोड़कर स्वभावकी यथार्थ श्रद्धाके साथ स्वरूपमें स्थिर होना सो यही सच्ची परमार्थस्तुति और भक्ति है, यही सच्चे व्रत हैं। वास्तवमें तो स्वयं ही चिदानन्द है और परसे अलग है, जब ऐसी श्रद्धा करे तब उसके बाद स्तुतिका जो शुभभाव आता है उसके व्यवहारसे बाह्यमें केवलीके गुण गाता है,-ऐसा कहा जाता है, किन्तु निश्चयसे तो अपने गुणोंकी ही स्तुति करता है।

शरीरका स्तवन करनेसे भगवानका स्तवन नहीं होता, परन्तु भगवानके आत्माके गुणोंका स्तवन करने पर भगवानका स्तवन होता है। यदि वास्तवमें देखा जाये तो भगवानके गुणोंका स्तवन करने पर निश्चयसे अपने आत्माका ही स्तवन होता है और यही सच्ची परमार्थस्तुति है। इसप्रकार शरीरके स्तवनसे भगवानका स्तवन नहीं होता किन्तु भगवान आत्माके गुणोंका जो स्तवन

है सो वही परमार्थसे भगवानका स्तवन है और जो भगवानके गुणोंका स्तवन है सो अपने आत्माका स्तवन है, और यही सच्ची स्तुति है। अखण्डस्वभावकी जो स्तुति है सो केवली भगवानकी स्तुति है। जो स्वरूपमें स्थिर होता है वह केवलीके गुण गाता है, अर्थात् वह स्वयं ही अंशतः केवली होता है, यही वास्तवमें परमार्थ-स्तुति है। भगवानकी ओरका जो भाव है सो परोन्मुखताका राग भाव है, उसे छोड़कर स्वयं ही अंशतः वीतराग होना सो यही निश्चय-स्तुति है। स्वयं अपनेमें स्थिर हुआ सो स्वयं ही परमार्थसे अंशतः भगवान होता है, यही परमार्थभक्ति है। जब भगवानके गुणगान करता है तब जो स्वभावकी दृष्टि उपस्थित होती है सो वह धर्म है और जो शुभभाव होता है उतना पुण्य है।

भक्ति कहो या स्तुति कहो, बाह्य दया कहो या व्रतके परिणाम कहो, यह सब शुभभाव हैं, विकार हैं। जो विकार हैं सो निर्मल निर्विकारी स्वभावकी हत्या करनेवाले हैं। जैसे अच्छा रक्त निरोगताका चिन्ह है, और उसमें जो मवाद पड़जाता है सो रोग है, इसलिये जितना मवाद होता है वह निकाल देना पड़ता है; इसीप्रकार आत्मा वीतराग स्वभाव है, उसमें जितना राग होता है उतना मवाद है-विकार है, उसे दूर कर देने पर ही आत्माकी पूर्ण निर्मलता और निरोगता होती है, किन्तु स्वभावमें स्थिर हो पाता इसलिये शुभका अवलम्बन लेना पड़ता है, वह आत्माके स्वभावकी हत्या करनेवाला है।

धर्म क्या है? वह कहां है? यह बात लोगोंने अनादिकालसे कभी नहीं सुनी, इसलिये उन्हें यह नहीं मालूम होसकता है कि धर्म कैसा होता है? धर्मके नामपर जगतमें अनेक प्रकारकी गड़बड़ चल रही है। प्रायः लोग बाह्यक्रियासे धर्म मान रहे हैं, किन्तु बाह्य-क्रियासे आत्माको तीनकाल और तीनलोकमें कोई भी लाभ नहीं होता। पुण्यभाव तो मवाद है-विकार है, उससे, मवाद ही फलित होता है। धर्म तो तभी होता है जब परसे रहित अपने स्वभावको पहिचाने।

इन प्रश्नोंके उत्तरस्वरूप दृष्टांतसहित गाथा कहते हैं:—

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि ।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥ ३० ॥

नगरे वर्णिते यथा नापि राज्ञो वर्णना कृता भवति ।
देहगुणे स्तूयमाने न केवलिगुणाः स्तुता भवंति ॥ ३० ॥

अर्थः—जैसे नगरका वर्णन करने पर भी राजाका वर्णन नहीं होता, उसीप्रकार देहके गुणोंका स्तवन करनेसे केवलीके गुणोंका स्तवन नहीं होता ।

जैसे कोई नगरका वर्णन करे कि नगर ऐसा सुन्दर है, नगरमें ऐसे बाग-बगीचे हैं और नगरके ऐसे सुन्दर बाजार हैं, किन्तु इसप्रकार नगरके गुण गानेसे राजाका गुण गान नहीं होता । ऐसे सुन्दर नगरका जो राजा राज्य करता हो वह यदि अधर्मी हो, लोभी हो, प्रजा पर अनुचित कर डालकर अपना बड़प्पन बढ़ाता हो, तो उसकी नगरीकी प्रशंसा करनेसे राजाकी प्रशंसा नहीं होती, और यदि राजा अच्छा हो तो भी नगरीकी प्रशंसासे राजाकी प्रशंसा नहीं होती; क्योंकि नगर और राजा दोनों भिन्न हैं ।

राजामें अनेक प्रकारके अवगुण हों या अनेक प्रकारके गुण हों, किन्तु नगरीकी प्रशंसामें राजाके गुण-दोष नहीं आते । कोई कहता है, कि ऐसा अधर्मी राजा हमें नहीं चाहिये और कोई कुछ कहता है । इसप्रकार लोग दूसरेका दोष निकालते हैं किन्तु अपना दोष नहीं देखते । अपने पुण्यकी कमीके कारण ऐसे निमित्त मिलते हैं, इसलिये अपना ही दोष समझना चाहिये ।

राजाके अधर्मी होनेपर भी [illegible] कहते हैं कि महाराजाधिराज, [illegible] आदि [illegible], किन्तु ऐसे लम्बे-लम्बे विशेषणोंसे राजा गुणवान नहीं कहलाता । [illegible]

नीतिवान हो, उदार हो, शीलवान हो, परस्त्रीका त्यागी हो, उसे परस्त्री माता-बहिनके समान हो, प्रजाका प्रतिपालक हो, प्रजाके प्रति पिताकी भाँति स्नेह रखनेवाला हो, इत्यादि लौकिक गुण राजामें हों तो कहा जाता है कि यह रामराज्य है। इसप्रकार राजा ऐसा गुणवान हो तो उसके ऐसे गुणगान करने पर राजाके गुण गाये जाते हैं, किन्तु नगरीकी प्रशंसासे राजाकी प्रशंसा नहीं होती।

इसीप्रकार शरीरके स्तवनसे केवली भगवानका स्तवन नहीं होता, क्योंकि शरीर और आत्मा भिन्न हैं। वस्तु, गुण और पर्यायभेद-तीनोंप्रकारसे शरीर और आत्मा भिन्न हैं, इसलिये शरीरका अधिष्ठाता आत्मा नहीं है, शरीर तो परमाणुओंकी एक पर्याय है, परमाणु वस्तु है और रंग गंध आदि उसके अनन्तगुण हैं और लाल, पीला सुगन्ध, दुर्गन्ध, उस रंग और गन्ध गुणकी पर्यायें हैं। वस्तु और गुण स्थायी हैं और पर्याय क्षण-क्षणमें बदलती रहती है। जैसे-रोटियाँ जब डिब्बेमें रखी थीं तब परमाणुकी अवस्थासे वे रोटीरूप थीं और जब वे रोटियाँ पेटमें चली गईं तो उनकी पर्याय बदलकर इस शरीररूप होगई। शरीर उन परमाणुओंकी अवस्था है, इसलिये उनका कार्य स्वतंत्रतया अपने कारणसे होता है, आत्माके कारणसे नहीं होता। इसलिये आत्मा उन शरीरकी अवस्थाका कर्ता नहीं है।

अवस्थाका कर्ता नहीं होता। लोगोंने भ्रान्तिवश आत्माको परका कर्ता मान रखा है, किन्तु जड़ शरीरादिका कर्ता आत्मा त्रिकालमें भी नहीं है। शरीर और आत्मा वस्तुदृष्टिसे, गुणदृष्टिसे और पर्याय-दृष्टिसे-सभी प्रकार भिन्न है, इसलिये शरीरके स्तवनसे आत्माका स्तवन नहीं होता।

जात-पाँत ब्राह्मण वैश्य इत्यादि सब शरीरकी अवस्थाएँ हैं। मैं वणिक हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं अग्रवाल हूँ, मैं खंडेलवाल हूँ, इत्यादि शरीरकी अवस्थाओंको आत्मरूप मानना सो अज्ञान है-मिथ्यात्व है क्योंकि आत्मा न तो वणिक है, न ब्राह्मण है और न किसी जात-पाँत वाला है, आत्मा तो इन समस्त जातियोंसे रहित, स्वाभाविक ज्ञान स्वाभाविक आनन्द और स्वाभाविक वीर्यकी मूर्ति है। यदि उसे उस स्वभावसे देखे तो वैसी उसकी निर्मलता प्रगट हो।

समस्त आत्मा द्रव्य और गुणोंमें समान हैं, किन्तु आत्मप्रतीति करे तो मुक्ति और उसे भूले तो संसार है। यदि विकारकी दृष्टिको छोड़ दे तो आत्मा निर्मल ही है, किन्तु परपदार्थ पर दृष्टि रखनेसे विकार होता है। दृष्टिके बदलनेसे ही संसार होता है और दृष्टिके बदलनेसे ही मोक्ष मिलता है।

जगतको ऐसा मिथ्याविश्वास जम गया है कि-आत्माकी जैसी आज्ञा या जैसी इच्छा होती है तदनुसार आत्मामें क्रिया होती है। लोग यह मानते हैं कि हाथ पैरोंका हिलना, आंखोंका फिरना और बोलचाल इत्यादि सब हम ही कर सकते हैं; किन्तु हे भाई! मात्र शरीरके रजकणोंकी अवस्था तो शरीरके कारणसे होती है। रक्तका चढ़ना, कफ निकलना, पसीना निकलना इत्यादि शरीरके ही परिवर्तन-से होता है। बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था भी शरीरके अपने कारणसे होती है। बाल्यावस्था अर्थात् शरीरकी कोमल अवस्था, युवा-वस्था अर्थात् रक्त मांसादिकी पुष्ट अवस्था, वृद्धावस्था अर्थात् रक्त-मांस की शिथिल अवस्था। यहां विचार यह करना है कि युवावस्थाको छोड़-

गया है, तथा कोटके चारों ओर जो खाईयाँ हैं उनके घेरेसे मानों पातालको ही पी रहा है। अर्थात् नगरका गढ़ बहुत ऊँचा है, चारों ओर बगीचोंसे पृथ्वी ढँकी हुई है, और उसकी खाई बहुत गहरी है।

यह नगर ऐसा है कि जिसका कोट मानों आकाश तक पहुँच गया है, और यह नगर बाग-बगीचोंकी पंक्तियोंसे भूमितलको निगल गया है, अर्थात् बगीचोंके कारण भूमितल दिखाई नहीं देता, और चारों ओर खाई इतनी गहरी है कि मानों वह पाताल तक पहुँच गई हो। यहाँ आचार्यदेवने ऊर्ध्व, मध्य और अधः इसप्रकार तीनों ओरसे नगरीको उपमा दी है।

ऊर्ध्व—चारों ओरसे गढ़ मानों आकाशतक पहुँच गया हो।

मध्य—सम्पूर्ण भूमि मानों बगीचोंसे ढँक गई हो।

अधः—चारों ओरकी खाई इतनी गहरी है कि मानों वह पाताल तक चली गई हो।

इसप्रकार नगरीका भलीभांति वर्णन किया किन्तु इससे वहाँ राजाका वर्णन नहीं होसकता, नगरके निमित्त संयोगके कारणसे राजा उसका अधिष्ठाता व्यवहारसे कहलाता है; तथापि राजाको ऐसा अभिमान होता है कि मैं इस नगरीका मालिक हूँ इसलिये यह कहा जाता है कि राजा उसका अधिष्ठाता है; किन्तु राजाके शरीरमें या उसके आत्मामें नगरका कोट बाग या खाई आदि कुछ भी नहीं पाया जाता। नगर और राजा दोनों भिन्न-भिन्न ही हैं।

शरीररूपी नगरीके स्तवनसे भी आत्माका स्तवन नहीं होता। यह, भगवानके शरीरका वर्णन करके इस कलश द्वारा बतलाते हैं:-

नित्यमविकारसुस्थितसर्वाङ्गमपूर्वसहजलावण्यम्।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति ॥ २६ ॥

अन्य द्रव्योंका सम्बन्ध तोड़कर (सम्बन्धका लक्ष छोड़कर) मात्र द्रव्यको अलग लक्षमें ले तो द्रव्यदृष्टि हुई, और द्रव्यदृष्टिमें विकार नहीं होता। यही सच्ची स्तुति है।

टीका:—'णाणसहावाधिअं' अर्थात् ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्य द्रव्यसे अलग-ऐसा कहकर द्रव्यदृष्टि कराई है द्रव्यदृष्टिका करना ही जितेन्द्रियता है। जब द्रव्यदृष्टि करके अपने ज्ञानस्वभावको लक्षमें लिया तब इन्द्रियोंका अवलम्बन छूट गया, मन सम्बन्धी बुद्धिपूर्वक विकल्प छूट गये और परद्रव्योंका लक्ष भी छूट गया; इसप्रकार द्रव्य-दृष्टि होनेपर द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और इन्द्रियोंके विषयभूत परद्रव्योंसे -सबसे अधिक हुआ-अलग हुआ सो वही जितेन्द्रियता है। द्रव्यदृष्टिके द्वारा ज्ञानस्वभावका अनुभव करनेपर विकारसे किंचित्‌मात्र (दृष्टिकी अपेक्षासे) अलग हुआ सो वही वीतरागकी स्तुति है। वीतराग-केवलज्ञानी विकार रहित हैं और उनकी निश्चय-स्तुति भी विकार-रहितताका ही अंश है।

प्रश्न:—यदि कोई जीव ज्ञानस्वरूप आत्माको न पहिचाने और शुभभावसे भगवानकी स्तुति किया करे, तो वह व्यवहार-स्तुति कहलायेगी या नहीं?

उत्तर:—भगवान कौन हैं और स्वयं कौन है, यह जाने बिना निश्चय और व्यवहारमेंसे कोई भी स्तुति नहीं होसकती। शुभभाव करके कषायोंको मन्द करे तो उससे पुण्यबन्ध होता किन्तु आत्माकी पहिचानके बिना, मात्र शुभरागको व्यवहारस्तुति नहीं कहा जासकता। जगतके पापभावोंको छोड़कर भगवानकी स्तुति, वंदना, पूजा इत्यादि शुभभाव करनेका निषेध नहीं है किन्तु मात्र शुभमें धर्म मानकर उसीमें संतुष्ट न होकर आत्माका परिचय करनेकी बात कहता है, क्योंकि आत्माको पहिचाने बिना अनन्तबार शुभभाव किये तथापि भवका अन्त नहीं आया। जो पहले अनन्तबार कर चुका है उस शुभ-

को धर्ममें [illegible] नहीं है, किन्तु जिसे [illegible]
ऐसा सम्पूर्ण आत्मज्ञान करके [illegible] है।

यहाँ निश्चयस्तुति और व्यवहारस्तुतिकी बात की गई है। जीव रागसे अलग होकर अपने ज्ञानस्वभावके अनुभवमें स्थिर हुआ सो निश्चयस्तुति है, और ज्ञानस्वभावकी प्रतीति होने पर भी अस्थिरताके कारण स्तुतिके रागकी वृत्ति उत्पन्न होती है; किन्तु ज्ञानीके उस वृत्तिका निषेध होता है, इसलिये वह व्यवहारस्तुति कहलाती है। परन्तु अज्ञानी उस वृत्तिको ही अपना स्वरूप मान लेता है और वृत्तिसे पृथक् स्वरूपको नहीं मानता इसलिये उसकी शुभवृत्ति व्यवहारस्तुति भी नहीं कही जासकती। विकल्पको तोड़कर ज्ञानस्वभावको रागसे अलग अनुभव करता है सो वह निश्चयस्तुति है, क्योंकि उसमें राग नहीं है। और जीवको आत्माके ज्ञानस्वभावका परिचय होनेके बाद रागकी शुभवृत्ति उद्‌भूत होती है, उसे ज्ञानस्वभावमें स्वीकार नहीं करता, किन्तु वहाँ रागका निषेध करता है, इसलिये उसकी व्यवहार-स्तुति कही जाती है। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि मात्र रागको व्यवहार नहीं कहा है, किन्तु रागरहित स्वभावकी श्रद्धाके बलसे रागका निषेध पाया जाता है तब रागको व्यवहार कहते हैं। अज्ञानीको रागरहित स्वरूपकी खबर नहीं है इसलिये वास्तवमें उसके व्यवहार भी नहीं होता। निश्चयकी प्रतीतिके बिना, परकी भक्ति, रागकी और मिथ्यात्वरूप अज्ञानकी ही भक्ति है, अर्थात् संसारकी ही भक्ति है, उसमें भगवानकी भक्ति नहीं है।

स्तुति कौन करता है ? स्तुति पुण्य-पापकी भावनासे रहित शुद्धभाव है। आत्माकी पहिचानपूर्वक और रागरहित जितनी स्वरूपमें एकाग्रता की जाती है उतनी ही सच्ची स्तुति है, जो रागका भाव है सो वह स्तुति नहीं है। सच्ची स्तुति तो साधक-धर्मात्माके ही होती है। जिसे आत्मप्रतीति नहीं है उसके सच्ची स्तुति नहीं होती, तथा जो आत्मप्रतीति करके पूर्णदशाको प्राप्त हुए हैं उन्हें

स्तुति करनेकी आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि वे स्वयं ही पूर्णदशाको प्राप्त होगये हैं, अब उससे आगे कोई ऐसी दशा नहीं है जिसकी प्राप्तिके लिये वे स्तुति करें। जिसने पूर्णस्वरूपकी प्रतीति तो की है किन्तु पूर्णदशा प्रगट नहीं हुई है, ऐसे साधक जीव स्तुति करते हैं। इसप्रकार चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यक्‌दृष्टिसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक स्तुति होती है, बारहवें गुणस्थानके बाद स्तुति नहीं होती। चौथे-से बारहवें गुणस्थान तक स्तुतिके तीन प्रकार हैं-चतुर्थ गुणस्थानमें जघन्य स्तुति प्रगट होती है और बारहवें गुणस्थानमें उत्कृष्ट स्तुति होती है, तथा बीचके गुणस्थानोंमें मध्यम स्तुति होती है। स्तुति करनेवाला कौन है यह जाने बिना सच्ची स्तुति नहीं होती।

इस गाथामें पहली-प्रारंभिक स्तुतिका स्वरूप बताया है। राग-से अलग ज्ञानस्वभावको जानना ही प्रथम स्तुति है। 'अधिक ज्ञान-स्वभाव' कहनेसे ज्ञानमें विकार नहीं रहा, इन्द्रियोंका अवलम्बन नहीं रहा और अपूर्णता भी नहीं रही, मात्र परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव ही लक्षमें आया सो यह पहली स्तुति है, यहींसे धर्मका प्रारम्भ होता है।

देव-गुरु-शास्त्रकी ओरका प्रेम सच्ची स्तुति नहीं है। जो यह मानता है कि देव-गुरु-शास्त्रकी ओरका जो शुभराग होता है उससे आत्माको लाभ होता है, वह रागकी भक्ति करता है, रागके साथ एकता करके आत्माकी भक्ति नहीं करता। जितनी [illegible] करके आत्माके साथ एकता प्रगट की जाती है उतनी ही निश्चय स्तुति है, किन्तु जितना परलक्ष है उतना राग है। अज्ञानीको आत्मा-की प्रतीति ही नहीं है इसलिये उसे आत्माकी भक्ति नहीं है, प्रत्युत वह प्रतिक्षण अनात्माकी-विकारकी ही भक्ति कर रहा है।

भक्तिका अर्थ है भजना। प्रत्येक जीव प्रति समय भक्ति तो करता ही है, किन्तु अज्ञानी जीव जड़की और विकारकी ही भक्ति करता है, तथा ज्ञानी अपने वीतराग स्वभावकी भक्ति करता है। [illegible]

में अपनेको ही भजना होता है, और व्यवहारमें परलक्ष होता है। जब आत्माको निश्चय स्वरूपकी प्रतीति हो किन्तु अभी स्वरूपमें स्थिरता न कर सके तब पूर्णताकी भावना करने पर रागके द्वारा वीतराग भगवान पर लक्ष जाता है, उस रागका भी आदर नहीं है इसलिये उसके व्यवहारस्तुति है। निश्चयस्तुतिमें सबका लक्ष छूटकर मात्र स्वरूपमें ही एकाग्रता होती है। (यहाँ निश्चय भक्ति और निश्चयस्तुति दोनोंको पर्यायवाची समझना चाहिये।)

यहाँ कोई यह कह सकता है कि यह बात तो बहुत कठिन है, यह हमसे नहीं होसकती, उसके समाधानार्थ कहते हैं कि-हे भाई! यह बात कठिन नहीं है, पहले तू सच्ची जानकारी प्राप्त कर, अपने ज्ञानस्वभावकी प्रतीति कर। अनन्त धर्मात्मा क्षणभरमें अपने भिन्नतत्व-की प्रतीति करके स्वरूपकी एकाग्रतारूप निश्चयस्तुति करके मोक्षको प्राप्त हुए हैं, वर्तमानमें ऐसी ही प्रतीति करनेवाले अनेक जीव हैं, और भविष्यमें भी अनन्त जीव ऐसे ही होंगे; इसलिये इसमें अपना स्वरूप समझने की ही बात है। स्वरूप न समझा जासके ऐसा नहीं है। तू राग तो कर सकता है, और रागको अपना मान रहा है, तब फिर रागसे अलग होकर, ज्ञानके द्वारा आत्माको पहिचानना और रागको अपना न मानना तुझसे क्यों नहीं होसकता? जितना तुझसे होसकता है उतना ही कहा जारहा।

अपने ज्ञानस्वभावकी श्रद्धा और ज्ञानके बिना कोई जीव भगवानकी सच्ची स्तुति या भक्ति कर ही नहीं सकता; यदि वह बहुत करे तो अज्ञानभावसे दान-पूजा द्वारा लोभको कम करके पुण्यबन्ध कर सकता है, किन्तु उसे व्यवहारसे भी भक्ति नहीं कह सकते, क्योंकि वह पुण्यको अपना मानता है, और इसीलिये वह प्रतिक्षण मिथ्यात्व-के महापापका सेवन कर रहा है। ज्ञानी समझता है कि मैं ज्ञानस्वभाव हूँ, एक रजकण भी मेरा नहीं है, जो राग होता है वह मेरा स्वरूप नहीं है, परपदार्थके साथ मेरा सम्बन्ध नहीं है, समस्त परपदार्थोंसे

ही नहीं है। भले ही विकार हो किन्तु आत्माका ज्ञान तो उससे भिन्न रहकर जान लेनेवाला है, विकारमें ज्ञान ढंक नहीं जाता जैसे किसी हीरेको सात डिब्बियोंके बीच रख दिया जाये तो यह कहा जाता है कि हीरा ढंका हुआ है, किन्तु उसका ज्ञान नहीं ढंकता। ज्ञानमें तो हीरा स्पष्ट झिलमिला रहा है, अर्थात् हीरा सम्बन्धी ज्ञान तो प्रगट ही है, ज्ञान ढंका हुआ नहीं है। शरीर और कर्म दोनोंको जाननेवाला चैतन्यस्वभाव प्रगट ही है।

पहले २३-२५ वीं गाथामें कहा था कि वेगपूर्वक वहते हुए अस्वभावभावोंके संयोगवश अज्ञानी जीव पुद्गल द्रव्यको 'यह मेरा है' इसप्रकार अनुभव करता है, किन्तु उसे अपना चैतन्यस्वभाव अनुभवमें नहीं आता। वहाँ अस्वभावभावोंको 'वेगपूर्वक वहता हुआ' विशेषण दिया है, अर्थात् वे प्रतिक्षण वदलते ही रहते हैं। जो क्षायोपशमिक ज्ञान है सो वह भी वदलता है, शुभाशुभ इच्छा भी वदलती है, और वाह्य क्रियाएँ भी वदलती हैं, तव सदा एकरूप स्थिर चैतन्यभावको न जाननेवाले अज्ञानीको ऐसा प्रतिभासित होता है कि-इस सारी क्रियाका कर्त्ता मैं ही हूँ, और ज्ञान तथा राग एकत्रित ही हैं।

प्रतिक्षण इच्छा वदले और जो इच्छा हो उसे ज्ञान जाने, इसप्रकार ज्ञानका परिणमन होता रहता है, और जैसी इच्छा होती रहती है लगभग वैसी ही वाह्यमें शरीरादिकी क्रिया होती है, वहाँ जो इच्छा है सो राग है; जो ज्ञान किया, सो आत्मा है; और जो वाहरकी क्रिया है सो जड़का परिणमन है; इसप्रकार तीनों अलग हैं किन्तु अज्ञानी उन्हें अलग नहीं कर सकता, इसलिये वह यह मानता है कि सव कुछ अपनेसे ही होता है। मैं राग और शरीरसे अलग हूँ, ज्ञाता हूँ, ऐसी प्रतीतिके वलसे अपने आत्मस्वभावको अस्वभावसे अलग अनुभव करनेकी उस अज्ञानमें शक्ति नहीं है।

यहाँ यह कहते हैं कि चैतन्यस्वभाव अंतरंगमें प्रगट ही है, उसके वलसे ही इन्द्रियाँ अलग की जाती हैं। ज्ञान यह जानता है

कि मुझे अमुक शुभ या अशुभ भाव हुआ है, किन्तु वह यह नहीं जानता कि मैं स्वयं इस भावरूप हो गया हूँ, क्योंकि ज्ञान रागमें नहीं चला जाता। जो शुभ या अशुभ भाव होता है वह क्षणभरमें बदल जाता है और उसे जाननेवाला ज्ञान अलग ही रह जाता है। जहाँ अज्ञानी यह कहता है कि मैं शरीरसे ढँक गया हूँ और मुझे अपना स्वरूप ज्ञात नहीं होता, वहाँ यह किसने जाना कि मैं ढँक गया हूँ? जाननेवालेका ज्ञान प्रगट है या अप्रगट? अप्रगट तो जान नहीं सकता अतः जो प्रगट है उसीने जाना है। सच तो यह है कि चैतन्यस्वभाव कभी ढँकता ही नहीं है।

प्रश्नः—इसमें भगवानकी स्तुतिकी बात कहाँ है?

उत्तरः—स्तुतिका अर्थ यह है कि जिनकी स्तुति करना है उनी जैसा अंश अपनेमें स्वयं प्रगट करना। यहाँ यह कहा जा रहा है कि अपनेमें शुद्धताका अंश कैसे प्रगट हो। अन्तरंगमें प्रगट चैतन्यस्वभाव के अनुभवसे, यह जानना कि द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों और [illegible] परपदार्थोंसे मैं भिन्न हूँ, यह जितेन्द्रियता है तथा [illegible] है। आत्माका स्वरूप जाने बिना भगवानकी [illegible] जिस भावसे तीर्थंकर तरे हैं उस भावको [illegible] अपनेमें प्रगट करना सो सच्ची स्तुति है। [illegible] है किन्तु अभी पूर्णदशा प्रगट नहीं हुई है, [illegible] पूर्णदशा प्रगट होगई है ऐसे भगवानकी [illegible] जिसे स्वभावकी प्रतीति ही नहीं है [illegible] और जो स्वभावकी प्रतीति तथा [illegible] स्तुति करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती।

[illegible] मैं जाननेवाला हूँ, इसके [illegible] पदार्थोंसे भिन्न हूँ [illegible] भगवानकी सच्ची स्तुति है; [illegible]

परसे पृथक्त्वके ज्ञानके बिना, किसीके निश्चय स्तुति या व्यवहार स्तुति नही हो सकती। शुभरागको व्यवहार स्तुति नहीं कहा जासकता। अपने रागसे रहित स्वभावकी जो श्रद्धा और ज्ञान है सो भगवानकी निश्चयस्तुति है, और भगवानकी स्तुतिकी ओरका जो विकल्प पाया जाता है सो वह मेरा स्वरूप नहीं है, यदि ऐसी प्रतीति है तो उस विकल्पको व्यवहार स्तुति कहा जाता है। तू चैतन्य स्वरूप है, जड़ इन्द्रियों और उस ओरका क्षयोपशम ज्ञान तेरा स्वरूप नहीं है। अज्ञानी जीव परवस्तुमें सुख मानकर परपदार्थके राग और आकुलतासे प्रतिक्षण हत होरहा है। अज्ञानी जीवसे कहते हैं कि तू इन्द्रियोंमें और उनके विषयमें सुख मान रहा है, किन्तु तेरा सुख परमें नहीं है, फिर भी परमें सुख मानकर तू संसारमें परिभ्रमण कर रहा है। जड़ इन्द्रियोंमें या पुण्यके फलमें सुख नहीं है, और जो खण्ड-खण्ड रूप प्रगट ज्ञान है वह भी आत्माका स्वरूप नहीं है; वर्तमानमें पुण्यका फल जिसे मीठा लग रहा है ऐसे अज्ञानीके मनमें यह बात कैसे जमेगी? किन्तु तू अपूर्ण ज्ञान जितना नहीं है यह बताकर पृथक् ज्ञानस्वभावकी पहिचान कराते हैं। त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेवकी दिव्यवाणीसे भी तेरे स्वरूपका पूरा गुणगान नहीं होसकता, ऐसी तेरी प्रगट महिमा है, किन्तु स्वयं अपना विश्वास नहीं है। अज्ञानीको स्वरूपकी प्रतीति नहीं है इसलिये उसकी दृष्टि बाह्यमें है। वह बाह्यमें शारीरिक व्याधिको देख सकता है, और उसे दुःख मानता है, किन्तु अंतरंगमें स्वरूपकी अचेतदशासे पुण्य-पापकी व्याधिमें प्रतिक्षण भावमरण होरहा है सो उस अनन्त दुःखको अज्ञानी नहीं देख सकता। अन्तरंगमें ज्ञानस्वरूपको भूलकर जो आकुलता होती है सो वही दुःख है, अज्ञानीको उसकी खबर नहीं है; इसलिये यहाँ सच्ची स्तुतिका स्वरूप समझाते हुए कहते हैं कि हे भाई! तेरा ज्ञानस्वभाव अन्तरंगमें प्रगट है और इन जड़ इन्द्रियोंसे तथा रागसे भिन्न है। इसप्रकार परसे भिन्न अपने ज्ञान स्वरूपका जानना सो यही भगवानकी निश्चय स्तुतिका प्रारम्भ है।

सम्यक्दर्शनके द्वारा ज्ञानस्वभाव आत्माकी यथार्थ पहिचान करना ही निश्चयभक्ति है। निश्चयभक्तिका सम्बन्ध अपने आत्माके साथ है, किन्तु प्रथम संसारकी ओरके तीव्र अशुभरागसे छूटकर सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्रके परिचयपूर्वक उनके प्रति भक्तिका शुभराग होता है। सच्चे देव, गुरु, शास्त्रकी पहिचान और भक्तिका उल्लास हुए बिना किसीको अपने आत्माकी निश्चय भक्ति प्रगट नहीं होती; और देव-गुरु-शास्त्रके प्रति रागसे भी निश्चयभक्ति नहीं होती। निश्चयभक्तिका अर्थ है सम्यक्दर्शन, वह सम्यक्दर्शन कैसे प्रगट हो यह विचारणीय है।

पहले संसारकी रुचि और कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्रकी [illegible] अशुभ भावोंसे छूटकर सच्चे देव-गुरु-शास्त्रके प्रति होनेवाले [illegible] रागकी दिशाको बदलकर और फिर 'यह राग भी मेरा [illegible] है, मैं रागसे अलग ज्ञानस्वभाव हूँ परकी ओर [illegible] ज्ञान भी मेरा स्वरूप नहीं है' इसप्रकार [illegible] स्वभावकी प्रतीतिमें ले तब सम्यक्दर्शन प्रगट होता है, और [illegible] भगवानकी प्रथम निश्चयस्तुति है।

होता है यदि उसे न माने तो वह विकल्पको दूर करके स्वभावका लक्ष्य कैसे कर सकेगा ? यद्यपि उस शुभरागके द्वारा स्वभावका लक्ष्य नहीं होता परन्तु स्वभावका लक्ष्य करते हुए बीचमें शुभविकल्प आ जाता है। देव-गुरु-शास्त्रके प्रति शुभरागका जो विकल्प उठता है वह अभावरूप नहीं है, यदि उसे अभावरूप माने तो वह ज्ञान मिथ्या है, तथा यदि उस रागको सम्यक्दर्शनका कारण मान लिया जाये तो वह मान्यता (श्रद्धा) भी मिथ्या है। बीचमें शुभराग आता तो है किन्तु उसे जानकर भी सम्यक्दर्शनका कारण न माने तो वह प्रमाण है, अर्थात् ज्ञान और मान्यता दोनों सच हैं।

आत्माका स्वभाव अनन्त गुणस्वरूप निर्विकार है, और उसे जाननेवाला तथा श्रद्धामें लानेवाला सम्यक्दर्शन–सम्यक्ज्ञान भी विकार-रहित है। देव-गुरु-शास्त्र सम्बन्धी शुभ विकल्प भी राग है, विकार है। विकार करते-करते आत्माका निर्विकार स्वभाव कभी प्रगट नहीं हो सकता, क्योंकि कारणमें विकार हो तो उसका कार्य निर्विकार कभी भी नहीं हो सकता। कारण और कार्य एक ही जातिके होते हैं। यहाँ यह बताना है कि रागके द्वारा भगवानकी सच्ची स्तुति नहीं होती, किन्तु सम्यक्दर्शन-सम्यक्ज्ञानके द्वारा ही सच्ची स्तुति होती है। भगवान सम्पूर्ण वीतराग हैं, वीतरागकी स्तुति रागके द्वारा नहीं होसकती, किन्तु वीतरागभावसे ही होसकती है। सम्यक्दर्शन ही सर्वप्रथम स्तुति है, क्योंकि सम्यक्दर्शनके होने पर आंशिक वीतरागभाव प्रगट होते हैं। जितना वीतरागभाव प्रगट होता है, उतनी ही निश्चय स्तुति है, और जो राग शेष रह जाता है वह निश्चयस्तुति नहीं है।

यह बारम्बार कहा गया है कि शुभराग आत्माके निर्विकार स्वरूपके लिये सहायक नहीं है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि-शुभभाव भी पाप हैं, देव-गुरु-शास्त्रकी भक्ति–पूजा इत्यादिके भावोंसे पुण्य होता है, किन्तु यहाँ पुण्यभावको छोड़कर पापभाव करनेको नहीं कहा है। किसी जीवकी हिंसा चोरी इत्यादिका भाव करना सो

पाप है, और पर जीवकी दया, दान, सेवा इत्यादिकी जो भावना है सो लौकिक पुण्य है, एवं सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी पहिचान करके उनकी भक्ति इत्यादिके शुभभाव करना सो उसमें अलौकिक पुण्य है। वह पुण्य भी वास्तवमें धर्मका कारण नहीं है, किन्तु वह प्राथमिक दशामें आये बिना नहीं रहता। अपना स्वरूप उस शुभरागसे अलग है, जो यह जानता है वह जितेन्द्रिय अर्थात् सम्यक्दृष्टि है, और वही भगवानका सच्चा भक्त है।

अनादि अनन्त बन्ध पर्यायके वश होकर जिसमें समस्त निज परका विभाव अस्त होगया है (जो आत्माके साथ ऐसी एकमेक हो रही है कि भेद दिखाई नहीं देता) ऐसी शरीर परिणामको प्राप्त जो द्रव्येन्द्रियाँ हैं उन्हें अपनेसे अलग कर दिया है। उन्हें कैसे अलग किया है सो कहते हैं-निर्मल भेदाभ्यासकी प्रवीणतासे प्राप्त जो अन्तरंगमें प्रगट अति सूक्ष्म चैतन्यस्वभाव है, उसके अवलम्बनके बलसे अलग किया है।

अज्ञानीको 'अनादि अनन्तरूप बन्ध पर्याय [illegible] समझाई जा रही है। सम्यक्दर्शनसे पूर्व [illegible] समझा ही है कि मैं अनादि [illegible] हूँ और [illegible] बन्ध पर्याय हो रही है; मैं पहले मुक्त था [illegible] बात नहीं है, किन्तु वर्तमान अनादि [illegible] अपने आत्माको अलग करता [illegible] हूँ। [illegible] अलग हो सकता है। [illegible] भिन्नता कर सकता है, [illegible] (दोनोंको अलग करता [illegible]) [illegible] जो यह भेद [illegible] [illegible] भिन्न-भिन्न हैं [illegible] बार भी सम्यक्दर्शन [illegible] [illegible] है।

बन्धन अनादि कालसे है, किन्तु मेरा स्वरूप बन्धन स्वरूप नहीं है इसलिये बन्धन दूर हो सकता है,–इतना मानकर जीव बन्धनको दूर करनेका उपाय करनेके लिये आया है। जीवकी भूल तो अनादि-कालसे हो रही है, किन्तु यथार्थ समझके द्वारा उस भूलको जो नष्ट कर देता है उसकी बलिहारी है। 'बन्ध पर्यायके वश'का अर्थ यह है कि–मेरी पर्यायमें बन्धन है, उसके वशीभूत होकर भूल हुई है, अर्थात् मैंने बन्ध पर्यायको अपना मानकर भूल की है, किसी दूसरेने भूल नहीं कराई है, तथा किसी ईश्वरकी प्रेरणासे मैंने भूल नहीं की है। जो यह सब समझता है उसके व्यवहार शुद्धि होती है,-जब जीव इतना समझता है तब वह ग्रहीत मिथ्यात्वसे छूटकर सम्यक्-दर्शनको प्राप्त करनेके उपाय की ओर उन्मुख होता है, किन्तु अभी यहाँ तक सम्यक्दर्शन प्रगट नहीं हुआ है। अब यहाँ यह बताते हैं कि भेदज्ञान किस प्रकार करता है।

शरीर परिणामको प्राप्त जो इन्द्रियाँ हैं उन्हें चैतन्य स्वभावके अवलम्बनके बल द्वारा आत्मासे अलग कर दिया सो यह भेदज्ञान है। यहाँ 'शरीर परिणामको प्राप्त जो इन्द्रियाँ' इतना कहकर जड़वस्तु और उसका परिणमन दोनों सिद्ध किये हैं। चेतनसे भिन्न जो जड़-वस्तु है उसका अपना स्वतंत्र परिणमन है, वह स्वयं अपने परिणमनसे बदल कर इन्द्रियादिरूप होती है। चेतनका परिणमन और जड़का परिणमन अलग-अलग है। परमाणु स्वतंत्र वस्तु है, अभी जिन परमाणु-ओंकी शरीररूप अवस्था हुई है इससे पूर्व वे परमाणु दूसरी पर्यायके रूपमें थे। इसप्रकार परमाणु बदलते रहते हैं और वही परमाणु बदलकर इन्द्रियरूप हुए हैं, इसलिये इन्द्रियों और इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाला राग मिश्रित ज्ञान दोनों मेरा स्वरूप नहीं है, किन्तु एकरूप जो चैतन्य है सो मैं हूँ–इसप्रकार परिचय करके यदि इन्द्रिय सम्बन्धी रागको छोड़ दे तो उन परमाणुओंमें भी इन्द्रियरूप अवस्था बदलकर अलग हो जायेगी। तू अपने ज्ञानको इन्द्रियोंकी ओरसे खींच ले तो इन्द्रियोंके परमाणु

स्वयं दूसरी अवस्थारूपमें परिणमित हो जायेंगे। तू अपने ज्ञानको स्वोन्मुख कर तो इन्द्रियोंका निमित्तभाव भी छूट जायेगा। यह बात तो अभी सम्यक्दर्शनको प्रगट करनेके लिये है। इसप्रकार द्रव्येन्द्रियोंसे मेरा चैतन्यस्वभाव अलग है, ऐसे प्रवीण भेदज्ञानके अभ्याससे अपने चैतन्यस्वभावको इन्द्रियोंसे पृथक् अनुभव करना सो द्रव्येन्द्रियोंको जीतना है, और यही भगवानकी सच्ची स्तुति है।

इसप्रकार द्रव्येन्द्रियको जीतनेकी बात कहकर अब भावेन्द्रियको जीतनेकी बात कहते हैं। यद्यपि द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और उसके विषयभूत पर द्रव्योंको जीतना (उनसे भिन्नत्वका ज्ञान) एक ही साथ होता है, परन्तु यहाँ क्रमसे बात कही गई है। जहाँ अपने शुद्ध चैतन्य-स्वभावका निश्चय करके सम्यक्दर्शन प्रगट किया कि वहाँ उन तीनोंको अपनेसे अलग जान लिया है। इसमें पहले यह बताया गया है कि द्रव्येन्द्रियकी भिन्नता किस प्रकार है।

अब यहाँ यह बतलाते हैं कि—भावेन्द्रियका पृथक्त्व किसप्रकार है। 'भिन्न-भिन्न अपने अपने-अपने विषयोंमें व्यापारभावसे जो [illegible] रूपमें ग्रहण करती हैं (ज्ञानको खण्ड-खण्डरूप [illegible]) [illegible] भावेन्द्रियोंकी प्रतीतिमें आने पर अखण्ड एक चैतन्य [illegible] द्वारा अपनेसे अलग जानकर इन भावेन्द्रियोंका जीतना [illegible] इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जाता।

भावेन्द्रियका अर्थ है क्षयोपशम ज्ञान। [illegible] आत्मासे भिन्न है, क्योंकि वहाँ [illegible] [illegible] स्वभाव क्या है सो बतलाना है। आत्मा [illegible] है, उसकी वर्तमान अपूर्ण दशाको [illegible] क्षयोपशमवाला ज्ञान [illegible] जाननेमें प्रवृत्त होता है [illegible] [illegible] है; [illegible] साथ जाननेका [illegible]

जिसे स्वतंत्र आत्मस्वभाव प्रगट करना है, उसे सत् स्वरूपको पहिचानना होगा । सत् स्वरूपकी शरणके बिना असत्‌के मार्गसे स्वतंत्रता प्रगट नहीं होगी । आत्मा ज्ञाता स्वरूप है । शरीरादिक वस्तुएँ पर हैं, इन्द्रियाँ पर हैं । इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञात होनेवाले पर पदार्थ और उन पर पदार्थोंकी ओर होने वाली पुण्य-पापकी विकारी भावनाएँ,-सब आत्माके ज्ञानस्वभावसे भिन्न हैं । उनसे आत्महित होता है यह मानना ही मिथ्या दर्शन है । मिथ्या दर्शनका अर्थ है सत् स्वरूपका अनादर । यही अनन्त संसारका कारण है ।

यहाँ विचारणीय बात यह है कि ज्ञाता आत्मा और ज्ञेय पदार्थोंकी एकत्वबुद्धिका त्याग कैसे हो, और मिथ्या दृष्टिपन कैसे दूर हो ? मिथ्यादृष्टिपनके दूर हुए बिना व्रत-तप इत्यादि सच्चे हो ही नहीं सकते । धरतीके बिना वृक्ष कहाँ उगेंगे ? सम्यग्दर्शनके द्वारा वस्तुको जाने बिना व्रत तप या चारित्र पालन कहाँ करेगा ? जैसे धरतीके बिना वृक्ष नहीं होता इसी प्रकार सम्यग्दर्शनके बिना चारित्र-धर्म कदापि नहीं हो सकता । आत्माके निर्मल स्वभाव[illegible] प्रथम धर्म जीवकी धर्म-भूमिका है । आत्मा धर्मी है [illegible] शुद्ध पर्याय धर्म है । धर्मी वस्तुको पहिचाने बिना [illegible] आत्मप्रतीतिके बिना त्यागको [illegible] किन्तु आत्मधर्म नहीं हो सकता, [illegible] सच्ची स्तुति नहीं [illegible] प्रतीति कैसे हो सकती है ।

दशा है क्षणभरमें उस दशाको बदल कर सम्यक्त्व दशा प्रगट की जा सकती है। श्रद्धागुण त्रैकालिक है, वह नया प्रगट नहीं होता, तथा नष्ट भी नहीं होता। यदि सम्यक् श्रद्धा कहो तो वह श्रद्धा गुणकी निर्मल पर्याय है, जो कि नवीन प्रगट होता है। आत्मा वस्तु त्रिकाल है, उसके अनन्त गुण त्रिकाल हैं और इन गुणोंकी पर्याय नई नई हुआ करती है। यह द्रव्य-गुण-पर्यायका स्वरूप जैन दर्शनका मूल या जैन दर्शनकी इकाई है। यदि द्रव्य-गुण पर्यायका यथार्थ स्वरूप ध्यानमें ले तो यह स्वलक्षमें आ सकता है कि अपना ज्ञान इन्द्रियादिक पर पदार्थके अधीन नही है, किन्तु वह अपनी ओरसे ही प्रगट होता है किन्तु जो इन्द्रियोंके अवलम्बनसे या रागसे ज्ञानका होना मानते हैं वे द्रव्य, गुण, पर्यायके स्वरूपको ही नहीं जानते। सम्यक्दर्शन आत्मगुणकी पर्याय है जो कि आत्मामेंसे ही प्रगट होता है, वह किसी देव-गुरु-शास्त्रके आधारसे प्रगट नही होता।

आत्मा त्रिकाल वस्तु है। वस्तु गुणके बिना नहीं होती। आत्मामें अनन्त शक्ति विद्यमान है। शक्तिका अर्थ है गुण, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, कर्तृत्व, इत्यादि। अनन्त शक्तियाँ प्रत्येक आत्मामें विद्यमान है, यह अपनी त्रिकाल शक्तियाँ हैं किन्तु उनकी प्रतीतिमें अन्तर आनेसे यह संसार दशा होती है, और उस शक्तिकी यथार्थ प्रतीति होने पर मोक्ष दशा प्रगट होती है। यह संसार और मोक्ष दोनों पर्याय हैं, इनमेंसे मोक्ष दशा तो वर्तमानमें (समझनेके लिये आने वाले जीवके) है नहीं, वर्तमान विकार दशा है, इसलिये भेदज्ञान कराते हैं कि विकार आत्माका स्वरूप नहीं है, आत्माका स्वरूप ज्ञान है, और ज्ञान विकारसे भिन्न है, विकार दोष है, इसलिये विकार आत्माका स्वरूप नहीं और विकारकी ओर जाता हुआ ज्ञान भी आत्माका स्वरूप नहीं है, इस प्रकार आत्माके अखण्ड ज्ञानस्वरूपको परसे और विकारसे भिन्न अनुभव करना ही सम्यक्दर्शन है और यही तीर्थंकर केवली भगवानका पहला स्तवन है।

परसे और विकारसे भिन्न आत्मतत्त्व अविनाशी है; उसके गुण भी अविनाशी हैं, उसमें ऐसी विपरीत मान्यता करना कि 'परसे मुझे ज्ञान होता है, देव-गुरु-शास्त्र मेरा हित कर देंगे' सो मिथ्यात्व दशा है और वह मिथ्यात्व दशा मेरा स्वरूप नहीं है. परसे मेरा ज्ञान भिन्न है, किसी पर द्रव्यसे मुझे हानि या लाभ नहीं है.' ऐसी अपने ज्ञान स्वरूपमें आत्माकी जो यथार्थ मान्यता है सो सम्यक्त्व दशा है। वस्तु और गुण त्रिकाल हैं, बन्ध और मोक्ष अवस्थायें हैं। मोक्ष दशा नवीन प्रगट होती है, किन्तु गुण नवीन प्रगट नहीं होता यदि द्रव्य गुण न हो तो वे नवीन प्रगट नहीं होते, और जो द्रव्य गुण है वे कभी नष्ट नहीं होते. मात्र उनकी अवस्था प्रतिक्षण बदलती रहती है। यदि पर्यायमें स्वभावको भूलकर परमें दृष्टि करे तो वह विपरीत दृष्टि है, और विपरीत दृष्टिमें विकारी दशा होती है। यदि पर्यायको स्वोन्मुख करके स्वभावकी दृष्टि करे तो सीधी दृष्टि या द्रव्यदृष्टि है. उस दृष्टिमें निर्विकार दशा होती है। मान्यता की विकारी दशा ही संसारका मूल है उस विकारी मान्यताको छोड़कर सच्ची मान्यता करना ही मोक्षका कारण है, आत्मार्थीके लिये पर वस्तुके ग्रहण या त्यागकी मान्यता नहीं होती, किन्तु विपरीत मान्यताका ही त्याग करना होता है। स्वभावकी एकाग्रताके द्वारा [illegible] संसारका त्याग और मुक्त दशाकी [illegible] है।

दोनोंको भलीभांति जानता है। मैं परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव हूँ, किंचित् मात्र भी अपूर्ण स्वभाव नहीं है और वर्तमान पर्याय अपूर्ण है, इस प्रकार ज्ञानमें दोनोंको जाननेके बाद, पूर्ण स्वभावकी श्रद्धाके बलसे ज्ञान अपूर्ण दशाका निषेध करता है, और स्वभावकी एकाग्रताके द्वारा अपूर्ण दशाको दूर करके पूर्णता प्रगट करता है। इसमें श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र तीनोंका समावेश हो जाता है। इसका नाम भगवानकी स्तुति है। इसे समझे विना किसीके सच्ची स्तुति नहीं हो सकती। अज्ञानी जन मात्र स्तोत्र-पाठ पढ़ जानेको ही स्तुति मानते हैं, और समझसे तो विल्कुल काम ही नहीं लेते–ऐसे लोगोंके सच्ची स्तुति नहीं हो सकती। स्तुति करने वाला आत्मा है या जड़? भाषा और शब्द तो जड़ हैं, तब क्या जड़के द्वारा स्तुति हो सकती है? स्तुति करने वाला आत्मा है, और आत्माकी जो शुद्ध पर्याय है वही आत्माकी स्तुति है।

जो पहले द्रव्य गुण और पर्यायको यथावत् नहीं जानता वह जैन नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु वह जैन व्यवहार तक भी नहीं पहुँच सका है। यदि अपूर्ण पर्यायको ही नहीं मानेगा तो उस अपूर्णताको कौन दूर करेगा? अपूर्ण पर्यायको स्वीकार करनेके वाद इससे भी आगेको जाना है, कि अपूर्ण अवस्थाको स्वीकार कर लेनेसे भी धर्मीपन नहीं आता। यहाँ यह बताया है कि भावेन्द्रिय आत्माका स्वरूप नहीं है अर्थात् जो समझनेके योग्य हो गया है उस जीवको भावेन्द्रिय (अपूर्ण ज्ञान) को तो खबर है, किन्तु वह सम्पूर्ण स्वभाव और अपूर्ण दशाके बीच भेद नहीं कर सका, उसे अब भेदज्ञान करवा कर ज्ञेय-ज्ञायक संकर दोष दूर करते हैं।

मैं तो अखण्ड एक चैतन्य स्वभाव हूँ, अखण्ड ज्ञान मेरा स्वरूप नहीं है, इस प्रकार जो मानता है सो धर्मो-जितेन्द्रिय है। जो जीव अपूर्णताको मानता ही नहीं वह पर्यायको ही स्वीकार नहीं करता, ऐसे जीवकी यहाँ वात ही नहीं है, अर्थात् वह तो तीव्र मिथ्या दृष्टि है। जो

अपूर्ण दशाको स्वीकार करता है किन्तु उसीको पूर्ण स्वरूप मान बैठा है, वह भी मिथ्या दृष्टि है। उसने व्यवहारको स्वीकार किया है, किन्तु परमार्थको नहीं माना।

अब यहाँ परमार्थको स्पष्ट करते हैं। प्रतीतिमें आने पर 'अखण्ड एक चैतन्य शक्तिके द्वारा (भावेन्द्रियको) अपनेसे भिन्न जाना' -ऐसा जो कहा है सो उसमें प्रतीतिमें लाने वाला जो अखण्ड एक चैतन्यस्वभाव है वह परमार्थ है-निश्चय है, और भावेन्द्रियोंको अपनेसे भिन्न जाना—इसमें जानने वाली पर्याय व्यवहार है। यहाँ प्रत्येक गाथामें निश्चय-व्यवहारकी संधि पाई जाती है। यह [illegible] रचना है कि प्रत्येक गाथामें निश्चय और व्यवहार [illegible] बादमें व्यवहारको उड़ा दिया है। जो निश्चय [illegible] नू है, जो कि अंगीकार करने योग्य है, किन्तु जो व्यवहार [illegible] सो वह तेरा स्वरूप नहीं है और वह आदरणीय नहीं है, [illegible] विवेक जाग्रत किया है।

इसमें त्रिकाल स्वभाव और वर्तमान [illegible] आ गया है। मैं अखण्ड एक रूप चैतन्य [illegible] प्रतीति करना और अपूर्ण [illegible] सो सम्यक्‌दर्शन है। यही भावेन्द्रियविजय है [illegible]

यदि आत्माकी पर्यायमें भूल [illegible] अवसर ही कहाँ रहा? इसलिये जो भूल [illegible] यही बात नहीं है, किन्तु जो भूलको [illegible] है, उसे भूलको दूर [illegible] स्वीकार [illegible] [illegible]

का बल प्रगट हो गया है वह सम्यक् दृष्टि है, और इसीको भगवान स्वरूप अपनी आत्माकी स्तुति प्रारंभ हुई है।

सम्पूर्ण वस्तुकी प्रतीति करने वाला जीव श्रद्धामें विकारसे अलग हो गया है। मैं शरीर-मन-वाणी नहीं हूँ, पुण्य-पाप नहीं हूँ और अपूर्ण ज्ञानदशा भी मेरा स्वरूप नहीं है; मैं तो अखण्ड एक रूप पूर्ण स्वरूप हूँ,-इस प्रकार सम्पूर्ण वस्तुकी प्रतीति करने पर विकारके अनुभवसे अलग हुआ सो यही सम्यक्दर्शन, इसीमें भगवानकी सच्ची स्तुति है। यद्यपि आत्माकी अवस्था अपूर्ण है किन्तु शक्ति स्वभावसे आत्म-त्रिकाल पूर्ण है, केवलज्ञान, केवलदर्शन अनंतसुख और अनंत-वीर्यकी वाटिकाका फल (समूह) तो आत्मा ही है। आत्माके स्वभाव-मेंसे ही केवलज्ञान और केवल दर्शनादिक प्रगट होते हैं, कहीं बाहर-से नहीं आते। केवलज्ञानादिको प्रगट करनेकी शक्तिका कन्द तो भीतर ही पड़ा है, किन्तु स्वभाव शक्तिके प्रतीतिरूप पोषणके अभाव-से केवलज्ञान रुका हुआ है; जहाँ पूर्ण स्वभावका प्रतीतिरूप पोषण मिला कि वहाँ केवल ज्ञानादि रूप फल प्रगट होजाता है। मात्र श्रद्धा-के अभावसे ही पर्याय रुक रही है। जगतको बाहरकी श्रद्धा जमी हुई है, वह पुण्यकी-विकारकी श्रद्धा करता है, किन्तु अंतरंगमें जो केवलज्ञान स्वभाव विद्यमान है उसकी श्रद्धा नहीं करता; यही संसारका कारण है।

जगतके लोग यह विश्वास तो कर लेते हैं कि मोरके छोटे-से अंडेमेंसे रंग-बिरंगे पंखों वाला तीन हाथ मोर निकलेगा किन्तु इस अखण्डानन्द आत्माके स्वभावके प्रतीति रूप अंडेमेंसे केवलज्ञान रूपी मोर प्रगट होता है इस स्वभाव-महिमाकी प्रतीति नहीं होती, और श्रद्धामें यह स्वभाव भाव नहीं जमता। स्वभावकी प्रतीतिके द्वारा सम्यक् श्रद्धा होती है और स्वभावकी स्थिरताके द्वारा वीत-रागता तथा केवलज्ञान होता है; वह केवलज्ञान बाह्य अवलम्बनसे नहीं आता किन्तु अंतरंग स्वभावसे ही प्रगट होता है। अखण्ड स्वभाव-

की प्रतीतिके बलसे स्वाश्रयसे गुणकी पूर्ण परिणति प्रगट होती है। सम्यक्‌दर्शन और केवलज्ञानके प्रगट होनेमें अपूर्ण ज्ञानका अवलम्बन भी नहीं है खण्ड-खण्ड ज्ञानके आश्रयसे सम्यक्‌दर्शन या केवलज्ञान नहीं होता, इसलिये यहाँ यह कहा है कि खण्ड-खण्ड रूप ज्ञान अर्थात् भावेन्द्रिय आत्माके स्वभावसे भिन्न है।

ज्ञान तो आत्माका स्वभाव है, स्वभावके कारण ज्ञानकी अपूर्ण अवस्था नहीं होती। अपूर्णता पर निमित्तमें युक्त होनेसे होती है, इसलिये वह अपूर्ण ज्ञान आत्माका स्वरूप नहीं है, आत्माका स्वरूप सम्पूर्ण जानना है; पूर्ण ज्ञानस्वभाव त्रिकाल है-इसप्रकार पूर्णकी श्रद्धाके बलसे केवलज्ञान प्रगट होता है, किन्तु यहाँ केवलज्ञान प्रगट होनेसे पूर्व पूर्ण स्वभावकी सच्ची श्रद्धा और ज्ञान करनेकी बात कह रहे हैं। जिसे पूर्ण स्वरूपकी श्रद्धा ही नहीं है, वह पूर्णदशा [illegible] कहाँसे? क्योंकि 'मूलं नास्ति कुतोशाखा' अर्थात् जहाँ मूल ही नहीं है-[illegible] नहीं है, वहाँ वृक्ष कहाँसे होगा। इसी प्रकार [illegible] व्यक्ति कहे कि मैंने बहुत कुछ धर्म किया है तो [illegible] मिथ्या है, क्योंकि सम्यक्‌दर्शन-ज्ञान रूपी बीजके बिना [illegible] केवलज्ञानरूपी वृक्ष कहाँसे आयेंगे? [illegible] उसके वृक्ष अंकुरित होकर कुछ ही समयमें [illegible] अवश्य उत्पन्न होंगे। इसलिये जैन धर्म सर्व प्रथम [illegible] पर भार देता है। जो अपूर्ण अवस्थाको [illegible] मान लेता है, वह आत्माके पूर्ण स्वरूपकी [illegible] जिसने यह माना है कि-अपूर्ण अवस्थासे [illegible] है, वह भावेन्द्रियको जीतता है, [illegible]

यहाँ ज्ञानकी अपूर्ण [illegible] नहीं है, किन्तु ज्ञानकी सम्पूर्ण [illegible] हो [illegible] त्रिकाल परिपूर्ण स्वभावके [illegible]

अपूर्ण दशा मेरा स्वरूप नहीं है,-जो अपूर्णता है सो मैं नहीं हूँ, किन्तु मैं अखण्ड चैतन्य मूर्ति हूँ । इस प्रकार स्वभावकी ओर लक्ष करने पर पर्यायका लक्ष छूट जाता है, उसमें 'भावेन्द्रियको अलग कर दिया' ऐसा कहा जाता है । अर्थात् दृष्टिकी अपेक्षासे अपना स्वरूप भावेन्द्रियसे भिन्न है, यह प्रतीतिमें लिया सो जितेन्द्रियता है, और यही भगवानकी सच्ची स्तुति है । इस प्रकार द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रियसे आत्माकी भिन्नता बताने वाली बात कही है ।

अब यहाँ इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंसे आत्माकी भिन्नता बतलाते हैं,-ग्राह्य ग्राहक लक्षण वाले सम्बन्धकी निकटताके कारण जो अपने संवेदनके साथ परस्पर एकसे हुए दिखाई देते हैं, ऐसे भावेन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये जाने वाले जो इन्द्रियोंके विषयभूत स्पर्शादिक पदार्थ हैं, उन्हें, अपनी चैतन्यशक्तिकी स्वयमेव अनुभवमें आने वाली जो असंगति है, उसके द्वारा अपनेसे सर्वथा भिन्न किया, सो यह इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंका जीतना हुआ । इसका विस्तृत विवेचन यहाँ किया जा रहा है ।

बाद उन देव-गुरु-शास्त्र या रागादिके साथ आत्माका कैसा सम्बन्ध है, सो कहते हैं।

आत्मा और समस्त पदार्थोंका ग्राह्य ग्राहक लक्षण वाला सम्बन्ध अर्थात् ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है। पंचेन्द्रियोंके विषयोंकी ओरका जो लक्ष है, सो शुभ या अशुभ राग है। देव-गुरु-शास्त्र शुभरागके निमित्त हैं, और स्त्री-पुत्र-लक्ष्मी इत्यादि अशुभ रागके निमित्त हैं। शुभ या अशुभ किसी भी प्रकारका राग इन्द्रिय-विषयोंके लक्षसे ही होता है, स्वभावके विषयमें किसी प्रकारका राग नहीं होता; इसलिये देव-गुरु-शास्त्र तथा स्त्री-पुत्र-लक्ष्मी इत्यादिके लक्ष होने वाला शुभाशुभराग भी परमार्थसे तो ज्ञेयमें ही जाता है। आत्माके ज्ञान स्वभावके लक्षसे राग नहीं होता, इसलिये आत्माके स्वरूपमें राग नहीं है, और इसलिये राग ज्ञेय पदार्थमें जाता है, तथा ज्ञानस्वभाव उसे जानने वाला है; इस प्रकार ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है।

देव-गुरु-शास्त्र और रागादिके साथ आत्माका [illegible] सम्बन्ध है, आत्मा उन सबको जाननेवाला है और वे सब [illegible] हैं, वहाँ उन्हें जानते हुए यदि वह माने कि यह राग [illegible] तो वह मिथ्यादृष्टि है। राग ज्ञानमें [illegible]

ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धकी निकटताके कारण [illegible] पदार्थ एकसे दिखाई देते हैं, किन्तु एक नहीं है [illegible] ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धकी निकटता बतलाते हैं [illegible] प्रस्तुत हो वैसा ही आत्मामें ज्ञान होता है, और [illegible] वैसा ही प्रस्तुत ज्ञेय होता है। [illegible]

किन्तु स्वतः जानता है। ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धकी निकटता उस भूलका कारण नहीं है, किन्तु ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धको कर्त्ता-कर्म रूपसे मान लेता है, यही विपरीत मान्यता है, और यह मान्यता ही विकारका मूल है। यदि ज्ञेय पदार्थोंके साथ निकट सम्बन्ध भूलका कारण हो तो केवली भगवानको बहुत सी भूलें होनी चाहियें क्योंकि वे सभी ज्ञेयोंको जानते हैं; ज्ञानमें जो वस्तु ज्ञात होती है वह भूलका कारण नहीं है। ज्ञानमें अधिक वस्तुएँ ज्ञात हों या थोड़ी वह आत्माके चैतन्यस्वभावकी घोषणा है। उस समय 'मैं आत्मा तो जाननेवाला हूँ, राग करनेवाला नहीं हूँ, परके कारण मेरा ज्ञान नहीं होता' इसप्रकार अपनी स्वाधीनताकी श्रद्धा करने की जगह वह मान ले कि 'पर वस्तुके कारण अपना ज्ञान हुआ है और [illegible] परवस्तु ज्ञात हुई इसलिये राग हुआ है, अर्थात् मेरा ज्ञान ही [illegible] है' तो यही भूल है। ज्ञेयका लक्ष करते हुए [illegible] ही भूल जाता है, और इसलिये ज्ञेय [illegible] एकत्व भासित होता है। किन्तु ज्ञेयोंको जानते [illegible] सबसे भिन्न ही है' इसप्रकार ज्ञानस्वभाव [illegible] लेगा, तो वही इन्द्रियोंके विषयोंको [illegible] भिन्न ज्ञायकस्वभावकी प्रतीति की है, उसने [illegible] रहनेवाले राग-द्वेष भी [illegible] राग-द्वेष होता है सो उसे वह जान लेता है। [illegible] नहीं मानता यही भगवानकी [illegible]

हे भाई! तुझे धर्म करना है [illegible] और पर कौन है, ऐसे स्व-परके [illegible] क्या करेगा? पहले पर पदार्थोंसे [illegible] समस्त परपदार्थोंसे मेरा स्वरूप भिन्न है [illegible] परवस्तुकी दृष्टि दूर होकर स्वभाव[illegible] दूर हो गया। [illegible]

मानता है कि–मेरा ज्ञान परके आधारसे प्रगट होता है, वह देव-गुरु-शास्त्रके कथनको नहीं मानता ।

'ज्ञान अमुक इन्द्रियोंके विषयमें लग गया है' ऐसा कहा जाता है, वहाँ विषय जड़ नहीं किन्तु राग है; परवस्तुमें ज्ञान नहीं रुकता, किन्तु परवस्तुको जानने पर स्वयं रागभाव करके रागमें अटक जाता है। जाननेमें राग करके अटक जाना ही विषय है । स्व विषयका लक्ष छोड़कर परमें लक्षका जाना ही विषय है । ज्ञानकी एकता आत्माके साथ करनेकी जगह पर लक्षमें ज्ञानकी एकता हुई सो यही विषय है। राग और रागका निमित्त पर वस्तु-दोनोंको एक करके उसे 'इन्द्रिय विषय' कहकर आत्मासे अलग कहा है । एक ओर मात्र ज्ञानस्वभाव रखा है, दूसरी ओर सब ज्ञेयमें अन्तर्हित कर दिया; इसप्रकार दृष्टिके द्वारा दो भेद ही कर डाले हैं । शुभ या अशुभ किसी भी प्रकारका राग, और उस रागके निमित्त आदि सबसे मैं अलग ज्ञाता ही हूँ ऐसे असंग स्वरूपका ज्ञान करना ही इन्द्रियोंके विषयभूत स्पर्शादिक पदार्थोंको जीतना है ।

यहाँ 'इन्द्रियोंके विषयभूत स्पर्शादिक पदार्थ' कहा है, इसलिये किसीको प्रश्न उठ सकता है कि–स्पर्शादिक तो गुण है, तब उन्हें पदार्थ क्यों कहा है ? उसका समाधान यह है कि–यद्यपि स्पर्शादिक गुण हैं, किन्तु गुण–गुणीके अभिन्न होनेसे स्पर्शादिक गुणके जानने पर वस्तु ही साथ ही साथ ज्ञात हो जाती है, इस अपेक्षासे यहाँ स्पर्शादिको पदार्थ कहकर गुण और वस्तुकी अभिन्नतासे कथन किया है। और फिर यहाँ स्पर्शादि कहनेका यह भी आशय है कि यहाँ इन्द्रियोंके विषयका वर्णन है । इन्द्रियोंके द्वारा परमाणु ज्ञात नहीं होता, तथा स्पर्श रस, गंध, वर्ण यह सभी गुण एक साथ ज्ञात नहीं होते, किन्तु स्पर्शादि एक गुण ही ज्ञात होता है, इसलिये यहाँ स्पर्शादिक पदार्थ' कहा है

इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंकी ओर लक्ष करने पर रागका अनुभव होता है, किन्तु यह प्रतीतिमें लेने पर कि मेरा ज्ञान विषयों-

से भिन्न है-चैतन्यकी असंगता स्वयमेव अनुभवमें आती है, वहाँ राग-को या इन्द्रियोंकी आवश्यकता नहीं होती। ज्ञान स्वयं ही अनुभवमें आता है। ज्ञानके समय पर वस्तुयें भले ही विद्यमान हों किन्तु उन वस्तुओंके आधारसे ज्ञानका विकास नहीं हुआ है, ज्ञानका विकास तो मात्र ज्ञानस्वभावके ही आधारसे होता है। चैतन्यका ज्ञान रागमें या परमें नहीं मिल जाता, इसलिये वह असंग है। ज्ञान परके आधारसे तो होता ही नहीं, किन्तु वास्तवमें ज्ञान अपना ज्ञान दशाको ही जानता है, परको नहीं जानता. ज्ञानके द्वारा स्वयमेव ज्ञानका अनुभव करने पर परपदार्थ ज्ञात हो जाते हैं।

पर पदार्थोंसे ज्ञानकी भिन्नता ही है, इस प्रकार स्वसंवेद्य (ज्ञान आत्माके) अनुभवमें आने वाली जो असंगता है [illegible] द्वारा इन्द्रियोंके विषयभूत पर द्रव्योंकी [illegible] असंग चैतन्य स्वभावका अनुभव [illegible] लक्ष छूट जाता है, उसीका जितेन्द्रियपना कहा है। [illegible] स्वरूप और इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंकी [illegible] असंगताकी जिसको खबर [illegible] और चैतन्यकी असंगताकी श्रद्धाके द्वारा [illegible] संकर दोषका परिहार होता है; [illegible] सच्ची स्तुति है।

लाभ होता है ऐसी मान्यता छोड़कर अपने स्वभावमें एकाग्रता करना सो उसका लाभ इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंको जीतना अथवा सम्यक्दर्शन है, और यही भगवानकी सच्ची स्तुति है।

प्रश्नः—इसमें कहीं भी भगवानका तो नाम ही नहीं आता और मात्र आत्मा ही आत्माकी वात है, तव फिर इसे भगवानकी स्तुति कैसे कहते हो?

उत्तरः—यहाँ भगवानकी निश्चय स्तुतिकी वात है। निश्चयसे तो जैसा भगवानका आत्मा है वैसा ही स्वयं है, इसलिये निश्चयमें आत्माकी ही वात आती है। परकी स्तुति (भगवानका लक्ष) निश्चय स्तुति नहीं है, किन्तु शुभराग है। अपने पूर्ण स्वभावकी प्रतीति करना ही भगवानकी निश्चय स्तुति है,-यही आत्मधर्म है। अपने लिये तो स्वयं ही भगवान है, इसलिये निश्चयसे जो अपनी स्तुति है सो वही भगवानकी स्तुति है। भगवानमें और अपनेमें निश्चयसे कोई भी अन्तर माने तो वह भगवानकी स्तुति नहीं कर सकता। दृष्टिमें असंग चैतन्य स्वरूपकी स्तुति की सो वह जितेन्द्रिय हो गया। अपने अलग स्वरूपकी दृष्टि करने पर सभी पर पदार्थोंको और विकारको अपनेसे पृथक् जानना ही जितेन्द्रियता है। यहाँ टीकामें द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय और इन्द्रियोंके विषयभूत पर पदार्थोंको जीतने की वात क्रमशः की गई है, परन्तु उसमें कोई क्रम नहीं होता। जहाँ अपने स्वभावकी ओर उन्मुख हुआ कि वहाँ तीनोंका जीतना एक ही साथ होता है। यहाँ जीतनेका अर्थ उन पदार्थोंका दूर ढकेल देना नहीं है, और न उन पर द्रव्योंमें कोई परिवर्तन ही करना है, किन्तु अपना लक्ष अपनी ओर करके उन्हें लक्षमेंसे दूर करना है। उन सवकी ओरके लक्षको छोड़कर स्वभावका लक्ष किया सो यही उनका जीतना है।

द्रव्येन्द्रियोंसे खण्ड-खण्ड रूप ज्ञानसे या ज्ञेय पदार्थोंसे आत्माका सम्यक्दर्शनादि कार्य कर सकता है। ऐसी मान्यतामें ज्ञेय ज्ञायक

संकर दोष है, स्व-परकी एकत्व मान्यता है, और यही मिथ्यात्व है, किन्तु उस ओरसे लक्षको छोड़कर स्व लक्षसे उस स्व-परके एकत्वकी मान्यताको छोड़ देने पर संकर दोष दूर हुआ और सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ। परन्तु यदि इन्द्रियोंसे ज्ञान माने या विकल्पसे अथवा पर वस्तुसे ज्ञान माने तो उसका ज्ञान कभी भी वहाँसे हटे ही नहीं; किन्तु मेरा ज्ञान स्वतंत्र है, जड़ इन्द्रियोंकी, विकल्पकी या पर वस्तुकी मेरे ज्ञानमें नास्ति है,—यदि इसे समझ ले तो ज्ञानस्वभावमें लक्ष करे और उन परसे ज्ञानका लक्ष हटा ले।

यहाँ द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय और इन्द्रियोंके विषयभूत पर पदार्थोंसे ज्ञानस्वभाव अलग है, यह बात तीन प्रकारसे भेद करके कही है, किन्तु वास्तवमें तीनोंमें एक हीका समझाना है कि—जैसा जो लक्ष परकी ओर जाता है, उसे अपनी ओर ला। जब तेरा लक्ष अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभावसे हटा है तब वह जड़ इन्द्रियों पर गया है, और जब जड़ इन्द्रियोंकी ओर लक्ष गया तब ज्ञानमें भेद [illegible] उत्पन्न हुई है, और भावेन्द्रियोंके द्वारा [illegible] ही जानता है,—इसलिये इन तीनोंका भिन्न करके [illegible] लक्ष बताया है।

कर, (अज्ञानदशामें) जो ज्ञेय ज्ञायक संकर नामक दोष आता था वह सब दूर होनेसे एकत्वमें टंकोत्कीर्ण और ज्ञानस्वभावके द्वारा सर्व अन्य द्रव्योंसे परमार्थत: भिन्न अपने आत्माका अनुभव करता है, वह निश्चयसे जितेन्द्रिय जिन है।"   (श्री समयसार-गुजराती, पृष्ठ ५७)

यहाँ आचार्यदेवने सम्यक्‌दृष्टिको निश्चयमें जिन कहा है। जिन्हें सम्यक्‌दर्शन हुआ है वे अल्पकालमें ही अवश्य जिन होंगे। जिन्होंने जिनेन्द्रदेवकी भाँति ही अपने आत्म-स्वभावको पहिचान कर उसकी प्रतीति कर ली है, वे 'जिन' हो गये हैं। सम्यक्‌दृष्टिको अनेक स्थान पर शास्त्रोंमें जिन कहा है। अरे ! जगतको सम्यक्‌दर्शनकी महिमा ज्ञात नहीं है। सम्यक्‌दर्शनने तो सम्पूर्ण पूर्णानन्दी द्रव्यको प्रतीतिमें समाविष्ट कर लिया है। सम्पूर्ण द्रव्यको प्रतीतिमें लिया कि फिर पूर्ण दशा अलग हो ही नहीं सकती।

आत्माका एक रूप स्वाभाविक चैतन्य स्वभाव होने पर भी, पहले अज्ञान दशाके कारण अनेक रूपसे खण्ड-खण्ड रूप मानता था, किन्तु जहाँ सच्चे ज्ञानके द्वारा स्वभावको प्रतीतिमें लिया कि वहाँ परके साथ एकत्वबुद्धि दूर हो गई और खण्ड-भेद रहित एकत्व स्वरूपमें स्थित टंकोत्कीर्ण एकाकार स्वभाव अनुभवमें आ गया, ऐसा अनुभव करने वाला जितेन्द्रिय जिन है।

प्रश्न:—यहाँ सिद्ध पर्यायका स्वरूप बताया जा रहा है ?

उत्तर:—सिद्ध पर्यायका स्वरूप नहीं किन्तु अखण्ड द्रव्यका स्वरूप बताया जा रहा है। सिद्ध तो एक पर्याय है और यहाँ ऐसी अनन्त पर्यायोंसे अखण्ड द्रव्य बताया जाता है, इस द्रव्यमेंसे ही सिद्ध दशा प्रगट होती है। यहाँ पर्यायका लक्ष छुड़ाकर स्वभावका लक्ष करनेको कहा गया है, क्योंकि अखण्ड द्रव्य स्वभावको लक्षमें लेना ही धर्म है। अखण्ड एकरूप चैतन्य स्वभावकी प्रतीतिमें परकी ओरका लक्ष ही नहीं है, आत्माकी सम्पूर्ण चैतन्य शक्ति अन्तर्मुख

होनेकी शक्तिसे युक्त है, वह शक्ति इन्द्रियादिक बाह्य सामग्री-की हीनतासे हीन नहीं होती। स्वयं स्वभावकी रुचि करके अपूर्ण ज्ञानको अपनी ओर करे तो कोई पर द्रव्य उसे नहीं अटकाते। यहाँ जो पर लक्षसे अवस्थाके खण्ड होते हैं, उन्हें उड़ा दिया है।—एक ओर सम्पूर्ण ज्ञान मूर्ति अखण्ड आत्माको रखकर इन्द्रियों, खण्डरूप ज्ञान और पर वस्तुओंको आत्मासे अलगरूपमें बताया है। इस प्रकार परका, विकल्पका, और पर्यायका लक्ष हटाकर एकरूप अखण्ड स्वभावकी प्रतीति करना ही ईश्वरका साक्षात्कार है, वही सम्यग्-दर्शन है वही निश्चय स्तुति है, और वही प्रथम धर्म है।

अवस्थामें अपूर्ण ज्ञान हो यदि वह परकी ओर जावे तो आत्माको नहीं जान सकता, तथा जो ज्ञान [illegible] वह आत्माका स्वरूप नहीं है। अवस्थामें अल्प ज्ञान हो [illegible] वह सामान्य स्वभावकी ओर ढले तो वह [illegible] स्वभावकी ओरका हुआ। जितना ज्ञान [illegible] गया उतना ज्ञान तो आत्माके साथ [illegible] अखण्ड है और जो ज्ञान परकी ओर [illegible] है; उस खण्ड खण्ड ज्ञानको यहाँ [illegible] क्योंकि यहाँ सम्यग्दर्शनकी [illegible] मात्र आत्माकी बात की गई है। [illegible] स्वभाव पर है, [illegible] [illegible] है। [illegible]

का विषय अभिन्न है, उसमें विशेष पर्यायका ग्रहण नहीं है। दर्शनमें तो सामान्य परिपूर्ण ही आता है। जब दर्शन सामान्य स्वभावको निश्चित करता है तब पर्यायको गौण करके ज्ञान स्वोन्मुख होकर सम्यक् होता है, और वह सम्यक् ज्ञान सामान्य विशेष दोनोंको जानता है।

अखण्ड आत्मस्वभावकी ओर उन्मुख होने वाले-चतुर्थ गुण-स्थानवर्ती सम्यक् दृष्टिको यहां जितेन्द्रिय 'जिन' कहा है। राग और अपूर्णतासे रहित पूर्ण स्वरूपको दृष्टिमें लिया है और पर्यायकी अशक्तिसे अल्प राग-द्वेष होता है, उसे अपना नहीं मानता, इसलिये दृष्टिकी अपेक्षासे वह (सम्यक् दृष्टि) जिन है। आत्मा परसे भिन्न मात्र ज्ञाता-दृष्टा है, ऐसे स्वभावकी स्वाश्रित दृष्टिके द्वारा ज्ञानको स्वोन्मुख करके जिसने परके आश्रयको जीत लिया है (ज्ञानमेंसे पराश्रयको छोड़ दिया है) वही जिन है। ज्ञानमेंसे पराश्रयताको छोड़ दिया या उसे अस्वीकार कर दिया सो इससे अपूर्णताका भी निषेध होगया। क्योंकि ज्ञानमें जो अपूर्णता थी वह पराश्रयसे थी। स्वभावके आश्रयसे अपूर्णता नहीं है। ऐसी प्रतीति करनेके बाद अल्प अस्थिरताके कारण जो राग रह गया उसका ज्ञाता हो गया है। पहले अज्ञान दशामें विकार जितना ही अपना स्वरूप मानकर स्वयं पर वस्तुसे विजित हो जाता था, जब विकार रहित अपने त्रिकाल स्वभावकी प्रतीतिके द्वारा विकारसे अलग हो गया है, अर्थात् पृथक् ज्ञानस्वभावके द्वारा इन्द्रियोंकी विषयभूत पर वस्तुको जीत लिया है, इसलिये वह वास्तवमें जितेन्द्रिय जिन है।

'ज्ञानस्वभाव अन्य अचेतन द्रव्योंमें नहीं है इसलिये उसे लेकर आत्मा सर्वाधिक है, अलग ही है। जड़ पंचेन्द्रियोंकी हीनता होनेसे आत्माके ज्ञानकी हीनता मानने वाला जड़ बुद्धि है। पंचेन्द्रियाँ तो अचेतन हैं, उनसे आत्माका ज्ञान नहीं होता, किन्तु यहाँ आचार्यदेव यह बतलाते हैं कि पंचेन्द्रियोंके निमित्तसे होने वाला खण्ड-खण्ड

बाह्योन्मुख रहता था किन्तु अब यह ज्ञान सदा अन्तरोन्मुख रहनेवाला है, अपनेको जाननेमें प्रत्यक्ष उद्योतमान है। इन्द्रियज्ञान सदा बाहरका ही जानता था, किन्तु यह स्वभावोन्मुख ज्ञान सदा अंतरंगमें प्रकाशमान है।

आत्माका ज्ञानस्वभाव सदा अविनश्वर और स्वतःसिद्ध है। ज्ञानस्वभाव नया नहीं, किन्तु त्रिकाल स्वतःसिद्ध है। ज्ञान किसी पर पदार्थके कारणसे नहीं किन्तु वह आत्माका स्वतःसिद्ध स्वभाव है, वह अविनश्वर होनेसे कभी नष्ट नहीं होता, त्रिकाल जैसाका तैसा रहता है। यहाँ पर्याय नहीं बतानी है, क्योंकि पर्याय तो क्षणिक है, मोक्षमार्गकी पर्याय भी नाशवान है, यहाँ पर्यायको गौण रखकर त्रिकाल ज्ञानस्वभाव सामान्यतया सिद्ध करना है, इसलिये उसे अविनश्वर कहा है। ऐसा जो भगवान ज्ञानस्वभाव है वही परमार्थ स्वरूप है। मात्र ज्ञाता स्वभाव इसके सिवा नहीं [illegible] ज्ञाता स्वभाव परमार्थ स्वरूप है।

स्वभाव ही भगवान है, और उसकी स्तुति-एकाग्रता ही भगवानकी निश्चय स्तुति है, यही सच्चा धर्म है ।

आत्माकी परिचय युक्त इस एक निश्चय स्तुतिमें सामायिक, स्तुति वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान-यह छहों क्रियाएँ समाविष्ट हो जाती हैं ।

सामायिक-अपने ज्ञानस्वभावकी एकाग्रता होने पर ऐसा विषय भाव छूट गया कि पुण्य अच्छा और पाप खराव है, और स्वभावसे उनका इसप्रकार ज्ञाता रह गया कि पुण्य-पाप दोनों मेरा स्वरूप नहीं हैं; यही सच्ची सामायिक है ।

स्तुति-पहले परपदार्थमें एकाग्रता करके ज्ञानस्वभावको भूल जाता था, और अव ज्ञानस्वभावकी एकाग्रता की सो यही सच्ची स्तुति है । इसीमें अनन्त-केवली-सिद्ध भगवन्तोंकी स्तुति आ जाती है।

वंदना-पहले विकारसे लाभ मानकर विकारकी ओर झुक जाता था, उसकी जगह अव विकारसे पृथक स्वरूप जानकर स्वोन्मुख हो गया सो यही सच्ची वन्दना है । इसमें अनन्त तीर्थंकरोंकी वन्दनाका समावेश हो जाता है ।

प्रतिक्रमण-पहले शुभरागसे आत्माका लाभ मानता था और ज्ञानको पराधीन मानता था, उसमें ज्ञानस्वभाव भगवानका अनादर और मिथ्यात्वके महापापका सेवन होता था, किन्तु अव सच्ची पहिचान कर ली कि- मेरा ज्ञान परके कारणसे नहीं होता, और शुभ रागसे मुझे धर्म नहीं होता, इस प्रकार यथार्थ समझपूर्वक मिथ्यात्वके महापापसे हटकर लौट आया सो यही सच्चा प्रतिक्रमण है । सच्ची समझ होने पर प्रतिक्षण असत्के अनंत पापसे दूर हट गया है ।

प्रत्याख्यान—पहले विपरीत समझसे यह मानता था कि मैं पर पदार्थोंका कुछ कर सकता हूं और परपदार्थोंसे तथा पुण्यसे मुझे लाभ होता है । और इस प्रकार अनन्त परद्रव्योंका तथा विकारका

स्वामित्व मानता था, वह महा अप्रत्याख्यान था, अब ऐसी यथार्थ समझ होने पर कि न तो मैं किसीका कुछ करता हूँ, और न पर पदार्थ मेरा कुछ कर सकते हैं, तथा पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है,— अनन्त पर द्रव्य और विकारका स्वामित्व छूट गया है, सो यही सच्चा प्रत्याख्यान है ।

कायोत्सर्ग-पहले शरीरकी समस्त क्रियाओंका कर्ता बनता था और अब यह समझ गया कि मैं तो ज्ञाता हूँ, शरीरकी एक भी क्रिया मेरे द्वारा नहीं होती, शरीरकी किसी भी क्रियामें मुझे [illegible] नहीं होता । इसप्रकार शरीरसे उदास होकर मात्र ज्ञाता रह गया सो यही कायोत्सर्ग है । इसप्रकार छहों आवश्यक [illegible] स्तुतिमें आ जाती हैं, और यह निश्चय स्तुति [illegible] परसे तथा विकारसे भिन्न ज्ञान स्वरूप शुद्धात्माकी [illegible] है । ऐसी सच्ची समझ वाले सम्यक् दृष्टि [illegible] नन्दन है ॥ ३१ ॥

किन्तु उसके अनुसार जिसे राग होता है वह यह मानता है कि ओ-हो! आजका कितना अच्छा स्वाद है। आज खानेमें कैसा आनन्द आया? किन्तु उसे यह खबर नहीं है कि मैं रागादिमें रुक गया हूँ। देखो तो सही, अज्ञानी जीव आत्मामें आनन्द न मानकर खाने-पीनेमें और परवस्तुमें आनन्द मानता है! और जो यह मानता है, वह प्रकारान्तरसे अपने आत्माको सर्वथा निर्माल्य मानता है, और पर पदार्थको महत्व मानता है। यह खीर, पूरी, आमका रस इत्यादि ज्ञानमें ज्ञात होते हैं, किन्तु उस रसको खाते समय जीभ पर रखा सो जीभ तो जड़ है, और खीर पूरी तथा आमरस इत्यादि भी जड़ हैं। उन्हें जीभ पर रखकर और चबाकर जिस पेटमें उतारा वह पेट भी जड़ है, तब फिर वह स्वाद तेरे भीतर कौन सी जगह पर-आता है? उस जड़की पर्याय आत्मामें त्रिकालमें भी नहीं आ सकती, किन्तु अज्ञानी जीव मूढ़ होकर यह मानता है कि मुझे पर-पदार्थसे स्वाद मिला है; यह उसका अज्ञान है। चावल यह नहीं कहते कि–तू राग कर, किन्तु अज्ञानी रागमें लग जाता है।

जिसे यह प्रतीति है कि मैं स्व-पर प्रकाशक हूँ, चावलके स्वाद-का ज्ञाता हूँ, चावलकी पर्याय तीन काल और तीन लोकमें मुझमें नहीं आती, चावल और चावलकी पर्याय चावलमें ही है, वह चावलकी पर्याय-का ज्ञान करने वाला–ज्ञायक है। आत्माने स्वयं अनादि कालसे जो भूल की है कि मैं आनन्द नहीं हूँ, मैं ज्ञान नहीं हूँ, किन्तु मैं रागी हूँ, द्वेषी हूँ, ऐसी भूलका निमित्त पाकर जो कर्मबन्ध हुआ है उस रजकणमें जब पाक आता है, तब एक क्षेत्रमें एक स्थान पर उदयरूप होकर भावकरूपसे प्रगट होता है, जो कर्मका फल आया है, तदनुसार जिसकी प्रवृत्ति है वह मोहकर्मका बन्ध करता है। कर्म कहीं राग-द्वेष, काम–भोग नहीं कराते। जैसे चावल पककर तैयार होते हैं तब वे यह नहीं कहते कि तुम मेरे स्वादमें लग जाओ और राग करो, इसी प्रकार जब कर्म पककर फल देने आते हैं तब

वे यह नहीं कहते कि तुम मेरे स्वादमें लग जाओ और राग करो; कर्म तो मात्र विद्यमान रूपमें, फल रूपमें–विपाक रूपमें आते हैं। वे यह नहीं कहते कि तुम मुझमें अटक जाओ; किन्तु तदनुसार जिसकी प्रकृति है, ऐसा जो अपना भाव्य आत्मा है सो (भाव्यका अर्थ है कर्मानुसार होने योग्य आत्माकी अवस्था) जो कर्मका उदय भावक रूपसे प्रगट होता है तदनुसार जो विपरीत पुरुषार्थके द्वारा राग-द्वेष किया करता है, वह मोहकर्मको बांधता है।

भावक अर्थात् मोहकर्म, जो फलरूपसे प्रगट हुआ है; तदनुसार राग-द्वेषकी भावनारूप जो आत्माकी अवस्था हुई सो भाव्य है; उसे भेदज्ञानके बलसे दूरसे ही छोड़ दिया। वहाँ दूरसे ही [illegible] यह निश्चित करता है कि उसमें किञ्चित् मात्र भी नहीं [illegible] मैं परिपूर्ण चैतन्य भगवान हूँ, मुझमें सच्चिदानन्द [illegible] नहीं है [illegible] मुझे कोई पर पदार्थ सहायक नहीं है, [illegible] अपने आत्मामें राग होनेसे पूर्व ही आत्माको [illegible] तिरस्कार करता है।

बलपूर्वक मोहका तिरस्कार किया कि [illegible] पदार्थका मैं कर्ता-हर्ता नहीं हूँ, [illegible] भी शुभाशुभभाव मुझे सुखरूप या सहायक नहीं हैं [illegible] पूर्वक मोहका तिरस्कार करके [illegible] किया है। यहाँ आचार्यदेवने बलपूर्वक [illegible] पुरुषार्थ बताया है। मैं ज्ञायकज्योति [illegible] निराकुल हूँ। मुझे देव-गुरु-शास्त्र [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] हुआ [illegible]

हुआ। [illegible]

[illegible]

नहीं मिला, इसीप्रकार [illegible] नहीं मिला, और आत्मामें स्थिर हो गया, [illegible] हो गई। पहले [illegible] उनको अलग किया है और यहां पर्यायको अलग किया है। [illegible] को अलग करने पर भी पर्यायमें मलिनता होती थी, इसलिये पर्यायको [illegible] करके पर्यायमें जितने क्रोध, मान, राग-द्वेषादि होते थे उनसे अलग होकर [illegible] स्थिर अवस्था की। जो कर्मोंका फल हुआ उसका [illegible] ही नहीं किन्तु पर्यायमें भी आदर नहीं है, अर्थात् अस्थिर होने पर भी आदर नहीं है। भावक अर्थात् मोहकर्म और उसमें [illegible] आत्माकी जो अवस्था है सो भाव्य है। उससे अलग होकर आत्मामें स्थिर हुआ, मोहका तिरस्कार किया। अभी यहाँ मोहका तिरस्कार किया है, परन्तु मोहका नाश नहीं किया है, अर्थात् यहाँ उपशम श्रेणीकी बात है; जैसे अग्निको राखसे ढँक देते हैं, उसी प्रकार यहाँ मोहको ढँक दिया है, किन्तु उसका समूल नाश नहीं किया है। यह द्वितीय कक्षाकी मध्यम भक्ति है।

प्रथम सम्यक्दर्शन होने पर यह प्रतीति हुई कि-शरीरादिक ही नहीं किन्तु जो शुभाशुभ भावनाएँ उद्‌भूत होती हैं वह भी मैं नहीं हूँ। मैं ऐसा स्वतंत्र स्वभाव वाला हूँ,-जहाँ ऐसी श्रद्धा हुई वहाँ धर्मका प्रारम्भ होता है। मार्गको देखा, आत्मा जागृत हो गया, किन्तु पुरुषार्थकी मन्दतासे कर्मानुसार अस्थिरताकी जो अवस्था होती थी

उसे मानें, किन्तु आत्मा स्वयं ही सदा जानने वाला प्रत्यक्ष है। यह सब कुछ जो दृष्टिसे दिखाई देता है, उसे जानने वाला प्रत्यक्ष होगा या अप्रत्यक्ष ? यदि जानने वाला तू नहीं है तो कौन जानता है ? और जो ज्ञात होता है सो किसके आधारसे होता है ? जड़को भान नही होता, जड़ कुछ नहीं जानता, इसलिये जाननेवाला आत्मा स्वयं ही सदा प्रत्यक्ष है। अपनी चैतन्यशक्ति सदा प्रगट प्रत्यक्ष है। सूर्योदय होता है और अस्त होजाता है, किन्तु भगवान आत्मा तो सदा अंतरंगमें प्रकाशमान जागृत ज्योतिकी भाँति विराजमान है, ऐसे आत्माका जो अनुभव करता है, उसने भगवान और गुरुकी सच्ची निश्चय-स्तुति की है।

वह आत्मा अविनाशी है। पुण्य-पापके विकारीभाव और पुण्य-पापके फलरूप बाह्य संयोग, सब क्षणिक और नाशवान हैं, क्षणभरमें बदल जाते हैं, और अध्रुव स्वभाव हैं। इसके विपरीत ज्ञानानन्द आत्मा त्रिकाल स्थायी-ध्रुव और शाश्वत है उसका कभी नाश नहीं होता ऐसा अविनाशी है।

भगवान आत्मा स्वयं स्वतः ही सिद्ध और परमार्थरूप ज्ञान-स्वभाव है। मैं स्वयं सिद्ध हूँ, मैं अपनेसे ही सिद्ध हुआ हूँ, मुझे सिद्ध करनेमें-मेरी सिद्धि करनेमें कोई शरीर, मन, वाणी आदि परपदार्थकी आवश्यक्ता नहीं होती। परमार्थरूप भगवान आत्मा स्वतः सिद्ध है, उसे सिद्ध करनेके लिये-निश्चित करनेके लिये पुण्यका-रागका या परसंयोगका अवलम्बन नही लेना पड़ता।

परमार्थरूप भगवान आत्मा ज्ञानस्वभाव है। आत्माकी ज्ञानसे पहिचान कराई है। जैसे गुड़की मिठासके द्वारा पहिचान कराई जाती है, इसीप्रकार आत्माकी ज्ञानगुणसे पहिचान कराई गई है। कर्मके उदयमें राग-द्वेषसे युक्त होकर जो अस्थिर होता था वह अपने ज्ञानस्वभावको पहिचानकर स्थिर हुआ, अर्थात् उस भाव्य-भावक संकर-दोषको दूर करके दूसरी निश्चय-स्तुति की है। मेरी महिमा ऐसी है कि जो सर्वज्ञके मुखसे भी नहीं कही जा सकती;

नहीं है। जब पूर्वभवसे माताके उदरमें आया तब तैजस और कार्मण-दो शरीर साथ लेकर आया था। यह स्थूल शरीर तो माताके उदरमें आनेके बाद बना है। पूर्व भवका नाम कर्म लेकर आया था इसलिये माताके उदरमें शरीरकी रचना हुई, और फिर बाहर आया: तत्पश्चात् दूध, दाल, भात, रोटी, शाक इत्यादिसे इतना बड़ा शरीर हुआ। यह शरीर सदा स्थायी वस्तु नहीं है, किन्तु अमुक समय तक रहने वाली वस्तु है। इसी प्रकार राग-द्वेष विकार भी अमुक समय तक रहने वाले है, सदा स्थायी नहीं है। इसलिये ज्ञानी समझता है कि-न तो यह शरीर ही मेरा है और न राग-द्वेष ही, तथा मेरे आत्माकी निन्दा-स्तुति कोई नहीं कर सकता, शरीरादिक और [illegible] कोई भी व्यक्ति आत्माकी निन्दा-स्तुति नहीं कर सकता, [illegible] प्रतीति है, और विशेष स्थिरता है, इसलिये [illegible] जाय तो भी उसे कुछ नहीं लगता, और [illegible] भगवानकी द्वितीय [illegible] भक्ति है।

जैसे यदि रूपको देखकर अस्थिरताकी ओर झुकाव होता हो तो उसे दूर करके स्थिर होना चाहिये, उसीप्रकार यदि कोई शब्द सुनकर अस्थिरता होती हो तो दूर करके स्थिर होना चाहिये। इसी प्रकार स्पर्शन, रसना और घ्राणके सम्बन्धमें भी समझ लेना चाहिये।

राग-द्वेषको भेदज्ञानके बलसे अलग करके अपनेमें स्थिर होकर उपशांत किया है, नष्ट नहीं किया। पूर्वोक्त ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्य द्रव्यसे अधिक आत्मानुभव करनेसे जितमोह जिन हो गया। यहाँ यह आशय है कि श्रेणीके चढ़ने पर जिसके अनुभवमें मोहका उदय न रहे, और जो अपने बलसे उपशमादि करके आत्माका अनुभव करता है, वह जितमोह है। यहाँ मोहको दबा दिया है, नष्ट नहीं किया। यह भगवानकी द्वितीय कक्षाकी निश्चय-स्तुति है।

भगवानकी स्तुति अपने आत्माके साथ सम्बन्ध रखती है, पर भगवानके साथ सम्बन्ध नहीं रखती। सन्मुख विद्यमान भगवानकी ओर जो परोन्मुख भाव है सो शुभभाव है, उससे पुण्यबन्ध होता है, धर्म नहीं। स्त्री-पुत्रादिकी ओर जाने वाला भाव अशुभभाव है। उस अशुभभावको दूर करनेके लिये भगवानकी ओर शुभभावसे युक्त होता है, किन्तु आत्मा क्या है-और धर्मका सम्बन्ध मेरे आत्माके साथ है, यह न जाने, न माने तो उसे भगवानकी सच्ची स्तुति या भक्ति नहीं हो सकती। जो इस पचरंगी दुनियामें अच्छा शरीर अच्छे खान-पान और अच्छे रहन-सहनमें रचा पचा रहता है उसे यह धर्म कहाँसे समझमें आ सकता है? ॥ ३२ ॥

तीसरी स्तुति भाव्य-भावक भावके अभावरूप निश्चय-स्तुति है, उसे आचार्यदेव समझाते हैं; जो उस स्वरूपको समझ लेता है उसे तत्काल ही ऐसी स्थिरता नहीं हो जाती; किन्तु यहाँ यह समझाते हैं कि निश्चय-स्तुति और भक्तिका यह स्वरूप है।

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ॥३३॥

जितमोहस्य तु यदा क्षीणो मोहो भवेत्साधोः ।
तदा खलु क्षीणमोहो भण्यते स निश्चयविद्भिः ॥३३॥

अर्थः—जिसने मोहको जीत लिया है ऐसे साधुके जब मोह क्षीण होकर सत्तामेंसे नष्ट होता है तब निश्चयके जानने वाले उस साधुको निश्चयसे 'क्षीणमोह' इस नामसे पुकारते हैं।

अज्ञानी अर्थात् अनादिकालसे अज्ञान और [illegible] अपना माननेवाले जीवसे कहते हैं कि हे भाई ! [illegible] सम्बन्ध तेरे साथ है, परके साथ नहीं है। तू [illegible] सम्बन्धको परके साथ मानता हो, देव-गुरु-[illegible] धर्मके सम्बन्धरूपसे मानता हो तो यह [illegible] समझाते हैं।

द्वितीय कक्षाकी स्तुतिमें बताया है कि मोहमें एकमेक नहीं हुआ किन्तु दूरसे ही लौट आया, अर्थात् मोहका तिरस्कार कर दिया, और इस प्रकार मोहका उपशम कर दिया है।

तीसरी कक्षामें मोहका क्षय किया है।

इसप्रकार यह जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्तुति कही है।

अपने आत्माकी उत्कृष्ट शुद्ध-निर्मलभावकी भावनाका अर्थ है आन्तरिक एकाग्रता। निर्विकल्प स्वभावमें स्थिर हुआ, मात्र शुद्ध वीतराग स्वभावमें एकाग्रता करनेमें लग गया, और उसका भली-भाँति ऐसा अवलम्बन किया कि दो घड़ीमें ही केवलज्ञान प्राप्त हो जाये, ऐसी यह उत्कृष्ट भक्ति है।

यहाँ ऐसा स्वतंत्र स्वभाव बताया है कि कोई परपदार्थ कुछ कर नहीं देता। जब तेरा ही आत्मा स्वरूपकी जागृतिके द्वारा प्रयत्न करे और जब मोहका क्षय करे तभी मोह क्षय होता है, उसे कोई परपदार्थ या व्यक्ति नहीं कर सकता, ऐसा स्वतंत्र स्वरूप बताया है। बत्तीसवीं गाथामें 'दूसरेमें मिले बिना' और 'तिरस्कार करके' ऐसा कहा गया है, किन्तु यह नहीं कहा गया है कि स्वभावभावकी भावनाका भली-भाँति अवलम्बन किया है। यहाँ तेतीसवीं गाथामें स्वभावभावकी भावनाका भली-भाँति अवलम्बन करनेकी बात है, अर्थात् स्थिरताकी ऐसी जमावट की है कि मोहका एक अंश भी न रहे।

जड़को अपनी खबर नहीं है। उसकी खबर करनेवाला प्रत्यक्ष उद्योतमान जागृतज्योति, चैतन्यप्रभु ज्ञायक स्वभाव है। उसका भली-भाँति अवलम्बन करनेसे मोह ऐसा नष्ट हो जाता है कि फिर वह प्रगट नहीं होता। यदि अग्निको राखसे दबा दिया जाये तो वह पुनः प्रगट हो सकती, है किन्तु यदि नष्ट कर दिया जाये तो वह प्रगट नहीं हो सकती। इसीप्रकार मोहको दबा दिया जाये तो वह पुनः प्रगट हो जाता है, यदि उसे नष्ट कर दिया जाये तो वह फिर प्रगट नहीं

हो सकता । ज्ञानस्वरूप परमात्मामें ऐसा स्थिर हो कि अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्राप्त हो जावे । जो इसप्रकार मोहका क्षय करता है वह क्षीणमोह जिन कहलाता है। यह बारहवें गुणस्थानकी बात है, तथापि सर्वथा अप्रतिबुद्धको समझा रहे हैं ।

परमात्माको प्राप्त हुआ अर्थात् बारहवें गुणस्थानमें [illegible] हुआ, अपनेमें युक्त हो गया सो वह निश्चय-भक्ति या निश्चय-स्तुति है । यहाँ तो अभी परमात्माकी भक्ति और स्तुति है । तेरहवें गुणस्थानमें स्तुतिका फल है, क्योंकि वहाँ सम्पूर्ण परमात्मा हो जाता है ।

यहाँ भी जैसा कि पहले कहा गया है उसी प्रकार [illegible] किया और द्वेषका क्षय कर दिया; इत्यादि सभी बातें ले लेनी चाहिये ।

स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्मांगयोः ॥ २७ ॥

अर्थः—शरीर और आत्मामें व्यवहारनयसे एकत्व है किन्तु निश्चयनयसे एकत्व नहीं है, इसलिये,शरीरके स्तवनसे आत्मा-पुरुषका स्तवन व्यवहारनयसे हुआ कहलाता है, निश्चयनयसे नहीं। निश्चयसे तो चैतन्यके स्तवनसे ही चैतन्यका स्तवन होता है। वह चैतन्यका स्तवन यहाँ जितेन्द्रिय, जितमोह, क्षीणमोह इत्यादि (उपरोक्त) प्रकारसे होता है। अज्ञानीने तीर्थंकरके स्तवनका जो प्रश्न किया था उसका इस प्रकार नयविभागसे उत्तर दिया है; उस उत्तरके बलसे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा और शरीरमें निश्चयसे एकत्व नहीं है।

शरीर और आत्मा एक ही स्थान पर रहते हैं, इतना सम्बन्ध व्यवहारसे है, निश्चयसे नहीं; शरीरके स्तवनसे व्यवहारसे स्तवन होता है। उससे पुण्यबन्ध होता है, किन्तु वह आत्माका धर्म नहीं है। चैतन्यका स्तवन चैतन्यसे ही होता है। चैतन्यमूर्ति—परसे भिन्न स्वभावमें एकाग्र होना ही निश्चय स्तवन है। केवली भगवानके शरीरकी ओर लक्ष जाये या उनके आत्माकी ओर लक्ष जाये किन्तु दोनों व्यवहार-स्तुति हैं। उनसे पुण्यबन्ध होता है, किन्तु आत्माका धर्म नहीं होता।

अपने स्वरूपमें एकाग्र होना भी व्यवहार है, क्योंकि परमार्थ ध्रुव स्वरूप अखण्ड आत्मा ही परमार्थ अर्थात् निश्चय है, किन्तु यहाँ तो पराश्रयको छुड़ाकर स्वाश्रयकी अपेक्षासे स्वमें एकाग्र होनेको निश्चय कहा है। वैसे तो परमार्थ ध्रुवस्वरूप आत्मा ही परमार्थ है। आत्माकी ओरका भाव आत्माकी मूक भक्ति और स्तुति है। पराश्रयके विना आत्मामें एकाग्र होना सो मूक भक्ति है, धर्म है, और आत्माका स्वभाव है। भक्तिमें बोलनेका भाव हो सो विकल्प है, किन्तु स्वरूपमें एकाग्र होनेका दूसरा नाम मूक भक्ति है।